आस्था और सौन्दर्य

(साहित्यिक निबन्ध संग्रह)

डॉ० रामविलास शर्मा

किताब महल [होलसेल डिविजन] प्राइवेट लिमि

रजिस्टर्ड आफिस :—५६ ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

कलकत्ता • बम्बई • दिल्ली • जयपुर • हैदराबाद • पटना

भूमिका
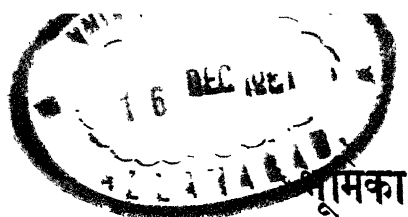
कुछ दिन हुए "हंस" के सम्पादकों ने पत्र का प्रकाशन पुनः आरंभ करते हुए अपनी विज्ञप्ति में कहा था, "प्रायः सभी सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक मान-मूल्य आज टूटने और बनने की प्रक्रिया में हैं।" "हंस" में लिखने का निमंत्रण देते हुए श्री बालकृष्ण राव ने अपने ११ जून १९५६ के पत्र में लिखा था, "कुंठाओं और कटुताओं की घुटन में, पुरानी मान्यताओं के ध्वंसावशेष के बीच खड़ा हुआ आज का साहित्यकार किसके सहारे, किसके लिये लिख रहा है?"

प्रस्तुत निबन्ध संग्रह में आस्था और कुंठा, मूल्यों के विघटन और निर्माण की समस्याओं का विवेचन किया गया है। जो लोग समझते हैं कि साहित्यकार का मुख्य दर्शन संदेहवाद होना चाहिये, उसे किसी मूल्य में आस्था न रखनी चाहिये, वे यथार्थ-जगत् की सत्ता को भी अस्वीकार करते हैं और इस प्रकार मानव संस्कृति के अर्जित मूल्यों को ठुकराने के लिये एक दार्शनिक तर्क ढूँढ़ लाते हैं। प्रथम निबन्ध "यथार्थ-जगत् और साहित्य" में संदेहवादी और अज्ञेयवादी दृष्टिकोण का खंडन करते हुए यथार्थ जगत् और साहित्य के अभिन्न संबन्ध की पुष्टि की गई है। कलाकार जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वह समाज-निरपेक्ष किसी व्यक्ति की कल्पना की उपज नहीं है वरन् सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास से उसका घनिष्ठ संबन्ध होता है। कलात्मक सौन्दर्य आर्थिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब नहीं है; समाजतंत्र से उसका संबन्ध पेचीदा है। इस संबन्ध की व्याख्या दूसरे निबन्ध में है। तीसरे निबन्ध में यूनानी आलोचक लोंगिनुस की उदात्त-संबन्धी विचारधारा की चर्चा, भारतीय काव्यशास्त्र की रमणीयता से उसकी तुलना, उच्च सामाजिक जीवन और श्रेष्ठ कृतित्व के संबन्ध का उल्लेख है। लोंगिनुस के समय में भी अनेक अनास्थावादी लेखक कुंठा और घुटन का साहित्य रचने लगे थे। लोंगिनुस ने उनकी तीव्र आलोचना की है जो हमारी पीढ़ी

के लेखकों के लिये शिक्षाप्रद होगी। चौथे निबंध में भाववादी दार्शनिक हेगल द्वारा कलाओं के वर्गीकरण, माध्यम के अनुसार उनकी श्रेष्ठता, निकृष्टता निश्चित करने के प्रयास और बहुमुखी कलात्मक जीवन और सांस्कृतिक विकास की आवश्यकता का विवेचन किया गया है। इस प्रकार इन चार निबन्धों में आस्था और सौन्दर्य, यथार्थ-जगत् और साहित्य के संबन्ध की सैद्धान्तिक व्याख्या की गई है।

इसके बाद के सात निबन्धों में अनेक साहित्यकारों की कृतियों का विश्लेषण करके उन नैतिक मूल्यों की ओर ध्यान दिलाया गया है जिनके बिना उनका साहित्य अपना स्थायी कलात्मक सौन्दर्य न प्राप्त कर सकता। कालिदास और शेक्सपियर जैसे विश्वप्रसिद्ध साहित्यकार इन नैतिक मूल्यों से परे नहीं हैं; उनका काव्य-सौन्दर्य सामाजिक जीवन से तटस्थ रह कर नहीं रचा गया। प्रेमचंद ने नये युग में पुराने मानवतावाद को नये स्तर पर विकसित किया। आज का हिन्दी कथा-साहित्य बहुत कुछ प्रेमचंद की परंपरा को अपना कर आगे बढ़ रहा है।

चार निबंधों में (बारह से पंद्रह तक) अनास्थावादी साहित्य का खंडन है। इस तरह का साहित्य रचने वाले हिन्दी के अनेक कवि हैं जिन्हें निराला और प्रसाद का साहित्य बचकाना लगता है जो अपने साहित्य की परंपरा से विच्छिन्न होकर मौलिकता के नाम पर पाश्चात्य साहित्य की पतनशील धाराओं से अपना संबन्ध जोड़ते हैं। इन्हीं में ज़िवागो उपन्यास के लेखक पस्तेरनाक हैं जो अपने देश की साहित्यिक विरासतको वैसे ही ठुकरा चुके हैं जैसे हिन्दी के कुंठावादी कवि छायावादी काव्य को ठुकराते हैं। अंतिम तीन निबन्धों में आज के भारतीय साहित्य और हिन्दी कविता के विकास की मुख्य दिशा की ओर संकेत है। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने जो शहीद संस्मरण प्रकाशित कराये हैं, वे साहित्यकारों के लिये भी प्रेरणादायक हैं। इन संस्मरणों में हम देखते हैं कि हमारे देश के वीरों ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर देश के भविष्य में, विश्व-मानवता और भारतीय जनता की शक्ति में अपनी आस्था प्रमाणित की थी। ऐसे देश में कुंठा और अनास्था के लिये जगह नहीं है।

अनास्था, कुंठा और घुटन की भावधारा क्षणिक है। इसका आधार हमारे सामाजिक जीवन में कम है, विदेश की सांस्कृतिक धाराओं में अधिक है। इसलिये हमें विश्वास है कि हिन्दी साहित्य की भागीरथी इस कर्दम को बहाकर एक ओर फेंक देगी और अपने गौरवशाली इतिहास के अनुरूप ही जीवनदायी निर्मल जल से भरी हुई प्रवाहित होगी। आशा है, वर्तमान साहित्य की गतिविधि से रुचि रखने वाले पाठकों को आस्था और अनास्था के महत्वपूर्ण प्रश्न से संबन्धित इस संग्रह में यत्किंचित् विचारणीय सामग्री प्राप्त होगी।

आगरा

रामविलास शर्मा

सूची

पद्धति से पता लगा लिया जाय। किन्तु जब वह कण लहर भी है, तब स्थिति का पता कैसे लगे ?

साथ ही यथार्थ जगत् में हस्तक्षेप किये बिना उसे जानना सम्भव नहीं होता और हस्तक्षेप करते ही उसकी यथार्थता दूषित हो जाती है। इस सम्बन्ध में मौरिस कौर्नफोर्थ आदि मार्क्सवादी विचारकों का कहना है कि पुरानी नाप-जोख की पद्धति से यह कठिनाई उत्पन्न होती है। इससे परिणाम यह नहीं निकलता कि हम यथार्थ जगत् को जान नहीं सकते वरन् यह निकलता है कि उसे जानने की पुरानी पद्धति बदलना आवश्यक है। (देखिये मार्क्सिस्ट क्वार्टरली, जुलाई १६५४ में आर्थर सडैबी और मौरिस कौर्नफोर्थ का लेख "क्वाण्टम भौतिक-शास्त्र की दार्शनिक समस्याएँ।")

बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे दार्शनिक दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य तार्किक विश्लेषण समझते हैं। उनके लिये सारे भ्रमों की जड़ भाषा का असंगत प्रयोग है। इस भ्रम को दूर करने का परिणाम यह होता है कि संसार ही भ्रम सिद्ध हो जाता है। विशुद्ध चेतना का अनुसन्धान करने वाले अनेक दार्शनिक बाह्य जगत् के अस्तित्व से इन्कार करते हैं।

लोग बात करते हैं अस्तित्ववाद की लेकिन इन्कार करते हैं बाह्य जगत् के अस्तित्व से। अस्तित्ववाद को प्रभावित करने वाले किर्कगार्ड का कहना था, "सत्य केवल आत्मगत होता है" ("Truth is subjectivity")। इस प्रकार वस्तुगत सत्य को अस्वीकार कर दिया गया। फिलिप मैरे जैसे अस्तित्ववादी नीत्शे को भी अस्तित्ववादी मानते हैं। "नीत्शे किर्कगार्ड के बारे में कुछ न जानता था किन्तु व्यक्ति की चिन्ता, निर्णय और भावना पर बल देने के कारण वह अस्तित्ववादी था।" नीत्शे के इस अस्तित्ववाद ने जर्मनी में युद्धकामी शक्तियों को प्रोत्साहन दिया जिससे दो बार विश्व-युद्ध हुआ। विश्व-युद्ध के मूल कारण आर्थिक और राजनीतिक थे। इन कारणों का ही एक परिणाम नीत्शे का व्यक्तिवाद था जिसने युद्ध-प्रचार में सहायता दी।

बीसवीं सदी के पूँजीवाद का विकृत दर्शन व्यक्तिवाद पर निर्भर है। साधारणतः वह मानवप्रगति का विरोध करता है; विशेष परिस्थितियों में वह युद्ध-प्रचार में सहायक भी हो जाता है।

कैथलिक और नास्तिक, दोनों प्रकार के अस्तित्ववादियों का सामान्य गुण बतलाते हुए सार्त्र ने लिखा है, "उनका विश्वास है कि तत्व के पहले अस्तित्व है; दूसरे शब्दों में हमें शुरूआत आत्मगत पक्ष से करनी चाहिये।" यह आत्मगत पक्ष क्या है ? "प्रत्येक मनुष्य एक सार्वजनीन धारणा, मानव-सम्बन्धी धारणा का विशेष उदाहरण है।" इससे यह न समझना चाहिये कि विशेष मानव की तुलना में सामान्य मानवता महत्वपूर्ण है। आशावादी विचारकों से अपनी भिन्नता विज्ञापित करते हुए सार्त्र ने लिखा है, "सत्य इसके सिवा और कुछ नहीं है कि मैं सोचता हूँ, इसलिए हूँ। यह उस चेतना का निरपेक्ष सत्य है जो अपने को प्राप्त करती है। अपने को प्राप्त करने के इस क्षण के बाहर मनुष्य के सम्बन्ध में जो भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है, वह सत्य का हनन करता है।" सार्त्र के अनुसार यह सिद्धान्त मानव-गौरव के अनुकूल है क्योंकि इससे मनुष्य पदार्थ नहीं बन जाता। "सभी तरह के भौतिकवाद विचारक को बाध्य करते हैं कि वह सभी मनुष्यों को—अपने को भी पदार्थ समझे—अर्थात् उसे पूर्वनिश्चित प्रतिक्रियाओं का परिणाम समझे जो मेज़, कुर्सी या पत्थर के गुणसमूहों और संघटनों से भिन्न नहीं है।" नैतिक क्षेत्र में अच्छे-बुरे का निर्णय भी व्यक्ति ही करता है; जिस समाज का वह सदस्य है, उसे कुछ कहने का अधिकार नहीं है। "यदि मैं किसी काम को अच्छा समझता हूँ तो वह मैं ही हूँ जो उसके अच्छे-बुरे होने का निर्णय करता हूँ।" इस प्रकार मनुष्य परम असामाजिक प्राणी ठहरता है। साहित्य में साधारणीकरण की गुंजाइश ही नहीं रहती। सार्त्र की इस व्यक्तिवादी विचारधारा का असर अज्ञेय, धर्मवीर भारती प्रभृति आत्मोपलब्धि में तल्लीन निरपेक्ष व्यक्तित्व वाले सज्जनों पर देखा जा सकता है।

सार्त्र ने अपनी विचारधारा को सभी तरह के भौतिकवाद से भिन्न ठीक ही बतलाया है। अस्तित्ववाद पुराने भाववाद—चेतना को सत्य और संसार को मिथ्या समझने वाली विचारधारा—का ही एक रूप है। भाववाद के अनेक रूप अपना सबसे बड़ा शत्रु समझते हैं वैज्ञानिक भौतिकवाद को। भाववादियों के अनुसार वैज्ञानिक भौतिकवाद में आस्था रखने वाले लोग मनुष्य में आस्था खो देते हैं। आस्था का प्रश्न हल करना है तो समाज-

निरपेक्ष अहम् में विश्वास करो। कला और साहित्य को उसी का विस्फोट मानो। कुछ अन्य मित्र जो संसार को मिथ्या नहीं कहते, वैज्ञानिक भौतिकवाद को दर्शन ही नहीं मानते। उनकी समझ में वैज्ञानिक भौतिकवाद जगत् के स्वरूप की व्याख्या नहीं करता, न वह ज्ञान की समस्या हल करता है। प्रतीति में भ्रम भी तो होता है; फिर कैसे जानें, कौन-सी प्रतीति भ्रम है और कौनसी वास्तविक ज्ञान? वैज्ञानिक भौतिकवाद व्यवहार पर बल देता है। इसे कुछ विद्वान शुद्ध चेतना का अपमान समझते हैं। ज्ञान का साक्ष्य चेतना के अन्दर ही होना चाहिये; बाहर हुआ तो फिर दार्शनिकता कहाँ रही।

वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और विचार चेतना मानव-मस्तिष्क की उपज। मस्तिष्कहीन विचार और चेतना का अस्तित्व केवल कल्पना की वस्तु है। भौतिकता से परे चेतना का निवास नहीं है। जिस पदार्थ का गुण चेतना है, उसमें विद्युत्-प्रहारों द्वारा हस्तक्षेप करके चेतना के अनेक अङ्गों को नष्ट किया जा सकता है। सर में चोट लगने से स्मृति का नष्ट होना साधारण अनुभव के क्षेत्र की बात है।

चेतना मस्तिष्क में निहित पदार्थ का गुण है, प्रकृति के एक अंश का गुण है, इसलिए वास्तविक विचार केवल चिन्तन द्वारा अपने भीतर से उत्पन्न नहीं किये जा सकते। सही विचार के लिये मानव-चेतना और बाह्य जगत् का सम्पर्क आवश्यक होता है। इस कारण ज्ञान का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है। अपने व्यवहार से ही मनुष्य अपना ज्ञान समृद्ध करता है। ज्ञान से वह व्यवहार क्षेत्र में आगे बढता है। इस आगे बढ़ने के नये अनुभव से वह अपने ज्ञान को फिर समृद्ध करता है। इस प्रकार व्यवहार क्षेत्र के विकास के कारण मनुष्य का ज्ञान नित विकसित होता रहता है। वैज्ञानिक भौतिकवादी के लिये व्यवहार क्षेत्र से संन्यास लेकर केवल आत्मचिन्तन से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। "जो लोग समझते हैं कि आँख मूँद कर ध्यान या समाधि लगाने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल की बातें सूझने लगती हैं उन्हें इस पर ध्यान चाहिये।" ये शब्द रामचन्द्र शुक्ल ने "विश्व-प्रपंच" की एक पाद-टिप्पणी में लिखे थे। जिन मूल वाक्यों पर उन्होंने टिप्पणी लिखी थी वे ये हैं, "अतः बिना इस प्रकार के बाह्य निरीक्षण के

केवल आत्म-निरीक्षण द्वारा निश्चित मनोव्यापार-सम्बन्धिनी बातें पक्की नहीं समझी जा सकतीं। पर बाह्य निरीक्षण की पूर्णता के लिये शरीर विज्ञान, अंग विच्छेद शास्त्र, शरीराणुविज्ञान, गर्भ विज्ञान और जीव-विज्ञान इत्यादि का यथावत् ज्ञान होना चाहिये।" बाह्य निरीक्षण आवश्यक है। केवल आत्म-निरीक्षण द्वारा मनोव्यापार-सम्बन्धी—अर्थात् चेतना सम्बन्धी बातें पक्की नहीं समझी जा सकतीं। आँख मूँद कर ध्यान लगाने और भूत, भविष्य, वर्तमान के ज्ञान का दावा करने वालों के हाथ आत्म-प्रवंचना ही लगती है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद व्यवहार, अनुभव और प्रयोग से परे इलहाम द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का दावा नहीं करता। जो दार्शनिक व्यवहार से दूर रह कर विशुद्ध चिन्तन से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं या ऐसा ज्ञान प्राप्त करने का दावा करते हैं, वे अवश्य या तो स्वयं पैगम्बर होंगे या किसी पैगम्बर के सहारे उन्हें यह गुप्त ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। उनके ज्ञान में उन्हीं को आस्था हो सकती है जो श्रद्धालु भक्त हैं; इलहाम की बातों को सन्देह से देखने वाले, व्यवहार द्वारा ज्ञान-अज्ञान का भेद करने वाले वैज्ञानिकों को उस पर विश्वास नहीं हो सकता। भाववादी दर्शन ज्ञान की पूर्ण व्यवस्था देने का दावा करते हैं। भौतिकवादी दर्शन पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता क्योंकि वह ज्ञान को विकासमान समझता है। विश्व क्या है, पदार्थ का मूल रूप क्या है, जीव-अजीव का सम्बन्ध कैसा है, इन प्रश्नों के बारे में भौतिकवादी दर्शन विज्ञान से ऊपर उठकर, शुद्ध चिंतन के बल पर, निर्णयात्मक उत्तर नहीं देता। विश्व के प्रति उसका दृष्टिकोण, उसके तर्क और चिन्तन की पद्धति वैज्ञानिक अनुभवों पर निर्भर है और इसलिये वह वैज्ञानिक प्रगति में सहायक होती है।

इंगलैंड के बेकन और लॉक जैसे चिन्तकों ने अनुभव और व्यवहार को ज्ञान का आधार और उसकी कसौटी माना था। फ्रांस के भौतिकवादियों ने इस विचारधारा को विकसित किया था। वैज्ञानिक भौतिकवाद ने हेगल की द्वंद्वात्मक पद्धति और फ्रांस के भौतिकवाद से बहुत कुछ लिया। किन्तु उसने ज्ञान और व्यवहार का सम्बन्ध नये ढंग से जोड़ा। मार्क्स ने कहा कि दार्श-

निकों ने अभी तक तरह-तरह से संसार की व्याख्या ही की है; लेकिन मुख्य बात है, उसे बदलने की।

वैज्ञानिक भौतिकवाद का जन्म संसार को समझने और उसे बदलने के लिए, मानवजीवन को सुखी बनाने के लिये हुआ। इसका कारण यह था कि इतिहास में एक नयी घटना घट चुकी थी। यह घटना थी मजदूर-वर्ग का जन्म। यह वर्ग अपने जन्म से ही संसार को बदलने के स्वप्न देखने लगा था। मार्क्स ने उस स्वप्न को साकार करने की वैज्ञानिक पद्धति निकाली। व्यवहार और परिवर्तन पर इस प्रकार बल देने का यह अर्थ नहीं है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद चिन्तन को, बौद्धिक क्रिया को नगण्य समझता है। नहीं, बुद्धि को व्यवहार-जगत् से सम्बद्ध करके वह बौद्धिक क्रिया को सार्थक करता है। वैज्ञानिक जे० डी० बर्नाल के शब्दों में : "सावधानी से विश्लेषण; विभिन्न तथ्यों का बिलगाव; कारणों का अनुसरण करते हुए परिणाम तक पहुँचना; प्रयोग पर निर्भर होना;—इन सब बातों को मार्क्सवाद ने अपना लिया है और इनसे उसे पुष्ट वैज्ञानिक आधार मिला है।" (मौडर्न क्वार्टरली, खंड २, संख्या ३, १६४८)।

वैज्ञानिक भौतिकवाद की चिन्तन-पद्धति अपनाने वाले लेखक तथ्य-कथन से सन्तुष्ट नहीं रह सकते। तथ्य-कथन मार्क्सवाद से पहले के भौतिकवाद की विशेषता थी। मार्क्सवाद भौतिक जगत् का दृढ़ आधार स्वीकार करते हुए मनुष्य की विचारधारा, उसके भाव-जगत्, सामाजिक जीवन आदि का परस्पर सम्बन्ध बतलाता और उनका विश्लेषण करता है। भाववाद की तरह विश्व की एकता का सिद्धान्त वैज्ञानिक भौतिकवाद में भी है। यह एकता अध्यात्मवादियों की परोक्ष चेतना की एकता से भिन्न है। विश्व की एकता का आधार उसकी भौतिकता है, न कि "मैं सोचता हूँ, इसलिये हूँ"—यह अहंवादी चिन्तन। "हमारे अनुभव क्षेत्र का विस्तार करने में विज्ञान ने दिखलाया है कि विराट् के प्रत्येक स्तर, व्यवस्था या ऊहापोह के हर स्तर के अपने नियम होते हैं। हमारे सहज ज्ञान के नियम विश्व के एक छोटे से भाग के ही नियम हैं यद्यपि यही भाग हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण है या अब तक रहा है।" (बर्नाल, उप०)

विराट् विश्व के विभिन्न स्तरों को स्वीकार करके, विभिन्न स्तरों के नियमों की सापेक्षता स्वीकार करके वैज्ञानिक भौतिकवाद ज्ञान के प्रसार का मार्ग प्रशस्त करता है। एक स्तर के ज्ञान की सापेक्षता देखकर वह सन्देहवाद या अज्ञेयवाद के चक्कर में नहीं पड़ जाता।

आधुनिक युग में भाववाद और भौतिकवाद का संघर्ष तीव्र हो गया है। सन् बीस में ही शुक्लजी ने लिखा था कि पौराणिक गाथाएँ भाववादियों की रक्षा नहीं कर सकतीं। "अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जायँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं—एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी; एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी।" इन दो विचारधाराओं का सम्बन्ध पूँजीवाद और समाजवाद की दो भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं से है, यह तथ्य स्पष्ट होता जा रहा है। वैज्ञानिक भौतिकवाद समाजवाद के लिये संघर्ष करती हुई जनता का पथ-निर्देशक दर्शन है। उसका दृष्टिकोण और पद्धति अपना कर मनुष्य वैज्ञानिक प्रगति ही नहीं कर रहा है वरन् समाज को भी बदल रहा है। वास्तविक जड़वादी वे हैं जो न समाज को बदलने का प्रयत्न करते हैं न विज्ञान द्वारा विश्व के अनेक रहस्यों का उद्घाटन करने में प्रवृत्त होते हैं। उनके लिये परम सत्य मन, बचन, कर्म—सभी के परे है; मूँदहु आँखि कतहुँ कछु नाहीं!

भाववादी और भौतिकवादी दर्शनों के परस्पर विरोध के समान विश्व-साहित्य में आज दो प्रवृत्तियों का परस्पर भेद और संघर्ष बढ़ रहा है। उनमें एक है यथार्थवाद की धारा जो ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में भौतिकवादी दर्शन को अपनाती है; दूसरी है व्यक्तिवादी धारा जो नाना रूप और नाम धारण करके प्रकट होती है—कहीं अब्सट्रैक्ट आर्ट, कहीं सूररियलिज्म, कहीं प्रयोगवाद—जिसका सम्बन्ध प्रच्छन्न या प्रकट रूप में भाववाद से होता है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का खण्डन करते हुए शुक्लजी ने एक यथार्थवाद-विरोधी प्रवृत्ति का ही खंडन किया था।

१६ वीं सदी के अन्त में फ्रांस ने जिस "आधुनिक" कला को जन्म दिया, उसकी विशेषता थी वस्तुहीनता। चित्र ऐसे बनाये जायँ जिनमें रेखाएँ

हों, कोण हों, रंग हों, प्रतीक हों, केवल वस्तु न हो। यदि वस्तु हुई, किसी बाह्य पदार्थ का चित्रण किया गया तो कल्पना की निरपेक्ष स्वाधीनता खण्डित न हो गयी! रूस में १९०५ की क्रान्ति की विफलता के बाद कला और साहित्य के क्षेत्र में इस तरह की आधुनिकता खूब फली फूली। १९१७ की क्रांति के बाद भी अनेक लेखक इस आधुनिकता को अपना कर सर्वहारा वर्ग के लिये ऐसी क्रांतिकारी कला की सृष्टि करने लगे कि मजदूर उसकी ओर आँख भी न उठाते थे। फादयेव, फ़ुर्मानोव, शोलोखोव आदि लेखकों ने गोर्की के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए सोवियत साहित्य को इस अराजकतावादी परिस्थिति से बाहर निकाला। यही "आधुनिकता" फ्रांस, अमरीका, ब्रिटेन आदि देशों के साहित्य में अमरबेल की तरह फैली हुई है और उसके प्रयोगवादी पल्लव हिन्दी साहित्य में भी विकस रहे हैं।

आज विश्व-पूँजीवाद संकट और ह्रास की दशा में है। पूँजीवाद के समर्थक अब उसका नाम लेने में भी शरमाते हैं। इसलिये उसे नये-नये नामों से अलंकृत कर के वे अपना वास्तविक रूप छिपाते हैं। इस पूँजीवादी व्यवस्था में—मुनाफे, बेकारी,-शोषण, उपनिवेशवाद, हथियारबन्दी और युद्धों की व्यवस्था में—व्यक्ति की स्वाधीनता का सच्चा रूप देखने वाले सज्जन यथार्थ का सामना करने का साहस नहीं करते। साहस करें तो "फ्री वर्ल्ड" की सभी न्यामतें आँखों के सामने आकर सही तस्वीर पेश कर दें। इसलिये यथार्थ जगत् से मुँह मोड़ो! अन्तर्जगत् से रेखाएँ और त्रिकोण बनाओ, खंडित गद्य के टुकड़ों में अर्थ की लय भरो, अहं के विस्फोट से कुण्ठा, निराशा और घुटन का धुआँ निकालो। इस आधुनिकता के हामी व्यक्तित्व की तलाश में निकलते हैं। किन्तु इनकी दस कविताओं को एक साथ पढ़िये तो पता न चलेगा कि वे एक की लिखी हैं या दस की! रचना में महत्वपूर्ण विषयवस्तु के अभाव में उस पर रचयिता के महान् व्यक्तित्व की छाप भी नहीं रहती। इसके विपरीत प्रेमचन्द, लू शुन, गोर्की, शोलोखोव आदि लेखक यथार्थवादी साहित्य की ऐसी विभूतियाँ हैं जिनके व्यक्तित्व का प्रकाश दूर से ही दिखाई देता है।

आधुनिकतावादी उपन्यासों के नायक वैज्ञानिक से अधिक मनो-वैज्ञानिक

होते हैं, वे कर्मजगत् से संन्यास लेकर कल्पना जगत् में चिन्तन को ही अपना मुख्य कर्म समझते हैं। पूँजीवादी समाज की नैतिकता में आस्था रखने वाले भद्र जन वैसे ही श्रम से घृणा करते हैं। इसलिये उनकी संस्कृति श्रम का बहिष्कार करती है। श्रम करना वहिष्कृत मजदूरों का काम है। उनकी सेवा के बल पर विशुद्ध चिन्तन द्वारा निष्क्रिय "हीरो" की रचना करना इन कलाकारों का काम है! जब 'हीरो' ही निष्क्रिय होगा, तब सामाजिक संघर्ष के चित्रण का सवाल कहाँ से उठेगा? आपने सामाजिक संघर्ष का चित्रण किया तो सतही साहित्य रचा, यथार्थ के बाह्य रूपों में ही फँस कर रह गये, व्यक्ति के मनो-जगत् की गहराइयों में पैठे ही नहीं, इत्यादि। इसलिये सामाजिक संघर्ष से पराङ्मुख परम सत्य की मनोवैज्ञानिक पैठ देखना हो तो पढ़िये "नदी के द्वीप" या "डॉक्टर ज़िवागो"!

यथार्थवाद के बारे में तरह-तरह की भ्रांतियाँ हैं। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार यथार्थवादी लेखक वह है जो सुन्दर वस्तुओं पर लिखना पसन्द नहीं करता वरन् उनके बदले गंदी-घिनौनी चीजों का ही वर्णन करता है, वह टाइप के बदले व्यक्तियों का चित्रण करता है और यथातथ्य चित्रण में विश्वास करता है।

पूँजीवादी समाज में गंदगी की कमी नहीं है। कुछ लोगों ने उसका चित्रण किया है और इससे यह परिणाम निकाला गया कि यथार्थवाद का उद्देश्य गंदगी का चित्रण करना ही है। पूँजीवादी समाज की तीव्र आलोचना करने वाले डिकेन्स जैसे लेखकों ने मानवगुणों का भी चित्रण किया है, मानव-क्षमता में आस्था दृढ़ की है। हिन्दी में कुछ वर्ष पूर्व यौन सम्बन्धों के नग्न-वर्णन को यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती थी किन्तु अस्वस्थ काम-चेतना का चित्रण यथार्थ के एक ही पहलू का चित्रण है। इसके अलावा वह जिस पतनशील दृष्टिकोण से किया जाता है, उससे विकृति से संघर्ष करने के बदले पाठक के मन में आसक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे अश्लील चित्रण को यथार्थवादी चित्रण नहीं कहा जा सकता।

शिपले द्वारा सम्पादित विश्व-साहित्यकोश में यथार्थवादी लेखक उसे कहा गया है जो वस्तुगत, "फोटोग्रैफिक" कलाहीन चित्रण करता है और

भी करते हैं। वे उसे सामाजिक संघर्ष, समाज के वर्ग-सम्बन्धों से दूर रख कर देखते हैं। वे चेतना की गहराइयों का चित्रण करने के नाम पर उसकी मानसिक विकृतियों का चित्रण करते हैं और इन विकृतियों का कारण समाज में न देखकर उसके निरपेक्ष मानस में ढूँढ़ते हैं। उनकी कला—विशेषरूप से असम्बद्ध मूर्तिविधान वाली कविता और रेखाओं और त्रिकोणों वाली चित्रकला—वास्तविक जगत् के तारतम्य को चित्रित न करके मनगढ़न्त प्रतीकों में ऐसा सम्बन्ध स्थापित करती है जो बस रचयिता महोदय या उनके कुछ मित्रों को ही मालूम रहता है। इसके विपरीत यथार्थवादी कला में व्यक्ति सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में चित्रित किया जाता है; वह समाज-निरपेक्ष इकाई न होकर एक साथ ही व्यक्ति और टाइप दोनों होता है, जैसे होरी पिछड़े किसान का टाइप है, साथ ही अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण जीता-जागता व्यक्ति भी है, यांत्रिक प्रतीक नहीं। और यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि सामाजिक संघर्ष का चित्रण करते हुए हम व्यक्ति के भाव जगत, उसके मानसिक संघर्ष का चित्रण न करें। वास्तव में प्रत्येक यथार्थवादी साहित्यकार दोनों का ही चित्रण करता है।

यथार्थ चित्रण और कल्पना—इन दोनों में भी परस्पर विरोध नहीं है। मनुष्य आज जो कुछ है, वह अपने समस्त पूर्व विकास का परिणाम है। इसमें उसका प्राग्मानवीय प्राणिरूप में विकास भी शामिल है। उसका इन्द्रियबोध, उसकी कल्पना—सभी यथार्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। यथार्थवादी लेखक कल्पना द्वारा टाइप रचता है। अपने अनुभव की सामग्री से काम की चीज़ें चुनता और सजाता है और उनमें ऐसी कल्पित घटनाएँ, पात्र आदि जोड़ता है जो ऐतिहासिक रूप से सत्य न होकर भी यथार्थ के अनुरूप होते हैं। इसके विपरीत पलायनवादियों की कल्पना संसार से भागने और सुनहले स्वप्न देखने—या कल्पित पीडा के कारण आँसू बहाने—में चरितार्थ होती है।

आदर्श और यथार्थ—इनमें भी अनिवार्य विरोध नहीं है। यथार्थ-चित्रण वास्तविक जगत् के हमारे ज्ञान पर निर्भर होता है। यदि यह जगत् गतिशील है और हमें उस गति की दिशा का ज्ञान है या हम उस दिशा के

महत्व को समझते हैं जिसकी ओर हम उसे अग्रसर करना चाहते हैं, तो यह आदर्श हमारे यथार्थवाद में निहित होगा। भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक का हिन्दी साहित्य स्वाधीनता और समाजसुधार के आदर्श से अनुप्राणित रहा है क्योंकि वास्तविक जगत् की प्रतीति में पराधीनता की अनुभूति शामिल थी और इस प्रतीति के फलस्वरूप स्वाधीनता के आदर्श को प्राप्त करने की भावना भी विद्यमान थी। इसी कारण इस साहित्य में जड़ मानवता नहीं, एक आदर्श की ओर गतिशील मानवता के आदर्श होते हैं। गोर्की से लेकर शोलोखोव तक के रूसी साहित्य में उस मानवता का चित्रण है जिसने गृह-युद्ध में साम्राज्यवादियों के हस्तक्षेप का मुकाबला किया, गृहयुद्ध से ध्वस्त एक पिछड़े हुए देश में समाजवाद की रचना की फासिस्ट आक्रमण को विफल करके, फिर अपने देश का निर्माण किया और जो विकास की गति के सभी मापदंड पीछे छोड़कर आज साम्यवादी व्यवस्था के निर्माण में लगी हुई है। यह सोवियत संघ का सारा साहित्य—कुछ अपवादों को छोड़ कर—समाजवादी निर्माण के आदर्श से अनुप्राणित रहा है। उसकी "एकरसता", "उथलेपन", लेखक के "रेजीमेंटेशन" का यही रहस्य है।

इसी कारण भारत में समाजवादी व्यवस्था न होने पर भी लेखक की "स्वाधीनता" को लेकर चीख-पुकार शुरू हो गई है। लेखक के सामाजिक उत्तरदायित्व की बात चलते ही कुछ मित्र स्वाधीनता-हरण का राग अलापने लगते हैं मानों भारतेन्दु, बालकृष्णभट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, पंत, मैथिलीशरण गुप्त आदि लेखक सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से अछूते रहे हों। इन सभी की उत्तर-दायित्व-सम्बन्धी भावना एक नहीं रही लेकिन समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की कलासृष्टि में भी उनका विश्वास नहीं रहा।

इस सम्बन्ध में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "हम देखते हैं कि स्वातंत्र्य की नई पुकार साहित्य की सीमा में कुछ ऐसे तथ्यों को रखने के लिए की जा रही है जो अतिशय असामाजिक होने के कारण बहुजन समाज में स्वीकृत नहीं हैं। स्वीकृत न होने पर भी यदि वे तथ्य उपयोगी या आवश्यक प्रमाणित किए जा सकें; तो भी एक बात है। परन्तु जिस दिशा से यह

स्वातंत्र्य की आवाज उठी है वहाँ आवश्यकता और उपयोग जैसे तथ्यों का प्रश्न नहीं उठता, वहाँ तो जो कुछ चाहें उसे कहने और लिखने के स्वातंत्र्य की ही माँग है। प्रत्येक स्वातंत्र्य के साथ उतनी ही मात्रा में दायित्व की भावना रहा करती है। पर यह नया स्वातंत्र्य दायित्व की भावना से नितान्त अछूता है।" (डा० सर हरिसिंह गौर स्मारक ग्रन्थ में "समाज और साहित्य" शीर्षक निबन्ध)।

वाजपेयीजी ने इन "स्वाधीनता प्रेमी" लेखकों की असामाजिकता का उल्लेख करके उनकी अनुत्तरदायी चीख-पुकार की ओर सही संकेत किया है। इनकी स्वाधीनता उस स्वाधीनता से बहुत दूर है जिसके लिए भारतीय जनता ने संघर्ष किया है। न यह स्वाधीनता गरीबी और शोषण से मुक्त होने की कामना को पास फटकने देती है यद्यपि यह कामना अधिकांश भारतीय जनता के हृदय में है। इस सम्प्रदाय के लेखकों की मुक्ति जनता की भावनाओं से, सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त होने में है, भले ही फिर अमरीका-पोषित 'काँग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का झंडा उठाने का दायित्व ही सँभालना पड़े।

जो लेखक समाज को गतिशील मानता है, समाज की गति के लक्ष्य को पहचानता है, जो उसके क्रान्तिकारी और अग्रगामी तत्वों से सहानुभूति रखता है, वह यथार्थवादी चित्रण में इस गति, दिशा और लक्ष्य का उल्लेख अवश्य करेगा, वह विभिन्न वर्गों, व्यक्तियों आदि का ऐतिहासिक महत्व आँकते हुए प्रगति के सन्दर्भ में ही उनका चित्रण करेगा। इसलिये उसका चित्रण केवल तथ्यकथन होगा—यह सोचना भ्रम है।

लेकिन यथार्थ चित्रण की आवश्यकता ही क्या है? चित्रण चाहे यथार्थ जगत् का हो चाहे काल्पनिक जगत् का, चाहे दोनों का मिला कर हो, मुख्य बात तो यह है कि उसमें भाव होने चाहिये, उससे रस-निष्पत्ति होनी चाहिए, उससे आनन्द मिलना चाहिये। यथार्थ और काल्पनिक का विवाद छेड़ा ही क्यों जाय?

मनुष्य का रस-बोध भी परिवर्तनशील है यद्यपि यह परिवर्तन आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के समान शीघ्र नहीं होता, न उनकी तरह ऊपर

से देखने से स्पष्ट हो जाता है। पौराणिक गाथाओं को लीजिये। एक सम
यूनान, भारत तथा अन्य देशों में असाधारण चमत्कारों से पूर्ण इन गाथाओं
की धूम थी। फिर क्रमशः साहित्यकार इन्हें अपनी विषयवस्तु के लिये अस्वी
कार करने लगे। गद्य से उनका प्रायः बहिष्कार हो गया; पद्य में पहले की
अपेक्षा उनका स्थान संकुचित हो गया। पहले पौराणिक गाथाओं से इतन
मोह क्यों था? यह मोह मनुष्य के ज्ञान पर निर्भर था। विश्व की प्रतीति
यथार्थ परिचय के साथ काल्पनिक चमत्कारों का सम्मिश्रण अधिक था
"इतिहास से प्रकट है कि आदि में सब देशों के बीच प्रकृति की भिन्न-भिन्न
शक्तियों और विभूतियों या उनके भिन्न-भिन्न अधीश्वरों की भावना हुई औ
बहुदेवोपासना प्रचलित हुई।" (विश्वप्रपंच की भूमिका)। जब मनुष्य क
ज्ञान इस पौराणिकता से आगे बढ़ा तो उसे पहले के चमत्कारों में सरसत
की कमी अनुभव होने लगी और उसने अपनी नवीन विश्व-प्रतीति के
आधार पर रसबोध विकसित किया।

राजाओं, नवाबों, सामन्तों के दरबारों के कवियों ने सौन्दर्यबोध का एक
रास्ता अपनाया, सन्तों ने दूसरा। दरबारी कवियों ने अपनी विषयवस्तु बहुत
कुछ संस्कृत से उधार ली; भाषा और छन्द को सँवारने में बड़ा परिश्रम
किया। भावना की गहराई के बदले उन्होंने बौद्धिक चमत्कार अधिक
दिखाया। इसी कारण आगे चलकर समस्यापूर्ति और नायिकाभेद की परम्पर
का विरोध हुआ। सन्त जनजीवन के निकट थे; उन्होंने जनता के मनोभावों
का अधिक गहराई से चित्रण किया। साथ ही उनमें वैराग्य की भावना भी
मिलती है जो हमें अब अच्छी नहीं लगती। इस तरह की और बहुत सी
मिसालें दी जा सकती हैं। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य का रसबोध, उसक
भावजगत् उसकी विश्व-प्रतीति से सम्बद्ध होता है और सामाजिक जीवन
परिवर्तित होने के साथ उसकी रसवृत्ति और भावनाओं में भी धीरे-धीरे
परिवर्तन होता है।

वास्तविक जगत से सामाजिक जीवन और सामयिक संघर्षों से दूर रहन
साहित्य में ह्रास का लक्षण है। इस तरह का ह्रास दरबारी काव्य-परम्परा के
अनेक अनुप्रास-प्रेमियों और रूढ़िवादी पद्यकारों में देखा जा सकता है

इसी तरह ईरानी कविता के घिसे-पिटे प्रतीक लेकर बहुत से उर्दू कवियों ने अपनी नकली दुनिया रची थी। इस तरह के कृत्रिम भावजगत् में रहने वाले प्राणियों का मनोबल क्षीण हो जाता है, वे न समाज की दशा सुधार सकते हैं, न देश की स्वाधीनता की रक्षा कर सकते हैं। यह सब हम अपने अनुभव से देख चुके हैं। इसी प्रकार आजकल के प्रयोगवादियों ने अपनी एक कृत्रिम दुनिया बना रखी है और स्वाधीनता के नाम पर यथार्थ जीवन, समाज की महत्वपूर्ण समस्याओं से आँखें चुराते हैं। देश के विकास की नाजुक घड़ी में उनका कर्तव्य रह गया है—नवयुवकों को उलझाना और उनका मनोबल क्षीण करना। पिछले साठ-सत्तर वर्षों में हमारे साहित्य की परिधि विस्तृत हुई है। उसमें नये-नये विषयों का समावेश हुआ है, व्यंजना की नयी पद्धतियों और शैलियों का चलन हुआ है। उसने जीवन के अनेक नये पक्षों का चित्रण किया है जो पहले के साहित्य में संभव न था। अपने सामाजिक विकासक्रम में परिस्थितियों के साथ मनुष्य स्वयं भी बहुत कुछ बदलता है। इस कारण साहित्य में भी परिवर्तन होते हैं। किन्तु साहित्य की नयी मंजिल तक मनुष्य अपने समूचे पिछले विकास को समेट कर पहुँचता है।

विकास और परम्परा—इन दोनों का सम्बन्ध विच्छिन्न और अविच्छिन्न दोनों प्रकार का है। एक ओर तो पौराणिक चमत्कार, कृत्रिम भावजगत्, भाषा के साथ खेल—यह सब छोड़ कर हम प्रतीति, चिन्तन, भावना और अभिव्यंजना के नये तरीके अपनाते हैं; दूसरी ओर हम अनुभव करते हैं कि पौराणिक गाथाओं में अयथार्थ कल्पना के बावजूद कवियों ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने समकालीन मानवजीवन का चित्रण किया है। देवताओं अथवा अवतारी पुरुषों के रूप में उन्होंने बहुत कुछ अनजान में अपने समाज का चित्र प्रस्तुत कर दिया है। ज्ञान का स्तर बदलने पर भी पुराने कवियों का इन्द्रियबोध—रूप, रस, गन्ध आदि गुणों वाले जगत् की अनुभूति—प्रकृति को देखकर उनका विस्मय, उत्सुकता, प्रेम आदि भाव, उनके अनेक उदात्त मानवीय गुण और विचार—ये सब ज्ञान का स्तर बदलने के बाद भी हमारे लिये मूल्यवान रहते हैं। इस प्रकार परम्परा के अनेक तत्वों से हमारा नाता कभी नहीं टूटता और टूटता है तो लाभ से

नाम से प्रगतिशील कहा जा सकता है। इस तरह के समन्वय की बात हिन्दी में की जाती है। वैज्ञानिक भौतिकवाद को एकाङ्गी कह कर कभी अध्यात्मवाद से, कभी अमरीकी दार्शनिकों के भाववाद से उसके समन्वय पर बल दिया जाता है। पहले तो इस तरह का समन्वय संभव नहीं है, दूसरे समन्वय करने पर बहुधा वैज्ञानिक भौतिकवाद के बदले अध्यात्मवाद ही बच रहता है। ऊपर जिन विरोधी लगने वाले तत्त्वों के सम्बन्ध और भेद का उल्लेख किया गया है, वह वास्तविक है। यह भेद और सम्बन्ध जीवन से उत्पन्न होता है, कल्पना से नहीं। इसलिये उपर्युक्त विवेचन को समन्वयवाद न समझना चाहिये। यहाँ मेरा उद्देश्य यथार्थवाद की व्यापकता सिद्ध करना है। उसमें मानवीय स्नेह, प्रकृति-प्रेम, गोचर सौन्दर्य-बोध, साहित्य का कलात्मक रूप—सभी शामिल हैं और इनका होना साहित्य और मानव जीवन के लिये आवश्यक है।

व्यक्तिवादी विचारधारा क्षीण होकर निर्जीव, विकृत, अस्वस्थ, यथार्थ-विरोधी रचनाओं की सृष्टि कर रही है। यथार्थवादी विचारधारा मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास के उद्देश्य से ऐसी रचनाएँ करने की ओर प्रवृत्त है जिससे हमारी सामाजिक चेतना प्रखर हो, और हमारी सौन्दर्य-बोध की वृत्तियाँ भी सन्तुष्ट हों। आधुनिक हिन्दी साहित्य की मूल धारा भी हमें इसी ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास

सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य सौन्दर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है। साधारणतः सौन्दर्यशास्त्र के विद्वान जिस सौन्दर्य का विवेचन करते हैं, वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौन्दर्य होता है। प्रकृति और मानव जीवन के सौन्दर्य की व्याख्या किये बिना कलात्मक सौन्दर्य का विवेचन करना संभव नहीं है। इसलिये वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव जीवन तथा कलाओं में विद्यमान है। सौन्दर्यशास्त्र दर्शन का एक अङ्ग है। ज्ञान को कर्म से पृथक् करके देखने वाले दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र को भी निष्क्रिय ज्ञान की वस्तु बना लेते हैं; उनकी समझ में सौन्दर्य की अनुभूति अथवा सुन्दर वस्तुओं की रचना से सौन्दर्य-शास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए ई. ऐफ. कैरिट ने "सौन्दर्यशास्त्र को भूमिका" (E. F. Carritt : An Introduction to Aesthetics) में लिखा है, "तब सौदर्यशास्त्र हमारे लिये क्या कर सकता है ? वह हमारे सौंदर्य से प्राप्त आनन्द को बढ़ा नहीं सकता और मेरी समझ में उसे इस बात को छूट न देनी चाहिये कि वह हमारे इस आनन्द को विभिन्न वस्तुओं की ओर प्रेरित करे किन्तु उन्हें समझने में वह हमारी सहायता कर सकता है। शेष सभी दर्शन के समान उसका उद्देश्य उत्सुकता को शान्त करना है और यदि ऐसे विषयों के प्रति हमारी उत्सुकता नहीं है तो उससे हमें कुछ भी सन्तोष न मिलेगा।" उत्सुकता के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु मानव-कर्म से ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं कि कर्म के बिना ज्ञान कीं प्राप्ति सम्भव नहीं है, यह भी सत्य है कि ज्ञान की परिणति मानव-कर्म में होती है। अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों का सम्बन्ध ललित कलाओं से नहीं के बराबर होता है; इसलिए सुन्दर कृतियों से बहिष्कृत उनका सौन्दर्यशास्त्र महा असुन्दर होता है। कलाकारों से भिन्न सौन्दर्यशास्त्री दार्शनिकों के बारे में कौलिंगवुड ने "कला के सिद्धान्त"

(R. G. Collingwood : The Principles of Art) में लिखा है, "वे बेसिर-पैर की बातें न करें, इससे तो सुरक्षित रहते हैं लेकिन इसका निश्चय नहीं है कि वे जिसके बारे में बातें करेंगे, उसे जानेंगे भी। इसलिये उनकी सिद्धान्त-चर्चा, अपने में चाहे जितनी योग्यतापूर्ण हो, वस्तुस्थिति का आधार कमज़ोर होने से दूषित हो सकती है।" इस दोष की सम्भावना सौन्दर्य-शास्त्रियों में ही नहीं, उन सभी दार्शनिकों में रहती है जो कर्ममय जीवन से दूर रहते हैं और दर्शन को उससे अलग करके देखते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि सौन्दर्यशास्त्र और मानव-जीवन का गहरा सम्बन्ध है। सौन्दर्य-शास्त्र का विवेच्य विषय साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त प्रकृति और मानव जीवन का सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य और उसकी अनुभूति का विवेचन उत्सुकता की शान्ति के लिये ही नहीं है; उसका उद्देश्य हमारी सौन्दर्य-चेतना को उत्तरोत्तर विकसित करना, मानव जीवन और उसके सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश को और भी सुन्दर बनाना है।

सौन्दर्य किसे कहते हैं? प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है। इस स्थापना पर आपत्ति यह की जाती है कि कला में कुरूप और असुन्दर को भी स्थान मिलता है; दुःखांत नाटक देखकर हमें वास्तव में दुख होता है; साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है; उसे सुन्दर कैसे कहा जा सकता है? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि कला में कुरूप और असुन्दर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखारते हैं। वीभत्स का चित्रण देख कर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते; हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है। वीभत्स से घृणा करना सुन्दर कार्य है या असुन्दर? जिसे हम कुरूप, असुन्दर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौन्दर्य में होती है। दुखान्त नाटकों में हम दूसरों का दुख देखकर द्रवित होते हैं। हमारी सहानुभूति अपने तक, अथवा परिवार और मित्रों तक सीमित न रह कर एक व्यापक रूप ले लेती है। मानव-करुणा के इस प्रसार को हम सुन्दर कहेंगे या असुन्दर? सहानुभूति की इस व्यापकता से हमें प्रसन्न होना चाहिये या अप्रसन्न? दुःखान्त नाटकों अथवा करुण रस के साहित्य से हमें दुःख की

अनुभूति होती है किन्तु यह दुःख अमिश्रित और निरपेक्ष नहीं होता। उस दुःख में वह आनन्द निहित होता है जो करुणा के प्रसार से हमें प्राप्त होता है। इसके सिवा इस तरह के साहित्य में हम बहुधा मनुष्य को विषम परिस्थितियों से वीरतापूर्ण संघर्ष करते हुए पाते हैं। संघर्ष का यह उदात्त भाव दुख की अनुभूति को सीमित कर देता है। वीर मनुष्यों का यह संघर्ष हमें अपनी परिस्थितियों के प्रति सजग करता है, उनकी पराजय भी प्रबुद्ध दर्शकों तथा पाठकों के लिये चुनौती का काम करती है। उनकी वेदना हमारे लिये प्रेरणा बन जाती है। आनन्द को इस व्यापक रूप में लें, उसे इन्द्रिय-जन्य सुख का पर्यायवाची ही न मान लें तो हमें करुण और वीभत्स के चित्रण में सौन्दर्य के अभाव की प्रतीति न होगी।

सौन्दर्य क्या है, इस प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न जुड़ा हुआ है, सौन्दर्य कहाँ है, दर्शक, श्रोता या पाठक के मन में अथवा उससे भिन्न सुन्दर वस्तु में। कैरिट का कहना है कि मनुष्य उस वस्तु को सुन्दर कहता है जो उसके लिये उन भावनाओं को व्यक्त करती है जिनके योग्य वह अपने स्वभाव और पिछले इतिहास से बना है। उसके मत से "सौन्दर्य गोचर वस्तुओं में नहीं होता वरन् उनके महत्व पर निर्भर होता है और भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए उनका महत्व भी भिन्न होगा, सम्भवतः बहुत ही भिन्न कोटि के लोगों के लिए यह महत्व भिन्न कोटि का होगा।" भाववादी (आइडियलिस्ट) दार्शनिकों के तर्क इस स्थापना के अनुरूप होते हैं। उनके लिए सौन्दर्य की सत्ता वस्तु-गत न होकर आत्मगत होती है। इस तरह के दार्शनिकों को लक्ष्य करके स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था, "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।" शुक्लजी ने इन वाक्यों में भाववादी और वस्तुवादी दर्शनों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है; उन्होंने भाववादी मान्यता का खण्डन किया है, वस्तुवादी मान्यता का समर्थन किया है।

प्रचलित धारणा यह है कि यूरोप भौतिकवादी है और भारत अध्यात्म-वादी। भारत और यूरोप के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह धारणा खण्डित हो जाती है। न तो अध्यात्मवाद पर भारत का एकाधिकार है, न भौतिकवाद पर यूरोप का। कुल मिलाकर यूरोप के विचारकों पर भाववादी दर्शन का प्रभाव यहाँ की अपेक्षा गहरा है। प्लैटो से लेकर हेगल तक यूरोप के अनेक प्रमुख दार्शनिक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि सौंदर्य की सत्ता सुन्दर वस्तु से पृथक् है। प्लैटो के लिए संसार की सुन्दर वस्तुएँ परोक्ष सौन्दर्यसत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; कला इस प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब है, इसलिए दार्शनिक सत्य की तुलना में क्षुद्र है और आदर्श समाज-व्यवस्था से कलाकारों को वहिष्कृत रखना चाहिए। प्लैटो के समान ही हेगल के लिए कला एक निरपेक्ष विचार व्यंजित करती है। महामहो-पाध्याय रामावतार शर्मा ने "यूरोपीय दर्शन" में दिखलाया है कि हेगल ने कला को ज्ञान और धर्म से निम्न स्तर का माना है। निरपेक्ष सत्ता की प्राप्ति में कला पहली सीढ़ी है; उसके बाद धर्म मनुष्य की सहायता करता है। "जिसकी छायामात्र कला और धर्म ने दिखलाई थी, वह साक्षात् ज्ञानावस्था में आ पहुँचता है, सब भेद नष्ट हो जाते हैं और स्वनियत स्वप्रमितिक ज्ञान ही केवल सब रूप को धारण करता हुआ देख पड़ता है।" रामावतार शास्त्री की इस व्याख्या से पाठक देखेंगे कि हेगल की विचारधारा और भारतीय भाववाद में कितना साम्य है।

आधुनिक काल में यूरोप और अमरीका में प्रमुख विचारधारा उन लोगों की है जो सौन्दर्य का उद्‌भव, विकास और परिणति, सब कुछ व्यक्ति के मन में मानते हैं। इन्हीं का एक प्रतिनिधि आचार्य क्रोचे था जिसकी विस्तृत आलोचना शुक्लजी ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद" नाम के निबन्ध में की थी। इस तरह के विचारकों के लिये व्यक्ति का मन एक निरपेक्ष सत्ता बन जाता है। हेगल के लिए इस भौतिक जगत् से निरपेक्ष विचार का सम्बन्ध भी था, इनके लिये व्यक्ति का मन भौतिक जगत् से विच्छिन्न हो जाता है। कला के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मूर्त जगत् के रूपों को किसी न किसी प्रकार अपनाये बिना वे सौन्दर्य की अभिव्यंजना

कर नहीं पाते। कला-वादियों के एक गिरोह का कहना है कि कलाकार के लिए सामाजिक जीवन अथवा संसार के अन्य रूपों को चित्रों आदि में अंकित करना आवश्यक नहीं है। सौन्दर्य की सूक्ष्म आत्मा मूर्त रूपों से परे है। इसलिये चित्रकला के नाम पर वे ज्यामिति की रेखाएँ प्रस्तुत करते हैं और उन सूक्ष्म रेखाओं द्वारा अपने निरपेक्ष मन का सौन्दर्य व्यंजित करते हैं। कलाकार के कर्म और उसकी विचारधारा कला और सौन्दर्य-शास्त्र—का घनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट दिखाई देता है। यूरोप और अमरीका का चरम व्यक्तिवाद अनेक कलाकारों को उस सीमा तक खींच ले गया है जहाँ कला अपनी सारी विशेषताएँ खो बैठती है। इसी व्यक्तिवाद से प्रभावित हिन्दी के अनेक कवि हैं जिनका मन सभी तरह की सामाजिकता से मुक्त हो गया है; छिन्न लय, प्रच्छन्न अर्थ, विच्छिन्न शब्दावली से अलंकृत रचनाओं में अपनी कुण्ठा, घुटन और व्यक्तित्व के विघटन के चित्रण में ही इन्हें कला और सौन्दर्य की इति दिखलाई पड़ती है। इस कविकर्म के मूल में यह धारणा है कि सौन्दर्य, रस, भावना आदि का एक मात्र और निरपेक्ष स्रोत व्यक्ति का मन है।

व्यक्ति के मन में सौन्दर्य की सत्ता मानने वालों का मुख्य तर्क यह है: एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुन्दर अथवा असुन्दर लगती है। हमें अपने देश के पहाड़ बहुत सुन्दर लगते हैं; दूसरों के लिये वे साधारण पर्वत मात्र हैं। माँ को अपना बच्चा बहुत सुन्दर लगता है; दूसरों के लिये वह अन्य साधारण बच्चों जैसा ही है। सौन्दर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत है कि शेक्सपियर या तुलसीदास को पढ़ने वाले दो व्यक्तियों की प्रतिक्रिया एक सी नहीं हो सकती है।

इस तरह के तर्कों में पहला दोष यह है कि उनमें इन्द्रियबोध और भावों को एक ही वस्तु मान लिया गया है। दूसरा दोष यह है कि भावों और इन्द्रियबोध की व्यापकता को अस्वीकार किया गया है। यदि हमें अपने ही देश के पर्वत अच्छे लगें तो दूसरे देशों के पर्वतों को हम कभी भी सुन्दर न कहें। यदि किसी को ऐल्प्स और हिमालय दोनों सुन्दर लगते हैं, तो इससे यही सिद्ध होगा कि व्यक्तिगत सम्बन्धों के अतिरिक्त भी सौंदर्यानुभूति की कोई सामान्य भूमि है। यदि पर्वतों का रूप साधारणतः लोगों को प्रिय हो, यदि

प्रचलित धारणा यह है कि यूरोप भौतिकवादी है और भारत अध्यात्म-वादी। भारत और यूरोप के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह धारणा खण्डित हो जाती है। न तो अध्यात्मवाद पर भारत का एकाधिकार है, न भौतिकवाद पर यूरोप का। कुल मिलाकर यूरोप के विचारकों पर भाववादी दर्शन का प्रभाव यहाँ की अपेक्षा गहरा है। प्लैटो से लेकर हेगल तक यूरोप के अनेक प्रमुख दार्शनिक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि सौंदर्य की सत्ता सुन्दर वस्तु से पृथक् है। प्लैटो के लिए संसार की सुन्दर वस्तुएँ परोक्ष सौन्दर्यसत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; कला इस प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब है, इसलिए दार्शनिक सत्य की तुलना में क्षुद्र है और आदर्श समाज-व्यवस्था से कलाकारों को वहिष्कृत रखना चाहिए। प्लैटो के समान ही हेगल के लिए कला एक निरपेक्ष विचार व्यंजित करती है। महामहो-पाध्याय रामावतार शर्मा ने "यूरोपीय दर्शन" में दिखलाया है कि हेगल ने कला को ज्ञान और धर्म से निम्न स्तर का माना है। निरपेक्ष सत्ता की प्राप्ति में कला पहली सीढ़ी है; उसके बाद धर्म मनुष्य की सहायता करता है। "जिसकी छायामात्र कला और धर्म ने दिखलाई थी, वह साक्षात् ज्ञानावस्था में आ पहुँचता है, सब भेद नष्ट हो जाते हैं और स्वनियत स्वप्रमितिक ज्ञान ही केवल सब रूप को धारण करता हुआ देख पड़ता है।" रामावतार शास्त्री की इस व्याख्या से पाठक देखेंगे कि हेगल की विचारधारा और भारतीय भाववाद में कितना साम्य है।

आधुनिक काल में यूरोप और अमरीका में प्रमुख विचारधारा उन लोगों की है जो सौन्दर्य का उद्‌भव, विकास और परिणति, सब कुछ व्यक्ति के मन में मानते हैं। इन्हीं का एक प्रतिनिधि आचार्य क्रोचे था जिसकी विस्तृत आलोचना शुक्लजी ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद" नाम के निबन्ध में की थी। इस तरह के विचारकों के लिये व्यक्ति का मन एक निरपेक्ष सत्ता बन जाता है। हेगल के लिए इस भौतिक जगत् से निरपेक्ष विचार का सम्बन्ध भी था, इनके लिये व्यक्ति का मन भौतिक जगत् से विच्छिन्न हो जाता है। कला के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मूर्त जगत् के रूपों को किसी न किसी प्रकार अपनाये बिना वे सौन्दर्य की अभिव्यंजना

कर नहीं पाते। कला-शास्त्रियों के एक गिरोह का कहना है कि कलाकार के लिए सामाजिक जीवन अथवा संसार के अन्य रूपों को चित्रों आदि में अंकित करना आवश्यक नहीं है। सौन्दर्य की सूक्ष्म आत्मा मूर्त रूपों से परे है। इसलिये चित्रकला के नाम पर वे ज्यामिति की रेखाएँ प्रस्तुत करते हैं और उन सूक्ष्म रेखाओं द्वारा अपने निरपेक्ष मन का सौन्दर्य व्यंजित करते हैं। कलाकार के कर्म और उसकी विचारधारा कला और सौन्दर्य-शास्त्र—का घनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट दिखाई देता है। यूरोप और अमरीका का चरम व्यक्तिवाद अनेक कलाकारों को उस सीमा तक खींच ले गया है जहाँ कला अपनी सारी विशेषताएँ खो बैठती है। इसी व्यक्तिवाद से प्रभावित हिन्दी के अनेक कवि हैं जिनका मन सभी तरह की सामाजिकता से मुक्त हो गया है; छिन्न लय, प्रच्छन्न अर्थ, विच्छिन्न शब्दावली से अलंकृत रचनाओं में अपनी कुण्ठा, घुटन और व्यक्तित्व के विघटन के चित्रण में ही इन्हें कला और सौन्दर्य की इति दिखलाई पड़ती है। इस कविकर्म के मूल में यह धारणा है कि सौन्दर्य, रस, भावना आदि का एक मात्र और निरपेक्ष स्रोत व्यक्ति का मन है।

व्यक्ति के मन में सौन्दर्य की सत्ता मानने वालों का मुख्य तर्क यह है: एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुन्दर अथवा असुन्दर लगती है। हमें अपने देश के पहाड़ बहुत सुन्दर लगते हैं; दूसरों के लिये वे साधारण पर्वत मात्र हैं। माँ को अपना बच्चा बहुत सुन्दर लगता है; दूसरों के लिये वह अन्य साधारण बच्चों जैसा ही है। सौन्दर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत है कि शेक्सपियर या तुलसीदास को पढ़ने वाले दो व्यक्तियों की प्रतिक्रिया एक सी नहीं हो सकती है।

इस तरह के तर्कों में पहला दोष यह है कि उनमें इन्द्रियबोध और भावों को एक ही वस्तु मान लिया गया है। दूसरा दोष यह है कि भावों और इन्द्रियबोध की व्यापकता को अस्वीकार किया गया है। यदि हमें अपने ही देश के पर्वत अच्छे लगें तो दूसरे देशों के पर्वतों को हम कभी भी सुन्दर न कहें। यदि किसी को ऐल्प्स और हिमालय दोनों सुन्दर लगते हैं, तो इससे यही सिद्ध होगा कि व्यक्तिगत सम्बन्धों के अतिरिक्त भी सौंदर्यानुभूति की कोई सामान्य भूमि है। यदि पर्वतों का रूप साधारणतः लोगों को प्रिय हो, यदि

प्रचलित धारणा यह है कि यूरोप भौतिकवादी है और भारत अध्यात्म-वादी। भारत और यूरोप के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह धारणा खण्डित हो जाती है। न तो अध्यात्मवाद पर भारत का एकाधिकार है, न भौतिकवाद पर यूरोप का। कुल मिलाकर यूरोप के विचारकों पर भाववादी दर्शन का प्रभाव यहाँ की अपेक्षा गहरा है। प्लैटो से लेकर हेगल तक यूरोप के अनेक प्रमुख दार्शनिक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि सौंदर्य की सत्ता सुन्दर वस्तु से पृथक् है। प्लैटो के लिए संसार की सुन्दर वस्तुएँ परोक्ष सौन्दर्यसत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; कला इस प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब है, इसलिए दार्शनिक सत्य की तुलना में क्षुद्र है और आदर्श समाज-व्यवस्था से कलाकारों को बहिष्कृत रखना चाहिए। प्लैटो के समान ही हेगल के लिए कला एक निरपेक्ष विचार व्यंजित करती है। महामहो-पाध्याय रामावतार शर्मा ने "यूरोपीय दर्शन" में दिखलाया है कि हेगल ने कला को ज्ञान और धर्म से निम्न स्तर का माना है। निरपेक्ष सत्ता की प्राप्ति में कला पहली सीढ़ी है; उसके बाद धर्म मनुष्य की सहायता करता है। "जिसकी छायामात्र कला और धर्म ने दिखलाई थी, वह साक्षात् ज्ञानावस्था में आ पहुँचता है, सब भेद नष्ट हो जाते हैं और स्वनियत स्वप्रमितिक ज्ञान ही केवल सब रूप को धारण करता हुआ देख पड़ता है।" रामावतार शास्त्री की इस व्याख्या से पाठक देखेंगे कि हेगल की विचारधारा और भारतीय भाववाद में कितना साम्य है।

आधुनिक काल में यूरोप और अमरीका में प्रमुख विचारधारा उन लोगों की है जो सौन्दर्य का उद्भव, विकास और परिणति, सब कुछ व्यक्ति के मन में मानते हैं। इन्हीं का एक प्रतिनिधि आचार्य क्रोचे था जिसकी विस्तृत आलोचना शुक्लजी ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद" नाम के निबन्ध में की थी। इस तरह के विचारकों के लिये व्यक्ति का मन एक निरपेक्ष सत्ता बन जाता है। हेगल के लिए इस भौतिक जगत् से निरपेक्ष विचार का सम्बन्ध भी था, इनके लिये व्यक्ति का मन भौतिक जगत् से विच्छिन्न हो जाता है। कला के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मूर्त जगत् के रूपों को किसी न किसी प्रकार अपनाये बिना वे सौन्दर्य की अभिव्यंजना

कर नहीं पाते। कला-शास्त्रियों के एक गिरोह का कहना है कि कलाकार के लिए सामाजिक जीवन अथवा संसार के अन्य रूपों को चित्रों आदि में अंकित करना आवश्यक नहीं है। सौन्दर्य की सूक्ष्म आत्मा मूर्त रूपों से परे है। इसलिये चित्रकला के नाम पर वे ज्यामिति की रेखाएँ प्रस्तुत करते हैं और उन सूक्ष्म रेखाओं द्वारा अपने निरपेक्ष मन का सौन्दर्य व्यंजित करते हैं। कलाकार के कर्म और उसकी विचारधारा कला और सौन्दर्य-शास्त्र—का घनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट दिखाई देता है। यूरोप और अमरीका का चरम व्यक्तिवाद अनेक कलाकारों को उस सीमा तक खींच ले गया है जहाँ कला अपनी सारी विशेषताएँ खो बैठती है। इसी व्यक्तिवाद से प्रभावित हिन्दी के अनेक कवि हैं जिनका मन सभी तरह की सामाजिकता से मुक्त हो गया है; छिन्न लय, प्रच्छन्न अर्थ, विच्छिन्न शब्दावली से अलंकृत रचनाओं में अपनी कुण्ठा, घुटन और व्यक्तित्व के विघटन के चित्रण में ही इन्हें कला और सौन्दर्य की इति दिखलाई पड़ती है। इस कविकर्म के मूल में यह धारणा है कि सौन्दर्य, रस, भावना आदि का एक मात्र और निरपेक्ष स्रोत व्यक्ति का मन है।

व्यक्ति के मन में सौन्दर्य की सत्ता मानने वालों का मुख्य तर्क यह है: एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुन्दर अथवा असुन्दर लगती है। हमें अपने देश के पहाड़ बहुत सुन्दर लगते हैं; दूसरों के लिये वे साधारण पर्वत मात्र हैं। माँ को अपना बच्चा बहुत सुन्दर लगता है; दूसरों के लिये वह अन्य साधारण बच्चों जैसा ही है। सौन्दर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत है कि शेक्सपियर या तुलसीदास को पढ़ने वाले दो व्यक्तियों की प्रतिक्रिया एक सी नहीं हो सकती है।

इस तरह के तर्कों में पहला दोष यह है कि उनमें इन्द्रियबोध और भावों को एक ही वस्तु मान लिया गया है। दूसरा दोष यह है कि भावों और इन्द्रियबोध की व्यापकता को अस्वीकार किया गया है। यदि हमें अपने ही देश के पर्वत अच्छे लगें तो दूसरे देशों के पर्वतों को हम कभी भी सुन्दर न कहें। यदि किसी को ऐल्प्स और हिमालय दोनों सुन्दर लगते हैं, तो इससे यही सिद्ध होगा कि व्यक्तिगत सम्बन्धों के अतिरिक्त भी सौंदर्यानुभूति की कोई सामान्य भूमि है। यदि पर्वतों का रूप साधारणतः लोगों को प्रिय हो, यदि

वे अपने देश के अतिरिक्त अन्य देशों के प्राकृतिक सौन्दर्य पर भी मुग्ध हो सकते हों; और वे मुग्ध होते हैं, तो इससे इन्द्रियबोध की सार्वजनीनता सिद्ध होती है। इस इन्द्रियबोध के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक के मन में मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य से उत्पन्न अनेक प्रकार के भाव भी उदय हो सकते हैं। इन भावों की सत्ता मनुष्य के मन में होगी, किन्तु जिस गोचर सौन्दर्य से ये भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी सत्ता तो प्रकृति में ही है।

सब से पहले इस गोचर सौन्दर्य की बाह्य सत्ता स्वीकार करनी चाहिये। मनुष्य के इन्द्रियबोध का संसार बहुत विशाल है; उसमें एक से अधिक वर्गों और देशों के लोग भाग लेते हैं। ललित कलाओं की सार्वजनीन लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण इन्द्रियबोध की व्यापकता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति में मनुष्य एक दूसरे से उतने पृथक् नहीं हैं जितने भावों और विचारों के संसार में। यह इन्द्रियबोध एक बाह्य, प्रत्यक्ष जगत् का अनुभव है; इन्द्रियों से इस जगत् का बोध होता है; इन्द्रियाँ उसकी सृष्टि नहीं करतीं। इसलिये इन्द्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है, बाह्य जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता है। इन्द्रियाँ सौन्दर्य की परख का साधन हैं, उसका कारण नहीं—जहाँ तक बाह्य जगत् के इन्द्रियबोध का सम्बन्ध है।

इस इन्द्रियबोध के साथ मनुष्य का भावजगत् है। अपने सामाजिक विकास के साथ मनुष्य ने इस भावजगत् को परिष्कृत और समृद्ध किया है। व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं; व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, समाज के बिना व्यक्ति—एक सामाजिक प्राणी के रूप में—असम्भव है। भावजगत् व्यक्ति के मन में ही होता है किन्तु उसका परिष्कृत और समृद्ध रूप सामाजिक विकास और सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है। भावजगत् का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक—दोनों ही कोटि की अनुभूतियाँ हैं। इन दोनों ही कोटि की अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। यह वस्तुगत आधार होने से ही हम एक दूसरे के अनुभव को जानते-पहचानते हैं; भिन्नता के होते हुए भी इस वस्तुगत आधार के कारण हम एक दूसरे के निकट आते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र ने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा इस भाव जगत् की सामान्य अनुभूति-भूमि की ओर

संकेत किया, यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। शुक्लजी ने उस प्राचीन स्थापना को नवीन रूप देते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखा था, "सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"

यूरोप के व्यक्तिवादी विचारक और उनका अनुकरण करने वाले भारतीय लेखक इस सामान्य हृदय की स्थापना को अस्वीकार करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रान्स से व्यक्तिवादियों ने अपने मन में गहरे पैठ कर जो हीरे-मोती निकाले थे, उन्हीं की आभा रूस और इंगलैण्ड के पतनशील कवियों और कलाकारों में देखी गई। आज टी० ऐस० इलियट और उनके भारतीय शिष्यों में गहरी समानता दिखाई देती है। परम्परा के पालन का नारा पुराना पड़ गया है, उसकी जगह प्रयोग और व्यक्ति की स्वाधीनता ने ले ली है। नारे बदल गये हैं लेकिन जिस कुण्ठा, घुटन और विघटन के गीत इलियट ने गाये थे, वे अनेक प्रयोगशील कवियों को आज भी प्रिय हैं। व्यक्ति के निरपेक्ष मन से एक ही तरह के हीरे-मोती क्यों निकलते हैं। इन चरम व्यक्तिवादियों, शुद्ध कलावादियों, सामाजिक दायित्व को बार-बार अस्वीकार करने वाले इन कवियों की अनुभूति में मौलिक अन्तर क्यों नहीं होता? इसलिये नहीं होता कि व्यक्ति की स्वाधीनता की निरन्तर घोषणा करने पर भी इन कलाकारों का मन नितान्त पराधीन है। वे एक सामाजिक परिवेश, उससे भी अधिक सांस्कृतिक परिवेश के दास बन गये हैं। वह सामाजिक दायित्व से अलग रह कर, मुक्ति पाने की आकाङ्क्षा करके भी, मुक्त नहीं हो पाये। उन्होंने दायित्व और मुक्ति का परस्पर सम्बन्ध नहीं समझा; सामाजिक दायित्व के निर्वाह द्वारा ही उनका विकास, अतः मुक्ति, संभव है, यह न मानकर वे एक समाज-विरोधी भावधारा के दास बने हुए हैं। यह मार्ग उनके आत्मघात का मार्ग है।

चरम व्यक्तिवादी भी अपने कर्म से व्यक्ति के मन की निरपेक्षता सिद्ध नहीं कर पाते। इसका कारण, शुक्लजी के शब्दों में यह है, "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है।" इस लोक

में अनेक वर्ग, देश, जाति के भेद हैं; ये भेद भी कालक्रम में परिवर्तित हं रहते हैं। लोक स्थायी और जड़ इकाई नहीं है; वह गतिशील और विका मान है। इसलिये मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति में समानता के साथ भिन्नता : होती है; यह अनुभूति सापेक्ष रूप में स्थायी होने के साथ परिष्कृत और वि: सित भी होती है।

मनुष्य अपने भावजगत् की रचना स्वयं करता है किन्तु वह इ कार्य को देशकाल की किन्हीं परिस्थितियों में ही संपन्न करता है औ ये परिस्थितियाँ उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं होतीं। भावों की व्यक्तिग अनुभूति के कारण उसके लिये उनकी वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करन कठिन होता है। बाह्य जगत् का इन्द्रिय बोध और मनुष्य के मन क भावजगत् एक ही यथार्थ के दो पक्ष हैं जो एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्: न होकर परस्पर सम्बद्ध हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव-चेतना के बा: में जो भी खोज की है, उससे भी यह परिणाम निकलता है कि यह चेतन जितने स्तरों पर अथवा जितने रूपों में कार्य करती है और जिन नियमों से परिचालित होती है, उन्हें बहुधा मनुष्य स्वयं नहीं जानता। कलाकृति का वस्तुगत सौन्दर्य और भी असन्दिग्ध है। कवि घोषित करता है एक उद्देश्य, उसकी रचना का आन्तरिक तत्व कुछ दूसरा ही बन जाता है। मिल्टन ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य "पैरेडाइज़ लॉस्ट" इस घोषित उद्देश्य से लिखा कि वह आदम और हव्वा की कहानी में ईश्वर के व्यवहार को न्यायपूर्ण ठहरा-येगा। महाकाव्य का आन्तरिक तत्व मिल्टन के संघर्षमय जीवन और इंग-लैण्ड के नवजागरण युग का प्रतिबिम्ब बन गया; यह कार्य मिल्टन के न चाहने पर भी कार्य-रचना के वस्तुगत कारणों द्वारा संभव हुआ। जीवन की तरह कला के क्षेत्र में भी बहुधा मनुष्य करना कुछ चाहता है, होता कुछ और है। जीवन की तरह कला के क्षेत्र में भी वह परिस्थितियों, कला के उपकरणों पर पूरी तरह हावी नहीं हो पाता, उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं और कलात्मक सृष्टि के वस्तुगत नियमों में सदा मेल नहीं हो पाता। इसलिये उसके कार्य का फल उसकी इच्छाओं से भिन्न अथवा उनसे विपरीत भी होता है।

मनुष्य के ज्ञान से उसकी भावानुभूति का गहरा सम्बन्ध है। जिन वस्तुओं

से उसका परिचय ही न होगा, उनसे प्रभावित होना उसके लिये संभव न होगा। विज्ञान और कलात्मक सौन्दर्य एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर सहायक हैं। विश्व से मनुष्य का परिचय निरन्तर बढ़ रहा है। परिचय का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है, साथ ही उस विस्तार की गम्भीरता भी बढ़ रही है। मनुष्य वस्तुगत संसार का अङ्ग है, उस संसार का मानवीय ज्ञान निरन्तर बढ़ रहा है और इस प्रगति की कोई सीमा नहीं है। इस ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ, यांत्रिक रूप से, मनुष्य के भावजगत् का प्रसार नहीं होता किन्तु उस प्रसार की संभावना अवश्य उत्पन्न होती है।

कलाकृति से जो सौन्दर्यबोध उत्पन्न होता है, वह भी दर्शक, पाठक या श्रोता के ज्ञान पर निर्भर होता है। कलाकृति का सम्यक् ज्ञान न होने पर वह उस पर अपने भाव आरोपित करता है और समझता है कि सौंदर्य कलाकृति में नहीं, उसके मन में है। इससे सिद्ध यह होता है कि उसकी सौंदर्यानुभूति में अवास्तविकता का अंश मिला हुआ है। इससे कलाकृति के सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता असिद्ध नहीं होती। इटली के कवि दान्ते पर अपने निबन्ध में इलियट ने इटालियन भाषा के न समझ पाने पर या कम समझ पाने पर भी दान्ते की कविता पढ़ कर प्रसन्न होने की बात लिखी है। इसका कारण दान्ते की रचना में इलियट के अपने भावों का आरोपण हो सकता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि काव्य-सौंदर्य इलियट के मन में है, न कि दान्ते के काव्य में।

इंगलैण्ड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक कौडवेल ने "सौन्दर्य" पर अपने निबन्ध में सौंदर्य क्या है, इस प्रश्न के सिलसिले में लिखा है, "सब से सीधा उत्तर यह है कि सभी वस्तुओं [कौडवेल का तात्पर्य सुन्दर वस्तुओं से है] से मनुष्य का सामान्य संबन्ध है; इसलिये सौंदर्य मनुष्य में है। मनुष्य की एक दशा का नाम सौंदर्य है। पूँजीवादी सौंदर्यशास्त्री के लिये समस्या का यह बहुत सीधा समाधान इतना स्पष्ट मालूम होता है कि अन्य व्यक्ति कुछ और सोचें तो उसका धैर्य छूट जाता है।" कौडवेल ने इस तरह के सौन्दर्य-शास्त्रियों में इङ्गलैण्ड के विचारक आई० ए० रिचार्ड्स और सी. के. औग्डेन की गणना की है और उनके आत्मगत सौंदर्यवाद की आलोचना की है

किन्तु कौडवेल के लिये सौंदर्य सी वस्तुगत सत्ता भी नहीं है; वे उसे वस्तु और मानवमन का परस्पर सम्बन्ध मानते हैं। मानवमन से स्वतन्त्र सौंदर्य को वह भाववादी दार्शनिकों की कल्पना, सौन्दर्य-सम्बन्धी निराकार भावना मानते हैं।

वास्तव में निराकार आदर्श सौन्दर्य की कल्पना करने वाले भाववादी दार्शनिक वास्तविक जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता से इन्कार करते हैं। वे वस्तु के गुण को वस्तु से अलग करके देखते हैं। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता का अर्थ है, सौन्दर्य नाम के गुण को वस्तु से अलग करके न देखना। कौडवेल ने आगे लिखा है, "सौन्दर्य सामाजिक है। वह वस्तुगत है क्योंकि उसका अस्तित्व मुझ से अलग समाज में है।" जहाँ तक मनुष्य के भावजगत् का सम्बन्ध है, उसका सौन्दर्य सामाजिक है। किन्तु प्रकृति का सौन्दर्य? उसकी अनुभूति सामाजिक है किन्तु वह सौंदर्य, जहाँ तक वह वास्तव में प्रकृति का सौन्दर्य है, सामाजिक न होकर प्राकृतिक है। कौडवेल के चिन्तन में वस्तुगत सौन्दर्य और उसकी सामाजिक अनुभूति को मिला दिया गया है।

क्या मनुष्य से पहले भी प्रकृति सुन्दर थी? क्या जिस प्रकृति को मनुष्य ने नहीं देखा, वह भी सुन्दर हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि सुन्दर से हमारा तात्पर्य प्रकृति के गुणों से है अथवा उस पर आरोपित अपने भावों से। यदि तात्पर्य गुणों से है तो उनकी सृष्टि मनुष्य नहीं करता; वह अपने विकासक्रम में केवल उन्हें पहचानना सीखता है। प्रकृति का यह सौन्दर्य अर्थात् उसके गुण मनुष्य के अभाव में भी विद्यमान रहते हैं। यदि तात्पर्य भावारोपण से है तो मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य न देखकर अपने स्वभाव और इच्छाओं के अनुरूप सौन्दर्य की कल्पना मात्र करता है; प्राकृतिक सौन्दर्य से इस कल्पना का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सामाजिक विकास के सन्दर्भ में सौन्दर्यबोध की परीक्षा करने पर एक समस्या यह उत्पन्न होती है: क्या मनुष्य नामधारी जीव ने अपना मानवीय सामाजिक जीवन आरम्भ करने से पहले भी कोई सौंदर्य-सम्बन्धी संस्कार अर्जित किये थे? क्या सौन्दर्यबोध का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से भिन्न

मनुष्य के प्राणिगत जीवन से भी अथवा सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान से भी है ?

सौन्दर्य के सम्बन्ध में डार्विन ने लिखा था कि सुन्दर पंखों वाले नर पक्षी अपने रंगीन पंखों के प्रदर्शन से मादा पक्षियों को रिझाते हैं। इसी तरह ऋतु-विशेष में वे अपने संगीत से उन्हें आकर्षित करते हैं। इन तथ्यों की ओर संकेत करके डार्विन ने लिखा था, "यदि मादा पक्षी अपने नर साथियों के सुन्दर रंगों, आभूषणों और स्वर के आकर्षण को पहचानने में असमर्थ हों तो उनके सामने अपने आकर्षण प्रदर्शित करने में उनकी जो चिन्ता और श्रम प्रकट होते हैं, वे सब व्यर्थ जायँ; और यह स्वीकार करना असम्भव है। मेरी समझ में कुछ चमकीले रंग और कुछ स्वर, संगति (Harmony) होने पर, क्यों आनन्द देते हैं, इसकी व्याख्या वैसे ही नहीं हो सकती जैसे इस बात की कि कुछ गन्ध और रस (Flavours) रुचिकर होते हैं। लेकिन यह निश्चित है कि उन्हीं रंगों और उन्हीं स्वरों को हम पसन्द करते हैं और बहुत से निम्न जीव भी।"

मनुष्य का सौन्दर्यबोध उसके सामाजिक जीवन का ही परिणाम नहीं है, उससे भी पहले वह उसके प्राग्मानवीय विकास का परिणाम है। पक्षियों में कुछ तो रंगों और स्वरों के आकर्षण से परिचित होते हैं, कुछ नहीं। जो परिचित होते हैं, वे सौन्दर्यबोध की दृष्टि से इतर पक्षियों की तुलना में अधिक विकसित स्तर के प्राणी हैं। मार्क्सवादी साहित्य में कभी-कभी सौन्दर्य-बोध को आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब मान लिया जाता है। सौन्दर्यबोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है किन्तु वह उसका प्रतिबिम्ब नहीं है।

डार्विन से उपर्युक्त कोटि के वाक्य उद्धृत करने के बाद रूसी विचारक प्लेखानोव ने "कला और सामाजिक जीवन" में लिखा था, "और इस तरह डार्विन द्वारा उद्धृत तथ्यों से जैसे निम्न जीवों की, वैसे मनुष्य की भी, सौन्दर्यानुभूति की क्षमता प्रमाणित होती है और यह तथ्य प्रमाणित होता है कि कभी-कभी हमारी सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि से मेल खाती है। लेकिन समस्या रुचि के उद्गम की है; उसकी व्याख्या इन तथ्यों से नहीं होती।" यदि मनुष्य की सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि निम्न जीवों की रुचि से मेल खाती है, यदि

निम्न जीवों में भी इस रुचि का अस्तित्व प्रमाणित होता है, तो यह स्वीकार करना होगा कि इस रुचि का उद्गम सामाजिक जीवन में होना अनिवार्य नहीं है। मनुष्य का इन्द्रियबोध, इस इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के साथ उसके भावजगत् का उद्भव और उसका सौन्दर्यबोध— इन सबके मूल उपकरण सामाजिक जीवन आरम्भ होने से पहले उसके पास प्रस्तुत रहते हैं। समाजशास्त्र सौन्दर्यबोध के विकास, भिन्न वर्गों, जातियों और युगों में उसकी भिन्नता की व्याख्या कर सकता है, वह उसके उद्गम की व्याख्या नहीं कर सकता। उद्गम की व्याख्या के लिये समाज-शास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान की सहायता आवश्यक है। उद्गम ही नहीं, एक ही समाज, एक ही वर्ग, एक ही परिवार, एक ही वातावरण में रहने वाले लोगों की सौंदर्य-सम्बन्धी रुचि की भिन्नता की व्याख्या करने के लिए समाज-शास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान की सहायता लेनी पड़ेगी।

मार्क्सवादी साहित्य में आर्थिक व्यवस्था को आधार तथा कला, साहित्य, संस्कृति आदि को उस पर निर्मित इमारत माना जाता है। आर्थिक व्यवस्था बदलने पर ऊपर की इमारत भी बदल जाती है। "अर्थशास्त्र की आलोचना को „एक देन" में मार्क्स ने विचारधारा के अन्तर्गत मनुष्य के सौन्दर्यबोध को भी गिना है। मार्क्सवादी साहित्य में कला, साहित्य और संस्कृति को मनुष्य की विचारधारा के रूपों (ideological forms) में गिना जाता है।

कला का सम्बन्ध विचारों के साथ मनुष्य के इन्द्रियबोध और उसके भावों से भी है। विचारों की व्यंजना भाषा के बिना नहीं हो सकती। तब वे ललित कलाएँ, जिनमें भाषा का प्रयोग नहीं होता, विचारधारा के रूपों में कैसे गिनी जा सकती हैं ? साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है; उसका भावों और इन्द्रियबोध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि ललित कलाओं को विचारधारा के रूपों में गिनना सही नहीं है।

मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं में मनुष्य के विचारों को उसके भौतिक जीवन का प्रतिबिंब कहा गया है। विचार प्रतिबिम्ब हों तो मानव-मस्तिष्क दर्पण मात्र सिद्ध होगा। किन्तु क्या मनुष्य की चेतना दर्पण मात्र है ?

मनुष्य के विचार उसकी सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करते हैं,

इसीलिये वर्गों के भिन्न दृष्टिकोण, उनकी भिन्न विचारधाराएँ होती हैं। किन्तु मानव-चेतना में यह क्षमता है कि वह इस सामाजिक स्थिति से ऊपर उठ सके, चिन्तन की भौतिक सीमाओं से ऊपर उठ कर अपेक्षाकृत स्वतन्त्र स्तर पर विकसित हो सके। सम्पत्तिशाली वर्गों में उत्पन्न होने वाले, किन्तु संपत्तिहीन श्रमिक वर्ग की मुक्ति के लिये संघर्ष करने वाले मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन का जीवन मानव-चेतना की इस क्षमता को सिद्ध करता है। "प्रकृति का द्वन्द्ववाद" पुस्तक में एंगेल्स ने पूँजीवाद के अभ्युदय और यूरोप के नवजागरण युग के बारे में लिखा था, "जिन लोगों ने पूँजीपतियों के आधुनिक शासन की नींव डाली थी, उनमें पूँजीवादी सीमाओं जैसी कोई चीज नहीं थी।" ("The men who founded the modern rule of the bourgeoisie had anything but burgeois limitations.") या तो पूँजीवादी शासन की नींव डालने वाले स्वयं पूँजीवादी नहीं थे, या पूँजीवादी होते हुए भी वे अपने आर्थिक जीवन की सीमाओं से ऊपर उठ सके। एंगेल्स के वाक्य से इस धारणा का खंडन होता है कि मनुष्य के विचार उसके भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; इसके विपरीत इस वाक्य से तथा यूरोप के नव जागरण युग के एंगेल्स द्वारा दिये हुए विवरण से मानव-चेतना की रचनात्मक क्षमता के बारे में धारणा पुष्ट होती है। "अर्थशास्त्र की आलोचना को एक देन" में मार्क्स ने प्राचीन यूनान की कला के बारे में लिखा था, "यह एक जानी-मानी बात है कि समाज के साधारण विकास से कला के उच्चतम विकास के कुछ युगों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, न उसके [समाज के] संगठन के मूल ढाँचे और भौतिक आधार से उनका प्रत्यक्ष संबंध है। आधुनिक जातियों की, अथवा शेक्सपियर की भी, तुलना में यूनानियों का उदाहरण देखिये।" यदि यूनान की कला के भौतिक परिवेश से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है तो हम कला को भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब कैसे कह सकते हैं?

इससे कला की समाज-निरपेक्षता सिद्ध नहीं होती; भौतिक जीवन से उसकी सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है। कला की विषयवस्तु न वेदान्तियों का ब्रह्म है, न हेगल का निरपेक्ष विचार। मनुष्य का इन्द्रियबोध,

उसके भाव, उसके विचार, उसका सौन्दर्यबोध कला की विषयवस्तु हैं। सामाजिक विकास की परिस्थितियों से कला की विषयवस्तु प्रभावित होती है, एक सीमा तक नियमित होती है किन्तु वह आर्थिक जीवन का प्रतिविम्ब मात्र नहीं है। इसलिए विभिन्न युगों, विभिन्न जातियों और विभिन्न वर्गों के सौन्दर्यबोध में भिन्नता के साथ समानता भी होती है, इसीलिये अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों के होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि उच्च कोटि की कला का निर्माण भी हो जाय।

मार्क्सवादी विचारक रैल्फ फौक्स का मत था कि कला को भौतिक जीवन का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब मानना मार्क्सवाद की स्थापना है ही नहीं। उनके अनुसार मार्क्स यह न मानते थे कि जब पूँजीवाद सामन्तवाद की जगह ले लेता है, तब पूँजीवादी कला तुरन्त सामन्तवादी कला की जगह ले लेती है, न वह यह मानते थे कि "चूँकि उत्पादन का पूँजीवादी तरीका सामन्ती तरीके से अधिक प्रगतिशील है, इसलिये पूँजीवादी कला सामंती कला से सदा ऊँचे स्तर की होनी चाहिये।" पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति के सामन्ती पद्धति से अधिक प्रगतिशील होने पर भी यदि पूँजीवादी कला सामन्ती कला से अनिवार्यतः ऊँचे स्तर की नहीं होती, तो इससे कला की सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है। मूल समस्या फिर सामने आती है; मनुष्य की चेतना और उसके विचार सामाजिक परिवेश का प्रतिविम्ब हैं, या उस परिवेश से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होने की क्षमता भी उनमें है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे अपेक्षाकृत स्वतन्त्र भी हैं।

व्यवहार में मार्क्सवादी विचारक साहित्य और कला के राजनीतिक उद्देश्य पर ज़ोर देते हैं। यह ज़ोर अंशतः सही है किन्तु साहित्य और कला के सभी रूपों से हम एक ही माँग नहीं कर सकते। गोर्की का "माँ" जैसा उपन्यास राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति करे, यह उचित है; किन्तु "मृत्यु और लड़की" पर उसकी प्रेम-सम्बन्धी कविता भी उसी उद्देश्य की पूर्ति करे, यह आवश्यक नहीं है। गोर्की की कविता से यह परिणाम निकालना कि सभी साहित्य राजनीतिक-उद्देश्य-विहीन होना चाहिये, उतना ही ग़लत है, जितना कि उसके उपन्यास से यह परिणाम निकालना कि सभी साहित्य राजनीतिक-

उद्देश्य-युक्त होना चाहिये। साहित्य के रूपों की विविधता को ध्यान में रखकर ही उनकी विषयवस्तु के औचित्य के बारे में मत स्थिर किया जा सकता है।

अस्तु, सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति में है, मानव-जीवन और मनुष्य की चेतना में है। सौंदर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है, उसकी सत्ता मनुष्य के भावजगत् और उसके विचारों में भी है। कला के माध्यम के अनुरूप उसकी विषयवस्तु में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का अनुपात निश्चित होता है। साहित्य से भिन्न चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं में इन्द्रियबोध और भाव होंगे, विचार नहीं। कोई भी ललित कला शुद्ध विचारधारा के अन्तर्गत नहीं आती, साहित्य भी नहीं आता। साहित्य विचारशून्य नहीं होता किन्तु शुद्ध विचारों से साहित्य का निर्माण नहीं होता। विचारों के साथ इन्द्रियबोध और भाव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। विभिन्न वर्गों के विचारों में ही नहीं, उनके भावों और इन्द्रियबोध में भी अन्तर होता है। हिन्दी के अनेक प्रयोगशील कवियों के उपमान उनके अस्वस्थ इन्द्रियबोध और भावों की ओर संकेत करते हैं। फिर भी कला का सार्वजनीन आधार मनुष्य का इन्द्रियबोध और उसके भाव हैं। इनका उद्गम मनुष्य के सामाजिक जीवन से भी पहले है। स्वर और रंगों के प्रति आकर्षण तथा प्रेम, घृणा आदि के भाव पशु-पक्षियों में भी मिलते हैं। सामाजिक विकास क्रम में इन्द्रियबोध और भाव परिष्कृत और समृद्ध होते हैं, नये प्रकार के भावों और इन्द्रियबोध का जन्म भी होता है किन्तु मनुष्य का सौन्दर्यबोध मूल रूप में सामाजिक विकास की देन नहीं है।

सौन्दर्यबोध एक संश्लिष्ट इकाई है। सौन्दर्य प्रकृति में है, मनुष्य के मन में भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होती है, समाजगत भी। व्यक्ति समाज का अंग है, इसलिये न तो समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता होती है, न समाज-निरपेक्ष सौन्दर्यानुभूति की संभावना होती है। कला के विभिन्न रूपों में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का भिन्न अनुपात रहता है। सामाजिक विकास से संबद्ध कला के अनेक तत्व जहाँ आर्थिक जीवन पर निर्भर होते हैं, उनका एक स्पष्ट वर्ग-आधार होता है, वे आर्थिक व्यवस्था के बदलने पर या कुछ समय बाद परिवर्तित हो जाते हैं, वहाँ अनेक तत्व

अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं, वर्गों से परे और बहुत कुछ अपरिवर्तनशील होते हैं। इन अपेक्षाकृत स्थायी तत्वों का सम्बन्ध मनुष्य के भावों और उसके इन्द्रियबोध से अधिक होता है। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता होती है, इसलिये शुद्ध सौन्दर्य नाम की कोई चीज नहीं होती। शुक्ल जी के शब्दों में सुन्दर वस्तु से अलग सौन्दर्य नहीं होता। सौन्दर्य की इस वस्तुगत सत्ता, सामाजिक विकास से उसके सापेक्ष सम्बन्ध, कला और साहित्य के रूपों के अनुसार उनकी विषयवस्तु की विविधता को ध्यान में रख कर ही हम सौन्दर्यशास्त्र का सही विवेचन कर सकते हैं और सौन्दर्य-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

काव्य में उदात्त तत्व और रमणीयता

अफलातून और अरस्तू के बाद पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में लोंगिनुस (अथवा लोंजाइनस) का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्यतः हिन्दी साहित्य और विशेषतः हिन्दी आलोचना के विकास के लिये यह आवश्यक है कि पाश्चात्य विचारकों के मुख्य ग्रन्थ हिन्दी पाठकों को सुलभ हों जिससे वे अपने साहित्यशास्त्र का तुलनात्मक विवेचन कर सकें। इसलिये लोंगिनुस के निबन्ध का हिन्दी अनुवाद* स्वागत योग्य है।

लोंगिनुस के इस निबन्ध में होमर आदि कवियों से उद्धरण देकर उदात्त तत्व का विवेचन किया गया है। साथ ही देमोस्थनेस आदि वक्तृत्वकला-विशारदों को भी आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन काल में गद्य और काव्य अथवा वक्तृत्व कला और काव्यकला का घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य था पर दोनों एक ही वस्तु नहीं थीं। लोंगिनुस कहता है, "इस विषय में भाषण शास्त्र के लेखकों की व्याख्याओं से मुझे सन्तोष नहीं।" (पृ० ६४) फिर वह अपनी व्याख्या प्रस्तुत करता है। आगे चल कर कहता है, "संचयन, रूप-परिवर्तन तथा सार नामक अलंकार सार्वजनिक वक्तृता के उत्तम साधन हैं।" (पृ० ८३) वक्तृत्वकला और शिल्पकला का भेद करते हुए वह कहता है, "मूर्तियों में मानव की अनुरूपता ही आवश्यक होती है, पर भाषण में, जैसा कि मैंने कहा, हम ऐसे गुण की अपेक्षा करते हैं जो मानवोपरि हो।" (पृ० १०२) इससे स्पष्ट है कि लोंगिनुस के लिये उदात्त तत्व काव्य की ही निधि नहीं है; उसका क्षेत्र व्यापक है। कवि

***—काव्य में उदात्त तत्व [लोंगिनुस (लोंजाइनस) के काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन और 'पेरि इप्सुस' का हिन्दी अनुवाद] भूमिका ले० डा० नगेन्द्र, अनुवादक-डा० नगेन्द्र और नेमिचन्द जैन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, मूल्य—साढ़े तीन रुपये।**

और वक्ता की भिन्नता और समानता का उल्लेख करते हुए वह कहता है, "कल्पना-चित्र का वक्ता के लिए एक उपयोग है और कवि के लिए दूसरा। जहाँ काव्य के क्षेत्र में कल्पना चित्र का उद्देश्य होता है प्रत्यक्ष वर्णन करना। किन्तु आवेगों और भावनाओं को तो दोनों ही उद्बुद्ध करते हैं।" (पृ० ६६) इस कारण हिन्दी अनुवाद में निबन्ध का शीर्षक "काव्य में उदात्त तत्व" मूल निबन्ध के विषय की ओर ठीक संकेत नहीं करता।

लोंगिनुस की रचना उस युग की है जिसमें सामंती दरबार और उनके राजकवि और आश्रित आचार्य अपने लक्षण ग्रन्थों की रचना करने लगे थे। उनकी तर्कपद्धति उस जड़ दृष्टिकोण को अपना रही थी जो स्कोलैस्टिक तर्कशास्त्र की विशेषता बना। इस दृष्टिकोण के अनुसार संसार स्थिर है, समाज स्थिर है, साहित्य के मानदण्ड स्थिर हैं, साहित्य के विभिन्न अंग—विचार, भाव, भाषा, अलंकार, आदि—सब एक दूसरे से भिन्न और अपरिवर्तनशील नियमों में बँधे हुए हैं। लोंगिनुस की विचारधारा इस जड़ तर्क-जाल को छिन्न-भिन्न कर देती है। उसे प्रथम रोमांटिक आलोचक कहा गया है। कुछ लोग उसे रीतिवादी अथवा क्लैसिसिस्ट (शास्त्रानुवर्ती) विचारक मानते हैं। अफलातून (या प्लैटो) ने उसे प्रभावित किया, यह सभी मानते हैं। हिन्दी वक्रोक्ति जीवित की भूमिका में डा० नगेन्द्र ने यह मत प्रकट किया "यूनानी रोमी आचार्यों में वक्तृत्व का सबसे प्रबल समर्थन लांजाइनस ने किया है, परन्तु यह समर्थन अप्रत्यक्ष रूप में ही किया गया है।....उदात्त की परि-कल्पना में वक्तृत्व का प्रवेश अनिवार्यरूप से हो जाता है।" (पृ० २२) रीतिवादी, रोमान्टिक अथवा शुद्धकलावादी दृष्टिकोण से लोंगिनुस का महत्व नहीं समझा जा सकता है। "काव्य में उदात्त तत्व" की भूमिका पढ़ने पर लगता है कि जड़ दृष्टिकोण को बदले बिना लोंगिनुस के सिद्धान्तों को सही-सही प्रस्तुत करना भी कठिन हो जाता है।

लोंगिनुस अफलातून से प्रभावित था। काव्य और वक्तृता में वह सहज भावोद्रेक का महत्व समझता था। साथ ही वह अरस्तू तथा अन्य यूनानी दार्शनिकों की द्वन्द्वात्मक विचारपद्धति से भी परिचित था। इस द्वन्द्वात्मक पद्धति के बल पर ही लोंगिनुस ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचा है जो एक ओर तो

दरबारी कवियों के चमत्कारवाद का खंडन करते हैं, दूसरी ओर वर्तमान युग के नाना रूपों में प्रकट होने वाले व्यक्तिवादी कलादर्शन का भी ध्वंस कर देते हैं।

लोंगिनुस के निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है ? भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका में डा० नगेन्द्र ने इस विषय में लिखा था, "काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन ही उन्हें अभीष्ट रहा है—उन्हीं के प्रसंग में लान्जाइनस ने शैली पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं।" (पृ० ११०) इस कथन के अनुसार लोंगिनुस के निबन्ध में काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन मुख्य है; शैली का विवेचन प्रसंगवश आ गया है और गौण है।

"काव्य में उदात्त तत्व" की भूमिका में नगेन्द्र जी ने दूसरा मत प्रकट किया है : "इसमें उदात्त कला की प्रेरक भावनाओं और धारणाओं का विश्लेषण नहीं वरन् उदात्त शैली के आधार-तत्वों का विवेचन प्रधान है।" (पृ० ६) इस कथन के अनुसार शैली-विवेचन मुख्य है; काव्य के मूल सिद्धान्तों का विवेचन गौण है।

लोंगिनुस के निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है, शैली बिवेचन मुख्य है या काव्य के मूल सिद्धान्तों का विवेचन इस साधारण से प्रश्न पर डॉ० नगेन्द्र जैसे आचार्य के दो मतों का प्रकट होना भी लोंगिनुस के निबन्ध के असाधारण महत्व का प्रमाण है।

लोंगिनुस विचार, भाव और भाषा पर एक साथ विचार करता है। "विचार और पद-विन्यास अधिकतर एक-दूसरे के आश्रय से विकसित होते हैं।" (पृ० ६०) जब वह भाषा पर विचार करता है, तब भाव और विचार उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होते; जब वह भावों और विचारों का विवेचन करता है, तब भाषा का भी ध्यान रखता है।

यह उदात्त तत्व है क्या ? रस, ध्वनि, अलँकार गुण—इनमें से कोई एक है या इनमें से अनेक से मिल कर बना हुआ तत्व है या इनसे भिन्न कोई अद्भुत तत्व है ? डा० नगेन्द्र ने उसे विभाव, भाव और शैली तीनों माना है। "विभाव रूप में" वह अनन्त विस्तार, असाधारण शक्ति आदि गुणों से सम्पन्न काव्य का "विषय" है। भावरूप में वह उल्लास और विस्मय

से पुष्ट आत्मा की प्रबल अनुभूति है। शैली के रूप में उसके आधारतत्व हैं, उत्कृष्ट भाषा, गरिमामय रचना विधान, भव्य योजना आदि।

लोंगिनुस के अनुसार "उदात्त तत्व उपयुक्त-क्षण में बिजली की भाँति कौंध समस्त विषयवस्तु को छिन्न-भिन्न करता हुआ वक्ता की शक्ति के सम्पूर्ण वैभव को एक ही बार में उजागर कर देता है।" काव्य अथवा वक्तृता के एक विशेष गुण का नाम उदात्त है। उसकी विशेषता पाठक और श्रोता पर उसके प्रभाव से पहचानी जाती है। वह चेतना में एक प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन उत्पन्न कर देता है जो वक्ता अथवा कवि की शक्ति को एकबारगी उजागर कर देता है। लोंगिनुस का आदर्श वक्ता देमोस्थेनेस "अपने श्रोताओं को पूर्णतः अपने साथ बहा ले जाता है।" यह गुण काव्य अथवा वक्तृता में अनेक तत्वों के सामञ्जस्य से उत्पन्न होता है किन्तु उन तत्वों को अलग-अलग अपनी भिन्नता में उदात्त की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

विषयवस्तु पर विचार करते हुए लोंगिनुस ने असाधारणता और विस्मय का उल्लेख अवश्य किया है किन्तु ये विस्मयकारी वस्तुएँ यथार्थ जगत की हैं, कल्पना-प्रसूत नहीं। अपने द्वन्द्ववादी चिन्तन के कारण लोंगिनुस का दृष्टिकोण यथार्थवाद का विरोधी न होकर उसका समर्थक है। होमर के दूसरे काव्य ओद्युस्सेइआ (ओडिसी) में कवि की प्रतिभा के क्षीण होने का उल्लेख करते हुए उसने कहा है, "इस समस्त काव्य में यथार्थ की अपेक्षा कल्पना की ही प्रधानता है।" (पृ० ६०) अन्यत्र उसने यह मत प्रकट किया है, "भाषण सम्बन्धी अप्रस्तुत विधान का सबसे उत्तम गुण है यथार्थता और सत्यता।" (पृ० ७२) उदात्त की असाधारणता का आधार साधारण जीवन ही है। लोंगिनुस कहता है, "यह तो तुम जानते ही हो कि जो बात मनुष्य के विषय में सही है, वही उदात्त के विषय में भी है।" (पृ० ५१) डॉ० नगेन्द्र ने अपने रीतिवादी दृष्टिकोण के कारण अपनी भूमिका में यथार्थ जीवन सम्बन्धी लोंगिनुस के इन विचारों को भुला दिया है। असाधारणता पर अत्यधिक बल देने से उनका विवेचन एकांगी हो गया है।

यह ध्यान देने की बात है कि लोंगिनुस ने जहाँ काव्य-वस्तु के लिये विराट् की ओर संकेत किया है, वहाँ उसका उद्देश्य कवि के संकुचित अहंवाद

का खंडन करना है। वह मनुष्य और पशुओं का भेद बतलाते हुए कहता है कि प्रकृति "हमें जीवन के क्षेत्र में और इस विराट् विश्व में प्रविष्ट करती है, मानो किसी बड़ी सभा में प्रविष्ट कर रही हो—इस उद्देश्य से कि हम इस विराट् पूर्णता का दर्शन करें और गौरव के उत्कट अभिलाषी बनें" (पृ० १००)। लोंगिनुस के उदात्त की असाधारणता उसके मानववाद से सम्बद्ध है; वह व्यक्ति को अपनी अहंवादी भावनाओं से बाहर निकल कर विश्वदर्शन की प्रेरणा देता है। डा० नगेन्द्र ने स्वभावतः इस अहंवाद-विरोधी दृष्टिकोण की भी उपेक्षा की है। लोंगिनुस के सिद्धान्तों की व्याख्या यों की है मानों केवल विस्मय और चमत्कार के लिए वह विराट् के पीछे भागा जाता हो।

लोंगिनुस उन थोड़े से आलोचकों में है जो काव्य में विचारों का महत्व भी स्वीकार करते हैं। विचारों को बौद्धिक और भावों को अबौद्धिक, हृदय-गत माना जाता है। काव्य का सम्बन्ध हृदय से है। फिर उसमें विचारों का महत्व क्या? भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका में डॉ० नगेन्द्र ने बौद्धिकता को काव्यरचना के लिये घातक मानते हुए लिखा है, "सृजन की अन्तः-प्रेरणा के अभाव में इस युग के साहित्य पर बौद्धिकता का प्रभाव गहरा होता गया।" (पृ० ४५६) लोंगिनुस मन की ऊर्जा की चर्चा करते हुए कहता है, "यद्यपि यह गुण अर्जित न होकर स्वभावजात होता है, यथासम्भव अपनी आत्मा में उदात्त विचारों का पोषण करना चाहिये और उसे भव्य प्रेरणाओं से परिपूरित रखना चाहिए।" (पृ० ५५) यहाँ भी अपने द्वन्द्वात्मक दृष्टि-कोण से लोंगिनुस भावों और विचारों को सम्बद्ध करके देखता है, दोनों को आवश्यक समझता है, केवल भावों और आत्मा की अनुभूति की बात नहीं करता (जैसे डॉ० नगेन्द्र ने अपनी भूमिका में की है)।

लोंगिनुस के मत से भावों और विचारों दोनों ही में गरिमा होनी चाहिये। इस गरिमा के अनुरूप शब्द-योजना होने पर उदात्त गुण उत्पन्न होता है। यह गरिमा कल्पना से, केवल काव्यशास्त्र के अध्ययन से, उत्पन्न नहीं होती। लोंगिनुस उच्चकोटि की रचना के लिए समर्थ व्यक्तित्व की मांग करता है। "यह सम्भव नहीं है कि जीवन भर क्षुद्र उद्देश्यों तथा विचारों में ग्रस्त व्यक्ति

कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके।" (पृ० ५५) सामाजिक जीवन से पराङ्मुख नाना प्रकार के व्यक्तिवादियों को यह वाक्य फूटी आँखों भी न सुहायेगा। इसी का खंडन करने के लिये वे विराट् शब्दावली समन्वित विशाल शास्त्र-ग्रन्थों की रचना करते हैं। इधर यह यूनानी विचारक कहता है, "महान् शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गम्भीर और गहन हों। यही कारण है कि मनस्वियों को भव्य वाणी सहज प्राप्त होती है।" (पृ० ५५)

लोंगिनुस ने जिन अलंकारों की चर्चा की है, वे उदात्त गुण की उत्पत्ति में सहायक भर होते हैं। मुख्य वस्तु वक्ता और कवि की मनस्विता है। "जिस प्रकार सूर्य के प्रखर आलोक में सभी मन्द दीपक बुझ जाते हैं, उसी प्रकार 'उदात्त' के सर्वव्यापी ऐश्वर्य में नहा कर सभी आलंकारिक चमत्कार दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।" (पृ० ७७) अलंकारों के प्रति यह धारणा दरबारी काव्य परम्परा के विरुद्ध है। उससे मिलती जुलती स्थापनाएँ हमें आचार्य शुक्ल में मिलती हैं।

नगेन्द्रजी ने भूमिका में एकाधिक बार लिखा है कि लोंगिनुस ने अलंकारों का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। उस विवेचन में मनोवैज्ञानिक क्या है, इसकी व्याख्या कहीं नहीं की। उस विवेचन को उन्होंने "उच्छ्वास-पूर्ण" भी कहा है। यह स्पष्ट नहीं है कि जो विवेचन उच्छ्वासपूर्ण है, वह मनोवैज्ञानिक कैसे है। सम्भव है इस तरह की व्याख्या का आधार ही कोई उच्छ्वासपूर्ण मनोविज्ञान हो!

निःसन्देह लोंगिनुस का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है क्योंकि वह विरोधी और भिन्न तत्वों की एकता पहचानता है। कवि की प्रतिभा नैसर्गिक होती है या श्रम-साध्य? लोंगिनुस के लिये निसर्ग या प्रकृति व्यवस्था-विहीन नहीं है। वह "निपट वेग और ज्ञानहीन औद्धत्य" का विरोध करता है। प्रेरणा के साथ नियंत्रण की आवश्यकता स्वीकार करता है। वह प्राचीन कवियों से सीखने, उनकी रचनाओं को कसौटी बनाने की बात करता है। यूरोप के रीतिवादियों की तरह उनके अनुकरण की बात नहीं करता। वह काव्य के किसी तत्व को—भाव, विचार या अलंकार को—अपने में पूर्ण और निरपेक्ष

न मान कर उसे प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में परखता है। किसी की शपथ खाकर वक्ता प्रभाव उत्पन्न करते हैं "किन्तु अकस्मात् ही किसी की सौगन्ध खाना इतना उदात्त नहीं है, उदात्तता तो स्थान, ढंग, परिस्थिति और उद्देश्य के ऊपर निर्भर करती है।" (पृ० ७५) वह काव्य के दोषों का विवेचन काव्य के समग्र प्रभाव को देखते हुए करता है और साहसपूर्वक निर्दोषता मात्र को काव्य का महान् गुण नहीं मानता। वह काव्य की विषयवस्तु और रूप को अन्योन्याश्रित और संबद्ध देखता है। वह एक साधारण पंक्ति उद्धृत करता है, 'मेरा जीवन दुखों से भर चुका है, अब और के लिये अवकाश नहीं।' इस पर टिप्पणी करता है, "यह उक्ति बहुत ही साधारण है किन्तु पंक्ति-रचना की उपयुक्तता के कारण यह उदात्त बन गई है।" यहाँ विस्मयकारी विराट् की कल्पना नहीं की गई; फिर भी पंक्ति का उदात्त गुण स्वीकार किया गया है। वह एतना ज्वालामुखी के विस्फोट को काव्य-विषय मानता है, तो "पाताल लोक में अजक्स (अऐक्स) का मौन, शब्दों की अपेक्षा, कहीं अधिक महान् और उदात्त है"—यह स्वीकार करता है। जोर से बड़ी-बड़ी बातें करना उसके लिये उदात्त का लक्षण नहीं है। कसौटी यह है कि रचना मानव-आत्मा की गरिमा को किस हद तक प्रकट करती है। उसकी आलोचना में कविसुलभ आवेश है। यह महाकवियों का प्रबल समर्थक है और इस बात से व्यथित है कि उसके युग में उस कोटि के कवियों का अभाव है। वह सतर्क बुद्धि से अपने युग की समाज व्यवस्था और उसकी संस्कृति का विश्लेषण करता है। इस द्वंद्वात्मक पद्धति के कारण ही लोंगिनुस की गणना यूरोप के श्रेष्ठ आलोचकों में होती है।

लोंगिनुस दरबारी कविता की चमत्कारप्रियता का घोर शत्रु है। वह अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दक्रीड़ा की तीव्र निन्दा करता है। वह स्वाभाविकता का पक्षपाती है; वागाडंबर से भी उसे घृणा है। वह व्यंग्य करते हुए लिखता है, "किसी ने ठीक ही कहा है कि जलोदर रोग से पीड़ित मनुष्य की अपेक्षा अधिक शुष्कता और कहीं नहीं पाई जाती।" वह ऊपर से उदात्त दिखाई पड़ने वाली कला के प्रति पाठक को सावधान करता है। दरबारी कवियों की वाह-वाह वाली महफिलों के बारे में उसने लिखा है, "वास्तव

में कभी-कभी तो श्रोता पंक्ति का अन्त पहले से ही जानने के कारण वक्ता के साथ-साथ अपने पैर पटकने लगते हैं और नृत्य की भाँति पहले से ही कदम उठाने लगते हैं।" कहना न होगा कि इस तरह की उक्तियाँ हमारे मुशायरों और कवि-सम्मेलनों के अनेक कवियों के ध्यान देने योग्य है।

घिसे-पिटे चमत्कारवाद से निकलने पर कवि अपने व्यक्ति गत दुख-सुख के बल पर नवीनता की खोज करने चलते हैं। लोंगिनुस उनका भी विरोध करता है। "प्रायः बहुत से मनुष्य मानो मदमत्त होकर ऐसे भाव-प्रदर्शन में वहक जाते हैं जो विषय की प्रकृति से उत्पन्न न होकर सर्वथा वैयक्तिक और क्लान्तिकर होता है।' ऐसी वैयक्तिक और क्लान्तिकर रचनाओं से आज-कल हिन्दी साहित्य काफी समृद्ध हो रहा है। "साहित्य में इस प्रकार की कुरूप और परोपजीवी प्रवृत्तियां केवल एक ही कारण से उत्पन्न होती हैं और वह है विचारों की अभिव्यक्ति में नवीनता की खोज, जिसके पीछे आज कल लोग बुरी तरह पागल हैं।" इस तरह के वाक्य नयी कविता की कैसी सटीक व्याख्या करते हैं, यह सहृदय पाठक सहज ही समझ सकते हैं।

डॉ० नगेन्द्र ने भारतीय साहित्य में "उदात्त की परिकल्पना" के उदाहरण-स्वरूप गीता में भगवान के विराट् रूप की कल्पना का उल्लेख किया है, समास-बहुला टवर्गप्रधान गौड़ी रीति की चर्चा की है और अन्त में निष्कर्ष यह निकाला है, "उदात्त की कल्पना तो हमारे यहाँ थी किन्तु विधान नहीं है। मैं इसे भारतीय काव्यशास्त्र का एक अभाव ही मानता हूँ क्योंकि औदात्य काव्यकला के गौरव का मानदंड है।" यदि यह निष्कर्ष सही है तो भारतीय काव्यशास्त्र को अधूरा और एकांगी मानना होगा क्योंकि उसमें काव्य-कला के गौरव के मानदंड का ही विधान नहीं है।

भूमिका के अन्त में एक निष्कर्ष और है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार लोंगिनुस ने उदात्त और ऊर्जा पर ही बल दिया है, "काव्य के अन्य पक्ष—जैसे मधुर और शान्त—उपेक्षित हो गये। लोंगिनुस ने शोक, दया और भय को इसी तर्क से हीनतर भाव माना है: मानों प्राणों की द्रुति का कोई मूल्य ही न हो! चित्त की विभिन्न दशाओं की आनन्दमय परिणति की परिकल्पना से युक्त भारतीय रस-सिद्धान्त की पूर्णता इसमें कहाँ?" इस निष्कर्ष को पढ़-

कर लगता है कि गौरव के मानदंड के अभाव में भी रससिद्धान्त पूर्ण है और इस मानदंड सुरक्षित रख कर भी लोंगिनुस का उदात्त खंडित और अपूर्ण है।

लोंगिनुस के अनुसार "सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठ कर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है।" भारतीय आचार्यों ने जिस लोकोत्तर आह्लाद की चर्चा की है (रमणीयता लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञानगोचरता), वह क्या लोंगिनुस के हर्ष और उल्लास से मूलतः भिन्न है?

लोंगिनुस के अनुसार "वास्तव में महान् रचना वही है जो बार-बार कसौटी पर कसी जाने पर भी सदा खरी उतरे, जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असंभव हो जाय और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे।'

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः

—इस उक्ति से लोंगिनुस का कथन किस तरह भिन्न है? हिन्दी आलोचना में शुक्लजी ने रस का सम्बन्ध लोकहृदय से जोड़ा था। यदि इसी कारण उन्हें कोई भारतीय साहित्य-शास्त्र से बाहर न निकाल दे तो उनकी उक्ति से लोंगिनुस के निम्न वाक्यों की तुलना संगत होगी, "साधारणतः औदात्य के उन उदाहरणों को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें।"

इस प्रकार लोंगिनुस द्वारा प्रतिपादित उदात्त संबंधी सिद्धान्त भारतीय काव्य शास्त्र में भी हैं, दोनों की तुलना करने पर किसी को हठात् अधूरा और एकांगी कहना अनुचित होगा। लोंगिनुस ने विशेष बल दिया है काव्य-शक्ति और उसके विस्मयकारी प्रभाव पर और यथासम्भव उसने उस प्रभाव के कारणों का अनुसन्धान किया है।

ऊपर दिये हुए उद्धरण में डॉ० नगेन्द्र ने लोंगिनुस पर ऊर्जा का पक्षपात करने, मधुर और शान्त की उपेक्षा करने तथा शोक, दया और भय को हीनतर मानने का आरोप लगाया है।

लोंगिनुस ने नाटककार एउरिपिदेस के बारे में लिखा है, "स्वभाव में

औदात्य का अभाव होते हुए भी वह अनेक प्रसंगों में अपनी प्रतिभा से करुणा के उच्चतम शिखरों को छू लेता है"। इससे तो यही साबित होता है कि करुणा के उच्च-शिखर उदात्त के विरोधी नहीं वरन् उसके लिये आवश्यक हैं।

इस मानवीय करुणा के प्रभाव से ही लोंगिनुस अपने समाज की तीव्र आलोचना करता है। "धन के प्रेम ने (जिस रोग से हम सभी बुरी तरह ग्रस्त हैं!) और विषयभोग के प्रेम ने हमें अपना दास बना लिया है।.... धन का प्रेम ऐसा रोग है जो मनुष्य को क्षुद्र बनाता है और विषयभोग का प्रेम उसे निकृष्ट बनाता है।" उसने धनी जनों की स्वार्थपरता से खीझ कर लिखा है, "शायद हमारे जैसे इन्सानों के लिए स्वाधीन होने की अपेक्षा पराधीन रहना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि यदि हमारी तृष्णाएँ पिंजड़े से निकले हुए पशुओं की भाँति अनियंत्रित रूप में हमारे पड़ोसियों पर टूट पड़ें, तो सारा संसार पाप की अग्नि में जल उठेगा।" इससे स्पष्ट ही यह आशय है कि हमें मनुष्य के समान स्वाधीन जीवन बिताना चाहिये। पशुओं के समान स्वाधीन होकर हिंसक बनने से तो पिंजड़े में रहना अच्छा है। "शायद हमारे जैसे इन्सानों" के टुकड़े में लेखक का व्यंग्य स्पष्ट है। डा० नगेन्द्र ने उपर्युक्त धारणाओं के विवेचन में यह सत्य देखा है : "साहित्यक प्रतिभा का उत्थान-पतन जनतंत्र या राजतन्त्र पर निर्भर न रह कर चारित्र्य पर— नैतिक आचार-विचार पर ही निर्भर करता है।"

फिर वही प्रश्न सामने आता है, लोंगिनुस के प्रतिपाद्य में कौनसी वस्तु मुख्य है, कौन-सी गौण। उसके लिये सामाजिक जीवन नीति और राजनीति में विभक्त नहीं है। जैसी नीति है, वैसी ही राजनीति है और साहित्य इन दोनों से परे न होकर उससे सम्बद्ध है।

लोंगिनुस ने दरबारी साहित्यशास्त्र का खंडन किया, आलोचना में उसने द्वन्द्वात्मक चिन्तन-पद्धति अपनाई, उसने काव्य और वक्तृत्वकला के विभिन्न तत्वों के योग से उत्पन्न होने वाले विस्मयकारी प्रभाव का विश्लेषण किया, उसका निबन्ध रीतिवादी साहित्य शास्त्रियों और नवीनता के व्यक्तिवादी अनुसन्धानकर्ताओं—दोनों के लिये माननीय है। किन्तु संकुचित कलावादी

या रीतिवादी दृष्टिकोण से उसके सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसकी अनेक स्थापनाएँ भारतीय साहित्यशास्त्र से मिलती-जुलती हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में भारतीय साहित्यशास्त्र की वन्दना तो की जा सकती है, उसकी सही व्याख्या नहीं की जा सकती। शब्दाडम्बर और भावाडम्बर पर कवियों का ही इजारा नहीं है। आलोचक भी "शैली पक्ष की अप्रत्यक्ष विवक्षा" जैसी शब्दावली से पाठक को आतंकित कर देते हैं। बालेयता नामक दोष की व्याख्या करते हुए लोंगिनुस ने मानो हिन्दी के अभिनय शास्त्रकारों को ही लक्ष्य करके लिखा है, "स्पष्ट ही यह दोष विद्या-जड़ व्यक्ति के विचारों में निहित रहता है जिनका आरंभ पाण्डित्यपूर्ण तुच्छता और अन्त निष्प्राण वाचालता में होता है।"

ऐसे दूरदर्शी आलोचक के निबन्ध का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने पर मैं डा० नगेन्द्र और श्री नेमिचंद जैन को साधुवाद देता हूँ।

कला का माध्यम और सांस्कृतिक विकास

कला के माध्यम और उसकी विषयवस्तु का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? स्थापत्य और शिल्प-कलाओं का माध्यम चित्र और संगीत कलाओं के माध्यम से अधिक स्थूल है, इसलिये क्या वे निम्न स्तर की हैं ? काव्य का माध्यम इनसे अधिक सूक्ष्म है, क्या इसलिये वह ललित कलाओं में सर्व-श्रेष्ठ है ?

इन समस्याओं पर भाववादी (आइडियलिस्ट) दृष्टिकोण से विचार करने वालों मे जर्मन दार्शनिक हेगल अन्यतम था। अन्य भाववादियों की तरह उसके लिये ऐन्द्रियता अभिशाप है। मूर्तरूप के बिना कला का अस्तित्व असंभव है, इसलिये कला के मूर्त रूप और उसके सूक्ष्म विचारतत्व में सदैव एक अन्तर्विरोध निहित रहता है। आध्यात्मिक वास्तविकता को ग्रहण करने की श्रेष्ठ पद्धति उसे कला के ऐन्द्रिय रूपों में उतारना है। हेगल के लिये इस कार्य को श्रेष्ठ पद्धति चिन्तन है। यूनान के भाववादी विचारक प्लैटो की तरह हेगल कलामात्र को अध्यात्म-सत्ता के ग्रहण के लिये अपूर्ण और हीन साधन मानता है। इस हीन साधन की उपादेयता इतनी ही है कि वह हमें उस अध्यात्म-सत्ता की ओर उन्मुख करता है। कलाओं का निम्न या उच्च होना इस पर निर्भर है कि वे उस सत्ता की ओर हमें कितना उन्मुख करती हैं। मानवीय चेतना अपनी वास्तविकता का ज्ञान करने के लिये जिन मंजिलों से गुज़रती है; उन्हीं के अनुरूप विभिन्न कलाएँ हैं।

स्थापत्य कला का माध्यम सबसे स्थूल होता है। मनुष्य जड़ पदार्थों को इस तरह संगठित करता है कि चेतना उन्हें कला के बाह्य जगत् के रूप में स्वीकार करती है। हेगल के अनुसार स्थापत्य-कला में संगीत (Symmetry) के सम्बन्ध प्रदर्शित होते हैं लेकिन वह विचार-तत्व को प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। विचारतत्व इस कला से परे रहता है; दोनों का सम्बन्ध जोड़ा भी जाता है तो वह मन से जोड़ा हुआ बौद्धिक संबन्ध होता है, कला के रूप में

निहित सहज संबन्ध नहीं। इस बौद्धिक संबन्ध में प्राकृतिक पदार्थ परिवर्तित नहीं होते; उन पर विचार-तत्व का आरोप किया जाता है। हेगल ने इस सम्बन्ध को प्रतीकवाद कहा है। उसके लिए स्थापत्य कला की विशेषता उसकी प्रतीकात्मकता है।

मानव-चेतना अपनी सत्ता के पूर्ण ज्ञान की ओर बढ़ती हुई जिस सीढ़ी पर पहले कदम रखती है, वह हेगल की प्रतीकवादी स्थापत्य कला है। मानव-समाज के इतिहास में स्थापत्य कला का जन्म चित्र और संगीत कलाओं से पहले नहीं होता। मनुष्य अपनी आदिम समाज-व्यवस्था का आरम्भ नृत्य और संगीत से करता है। इनके लिये उत्पादन के साधनों को विकसित करना, कला के नये उपकरणों का आविष्कार करना अनिवार्य नहीं। किसी बाह्य उपकरण की सहायता के बिना भी शरीर के अङ्गों और कंठ से मनुष्य नृत्य और संगीत आरम्भ कर सकता है। निवास-निर्माण की क्षमता कला रूप में बहुत देर से विकसित होती है। मनुष्य गुफाओं में रहते हुए भी चित्रकारी आरम्भ कर देता है किन्तु कलात्मक गृह निर्माण—चाहे अपने लिए हो, चाहे देवता के लिये—उसके बाद की मंजिल से आरम्भ होता है। इसलिए ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से चेतन का हेगलकृत प्रतीक-सोपान अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक है।

हेगल के सौ वर्ष बाद यूरोप के अनेक कलाकारों ने स्थापत्य को कलाओं की जननी के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने चित्रकला में रंग-रूप और भाव-व्यंजना को गौण माना; ज्योमिति के प्रयोगों की तरह पटभूमि को रेखाओं द्वारा विभिन्न आकारों में बाँध कर उन्होंने अवयवों की संगति के आधार पर कलात्मक पूर्णता के सृजन का प्रयास किया। परिणाम यह हुआ कि उनके हाथ न चित्रकला का सौन्दर्य लगा, न स्थापत्य का। हेगल की तरह ये भी भाववादी थे; अन्तर इतना ही था कि वे स्थापत्य को प्रथम नहीं, अन्तिम सोपान मानते थे।

स्थापत्य कला में दो विरोधी तत्वों की एकता बहुत अच्छी तरह देखी जाती है। एक ओर यह कला अत्यन्त स्थूल है, इतनी स्थूल कि अध्यात्म-वादी का मस्तिष्क भी उसका बहुत ठोस अनुभव कर सकता है। दूसरी ओर

वह इतनी सूक्ष्म है कि वस्तुओं के प्रतिबिम्ब के बदले वह पदार्थों के आकार, उनकी संगति और संगठन द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करती है। यूनानी विचारक कहते थे कि कला प्रकृति अथवा जीवन का प्रतिबिम्ब है। यह स्थापत्य कला किन वस्तुओं का प्रतिबिम्ब है? क्या यह कला मनुष्य के रचना-सामर्थ्य की मौलिकता घोषित नहीं करती? प्रत्येक कला वस्तुओं के प्रतिबिम्बों, मनुष्य के अनुभवों, उसके इन्द्रिय-बोध, भावों अथवा विचारों को संगठित करती है। इस संगठन के बिना कला का अस्तित्व सम्भव नहीं है। स्थापत्य पदार्थों के संगठन अथवा निर्माण की विशेष कला है। निर्माण के नियमों का यहाँ इतना महत्व है कि अन्य तत्व गौण हो जाते हैं। इस दृष्टि से स्थापत्यकला के ये नियम न्यूनाधिक सभी कलाओं पर लागू होते हैं। मनुष्य की निर्माण-सम्बन्धी सौन्दर्य-चेतना को जिस तरह स्थापत्यकला मूर्त रूप दे सकती है, उस तरह और कोई कला नहीं दे सकती। इस प्रकार यह कला न श्रेष्ठ है, न निकृष्ट है; अपने क्षेत्र में उसका सार्वभौम प्रभुत्व है। वह मनुष्य के सौन्दर्य-बोध की पूर्णता के लिये आवश्यक है, निम्नतम सोपान के रूप में नहीं, वरन् अन्य कलाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए, सामाजिक जीवन को सर्वाङ्गीण रूप में सुन्दर बनाने के लिए।

हेगल के लिये मानव-चेतना का दूसरा सोपान है, शिल्पकला। यहाँ शरीर और आत्मा की एकता प्रत्यक्ष होती है। विचार-तत्व को अपने अनुकूल रूप मिलता है। विचार-तत्व को बौद्धिक रूप में स्थापत्य के जड़ पदार्थों से बाँध कर यहाँ प्रतीकवाद की सृष्टि नहीं की जाती। मनुष्य का शरीर चेतना का उचित निवास-स्थान है। शरीर में जो दोष होते हैं, उन्हें दूर करके कलाकार उसे भव्य रूप देता है और इस तरह सूक्ष्म विचारतत्व को शिल्प द्वारा प्रकट करता है। किन्तु हेगल के अनुसार शिल्पकला भी अपूर्ण है। चेतना अनन्त है; इसलिये शिल्पकला में—जिसे हेगल प्रतीकवाद से भिन्न क्लैसिकल कला मानता है—चेतना की अपनी विशेषता अभिव्यंजित नहीं होती।

अनेक भाववादी विचारकों की तरह हेगल के चिन्तन पर भी धार्मिक दुराग्रहों की छाप है। यूनानियों के अनेक देवता थे, ईसाइयों का एक देवता

है। यह देवता मनुष्य की अन्तर्मुखी चेतना को अधिक प्रकट करता है। इस प्रकार ईसाई धर्म कला के लिये यूनानियों की बहुदेवोपासना की अपेक्षा हितकर सिद्ध हुआ। एशिया की कला में उसे भोंड़ा प्रतीकवाद दिखाई देता है। इन धारणाओं का कारण यह है कि हेगल के लिये कला विचार-तत्व को व्यक्त करने का साधन है और पूर्ण विचार-तत्व ईश्वर का ही दूसरा नाम है। यह ईश्वर भी स्वभावतः अनुयायी के धर्म में ही अपनी पूर्णता प्रकट करता है।

यूनान, भारत और यूरोप में मूर्तियों को उपासना के लिए प्रतीक रूप में स्वीकृत किया गया। इसलिये यह कहना उचित नहीं कि प्रतीकवाद स्थापत्य कला की ही विशेषता है। काव्य में भी प्रतीकवाद हो सकता है, अन्य कलाओं की तो बात ही क्या! शिल्पकला भी प्रतीकवादी हो सकती है। उसे स्थापत्य कला से भिन्न, विशेष रूप से क्लैसिकल, नहीं माना जा सकता।

क्लैसिकल शब्द का साधारण अर्थ है, रूप और विषय-वस्तु का सामंजस्य करने वाली, कल्पना और विचारतत्व में संतुलन स्थापित करने वाली, नियमों का पालन करने वाली, स्थायित्व प्राप्त करने वाली कला। हेगल ने क्लैसिकल शब्द का व्यवहार करते हुए रूप और विषयवस्तु के सामंजस्य वाला अर्थ ग्रहण किया है। किन्तु इस अर्थ में शिल्पकला के लिये क्लैसिकल क्यों हो? इस तरह का सामंजस्य प्रत्येक कला में संभव है। इसलिये हेगल द्वारा शिल्पकला के लिये क्लैसिकल शब्द का विशेष प्रयोग भ्रामक है। इस प्रयोग का कारण यह है कि हेगल के अनुसार सभी कलाओं की अभिव्यंजना का विषय विचारतत्व है। निम्न कलाएँ उस तत्व की ओर उन्मुख मात्र होती हैं, उससे प्रतीक-संबंध जोड़ती हैं; शिल्पकला रूप और विचारतत्व का सामंजस्य स्थापित करती है, किन्तु चेतना की मौलिक विशेषता को वह भी प्रकट नहीं कर पाती।

हेगल ने स्वीकार किया है कि शिल्पकला की यह विशेषता है कि वह आकार को देश (स्पेस)-गत तीन पार्श्वों (dimensions) में अङ्कित कर सकती है। शिल्पकला जिस प्रकार मानव अथवा अन्य—यथार्थ किंवा

कल्पित—जीवों के घनत्व को, रूप के अतिरिक्त उनके सर्वाङ्गीण आकार सौंदर्य को व्यंजित कर सकती है, उस प्रकार चित्रकला नहीं कर सकती यही उसकी विशेषता है जहाँ वह सब कलाओं से श्रेष्ठ है। इसलिये चित्र संगीत और काव्य कलाओं को रोमाण्टिक मानकर उनकी तुलना में शिल्प कला को निकृष्ट नहीं ठहराया जा सकता।

हेगल ने चित्र, संगीत और काव्य कलाओं को रोमाण्टिक कहा है औ उन्हें क्लैसिकल शिल्पकला से श्रेष्ठ बतलाया है। उसका तर्क यह है कि शिल्पकला विचारतत्व की विविधता चित्रित नहीं कर सकती। उसे चित्रि करने के लिये और भी सूक्ष्म माध्यम वाली कलाएँ आवश्यक होती हैं चित्रकला रंगों के सूक्ष्मतर ऐन्द्रिय माध्यम पर निर्भर रहती है। इसलिये व देशगत ऐन्द्रियता से अपेक्षाकृत मुक्त रहती है। संगीत में देशगत ऐन्द्रियत का प्रायः अभाव रहता है। उसका माध्यम नाद है जो रंगों से अधिक सूक्ष् है; इसलिये वह विचारतत्व को भौतिकता में डूबने से बचाती है। काव्यकल सबसे अधिक आध्यात्मिक है। यहाँ शब्द का श्रव्य गुण चेतना के लिं संकेत मात्र है। काव्यगत देशकाल की सत्ता मनुष्य की कल्पना में होती है

हेगल ने ललित कलाओं के सामान्य गुणों की ओर संकेत करते हु उन सभी में कवि-कल्पना का उल्लेख किया है। इस सामान्य गुण के अति रिक्त उसने उन विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया जिनसे प्रत्येक कल अपने क्षेत्र में प्रभुत्व-सम्पन्न होती है, जिन विशेषताओं को दूसरी कलाएँ नह अपना सकतीं और यदि अपना सकती हैं, तो केवल गौण रूप में। काव्य सोपान तक पहुँचकर कला अपनी सीमा पार कर जाती है और उसक अभाव—अथवा उससे उच्चतर सोपान का आविर्भाव—हो जाता है। कल विचारतत्व को ऐन्द्रिय माध्यम द्वारा व्यक्त न करके कवि-कल्पना के क्षेत्र आगे बढ़कर चिन्तन के गद्यक्षेत्र में पहुँच जाती है। इस प्रकार हेगल अनुसार कला की चरम परिणति उसके अभाव में होती है। जैसे कुछ भा तीय विचारकों के लिये रस की परिणति ब्रह्मज्ञान में होती है, वैसे ही हेग के लिये कलात्मक सौंदर्य की परिणति चिन्तन के गद्य में होती है। यह कल

के प्रति भाववादी दर्शन के अभाववादी दृष्टिकोण का परिणाम है। माध्यम इतना सूक्ष्म हुआ कि कला ही अन्तर्धान हो गई।

हेगल के कलासम्बन्धी चिन्तन में द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति के तत्व विद्यमान हैं। उसके लिये कलाएँ जड़ और स्थिर न होकर गतिशील और विकासमान हैं, परस्पर विच्छिन्न न होकर वे सामान्य गुणों द्वारा सम्बद्ध हैं, रूप और विषयवस्तु में विषयवस्तु की नियामक भूमिका है और उसकी न्यूनताएँ रूप में भी झलकती हैं। किन्तु हेगल के इस द्वन्द्वात्मक चिन्तन का आदि विन्दु विचार-तत्व है। इसलिये विकास का लक्ष्य किसी अदृश्य परम तत्व की सिद्धि हो जाता है; कलाएँ अपने ऐन्द्रिय अथवा मानवकृत गुणों के कारण परस्पर सम्बद्ध न होकर उस परम तत्व की ओर अभिमुख होने और उसे आंशिक रूप से अभिव्यंजित करने के कारण सम्बद्ध होती हैं। रूप और विषयवस्तु में विषयवस्तु नियामक होती है, विचारतत्व के कारण; ऐन्द्रिय रूप विचारतत्व के दास के समान है। वह ऐसा दास है जो अपने स्वामी को मुक्त नहीं होने देता। काव्य में जब कला इस दास से मुक्त होती है तब उसके गद्य में परिणत होने की घड़ी आ पहुँचती है। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र में हेगल की द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति अपूर्ण है और दोषपूर्ण भी!

हेगल के उपर्युक्त विवेचन में मूल समस्या रूप और विषयवस्तु की है। यह सही है कि विषयवस्तु नियामक है, उसकी आवश्यकताओं के अनुसार रूप निर्मित होता है किन्तु यह भी सही है कि रूप विषयवस्तु का नियमन भी करता है। कलाकृति में किस कोटि का अनुभव अथवा सौन्दर्य-बोध निहित हो, यह उसके रूप और माध्यम पर भी निर्भर है। स्थापत्य और संगीत में चाहे जितना साम्य हो, स्थापत्य संगीत की भूमिका पूरी नहीं कर सकता। साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास जिस तरह सामाजिक समस्याओं का चित्रण कर सकते हैं, उस तरह गीत नहीं; और जब करेंगे तब उनकी परिणति चिन्तन के गद्य में हो जायगी। रूप और विषयवस्तु के सम्बन्ध में भ्रान्ति भाववादी विचारकों में ही नहीं मिलती। कभी-कभी हमें समाजवादी लेखकों में इस तरह के विचार मिलते हैं : कला में मानव-श्रम का चित्रण होना चाहिये अथवा कलात्मक कार्यवाही को समाजवादी निर्माण का अभिन्न अङ्ग बन

जाना चाहिये। यदि कोई चित्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्र आँकता है तो उससे समाजवाद की रचना में कितनी सहायता मिल सकती है? उतनी ही जितनी अजन्ता के चित्रों से। इसलिये प्रत्येक कला से एक ही विषयवस्तु की माँग करना अनुचित है।

हेगल के लिए कला का माध्यम, उसका ऐन्द्रिय रूप कलात्मक सौन्दर्य का अभिन्न अंग नहीं है। वह उससे विच्छिन्न, विचारतत्व का वाहनमात्र है। किन्तु किसी भी कलाकृति के रूप में थोड़ा भी परिवर्तन कीजिये, उसके सौन्दर्य-तत्व में अन्तर आ जायगा। निराला जी ने "जुही की कली" की पंक्ति "निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही" को पहले लिखा था, "निद्रालस बाँके विशाल नेत्र मूँदे रही"। विचारतत्व दोनों पंक्तियों में भले ही एक हो, सौन्दर्यतत्व का अन्तर स्पष्ट है। कला के क्षेत्र में "गिरा अरथ जल बीचि सम" की तरह रूप और विषयवस्तु "कहियत भिन्न न भिन्न" हैं। एक ओर कुछ कलाकार रूप में कला का शाश्वत सौन्दर्य देखकर उसे विषयवस्तु से मुक्त करने का प्रयास करते हैं; उनकी कलाकृतियाँ नितान्त कुरूप होती हैं जिन्हें सुरूप सिद्ध करने के लिए उन्हें गद्य-क्षेत्र में भगीरथ प्रयास करना पड़ता है। दूसरी ओर कुछ भौतिकवादी विचारक विषयवस्तु को स्वतन्त्र मानकर कहते हैं, इस विचार को कलात्मक रूप देना आवश्यक है। अनेक चिन्तनशील लेखकों की रचनाओं में हम पढ़ते हैं, अमुक कवि अथवा कथाकार के पास विचार तो हैं किन्तु उसने उन्हें कलात्मक रूप नहीं दिया। कलात्मक रूप कोई परिधान नहीं है जो विचारों को पहना दिया जाय। वह विषयवस्तु का अभिन्न अंग होता है। जीवन और प्रकृति को समझने और चित्रित करने में वैज्ञानिक विचारधारा से सहायता मिलती है किन्तु उस विचारधारा को चित्रमयता और संगीत से अलंकृत करके कलाकृति नहीं बनाया जा सकता। कलात्मक सौन्दर्य अलंकार नहीं है जिसे हम किसी भी विचारतत्व को पहना दें। कुछ भौतिकवादी लेखकों के लिए विचारधारा की वही भूमिका है जो हेगल के लिए विचारतत्व की है। दोनों ही कलात्मक सौन्दर्य को गौण मानकर उसका अलंकारवत् उपयोग करने की बात कहते हैं। यदि कला के स्वभाव के प्रतिकूल हम रूप को विचारधारा का दास बनाकर रखते

हैं तो यह अभौतिकवादी, अवैज्ञानिक कार्य ही माना जायगा। उसका परिणाम कला के लिए हानिकारक होगा।

कलाशास्त्र ऐसा शास्त्र है जहाँ गोचर जगत् के बिना काम नहीं चलता। उसका माध्यम सदैव ऐन्द्रिय होता है। काव्य में यह माध्यम अधिक सूक्ष्म होता है किन्तु अतीन्द्रिय नहीं होता। भाषा एक ऐन्द्रिय माध्यम है। हेगल का यह तर्क उचित नहीं है कि काव्य में शब्दों को संकेत रूप में ही लिया जाता है, उनका नाद-सौन्दर्य उपेक्षणीय होता है। नाद-सौन्दर्य से कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह सौन्दर्य विभिन्न शब्दों तक सीमित न रहकर छन्द में भी प्रकट होता है। कला के माध्यम की ऐन्द्रियता देशकाल की सीमाओं से बँधा हुआ वह आकाश है जिसमें मनुष्य के भाव-विहग उड़ान भरते हैं। यह ऐन्द्रियता उस भौतिक जगत् का प्रतीक है जिसके बाहर विचारतत्व अथवा विचारधारा किसी का भी अस्तित्व नहीं है।

ललित कलाओं में कौन निम्न है, कौन उच्च है, इसका निर्णय करने से अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि हम सामाजिक जीवन में उन सभी के सामंजस्य, उपयोग और विकास का प्रयत्न करें। कलाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं, इसलिए एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। यदि विज्ञान और दर्शन उन्हें प्रभावित कर सकते हैं और करते हैं तो उनका एक दूसरे को प्रभावित करना सहज बोधगम्य है। कला के लिए महान् युग वे रहे हैं जब मनुष्य ने जीवन की बहुमुखी कार्यवाही में भाग लिया है, जब उसका सौन्दर्यबोध एक ही कला तक सीमित नहीं रहा। भारतीय सामन्तवाद के अनेक युगों में स्थापत्य, शिल्प, चित्र और काव्य ने समान रूप से अथवा न्यूनाधिक किन्तु एक साथ उन्नति की थी। यूरोप के नव जागरण काल (रिनैसांस) में, विशेषकर इटली में, विभिन्न कलाओं का एक साथ विकास देखा जा सकता है। आजकल अपने देश में, लगता है, हेगल की बात सच मानकर, हम मानव-चेतना के अन्तिम सोपान पर पहुँचे गये हैं; इसलिए कलात्मक कार्यवाही में यदि साहित्य ९० प्रतिशत भाग लेता है तो अन्य सभी कलाओं का काम १० प्रतिशत से ही चल जाता है! इस दस प्रतिशत में भी कहीं स्थापत्य कला आधी अंग्रेजी है तो चित्र कला आधी फ्रान्सीसी और संगीत कला—सीलोन रेडियो के

फ़िल्मी रूप में—बहुत कुछ अमरीकी ! भौतिकता से परे हम परम् विचार तत्व में ऐसे निमग्न हैं कि कलात्मक जीवन के अभावों को भी भूल गये हैं।

जर्मन लेखक एकरमन ने हेगल के देशवासी महाकवि गेटे के वार्तालाप संकलित करके प्रकाशित किये थे। उसके अनुसार गेटे ने प्राचीन यूनानियों के बारे में कहा था :

"हम प्राचीन यूनानियों के दुःखान्त नाटकों की प्रशंसा करते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक आँकने के लिए अलग-अलग लेखकों के बदले उस युग और जाति की प्रशंसा करनी चाहिये जिनमें उनकी रचनाएँ सम्भव हुईं। यद्यपि ये कृतियाँ एक दूसरे से थोड़ी-बहुत भिन्न हैं और यद्यपि एक कवि दूसरे से महान् और अधिक कलात्मक पूर्णता वाला दिखाई देता है, फिर भी सबको एक साथ देखें तो उन सभी में एक ही निश्चित विशेषता दिखाई देती है : भव्यता, औचित्य, दृढ़ता, मानवीय पूर्णता, उच्च कोटि की बुद्धिमत्ता, उदात्त चिन्तन, विशुद्ध ओजपूर्ण सहज्ज्ञान इत्यादि। किन्तु जब हम इन गुणों को उन नाटकों में ही नहीं देखते जो हम तक चले आये हैं वरन् मुक्तक रचनाओं और महा-काव्यों में भी देखते हैं—दार्शनिकों, वक्ताओं, इतिहासकारों में और उतने ही उच्च स्तर पर उन मूर्त कलाकृतियों में देखते हैं जो हम तक पहुँची हैं—तो हमें यह विश्वास हो जाना चाहिये कि इस तरह के गुण न केवल व्यक्तियों में थे वरन् वे जाति और समूचे युग के सार्वजनीन गुण थे।"

कवि गेटे के इन सारगर्भित वाक्यों से हम समझ सकते हैं कि कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान का कितना गहरा सम्बन्ध है। बहुत कम ऐसे देश हैं जो प्राचीन यूनानियों के इस सर्वाङ्गीण विकास की तुलना में ठहर सकें। इस विकास में ललित कलाओं ने एक दूसरे को प्रभावित किया, उन्होंने दर्शन और वैज्ञानिक चिन्तन से प्रभावित होने के साथ स्वयं भी उन्हें प्रभावित किया। ये सब कलाएँ एक जाति की सम्पत्ति थीं; प्राचीन यूनान का कलात्मक वैभव कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के अलग-थलग प्रयोगों का परिणाम न था।

वर्तमान भारत में इस तरह के बहुमुखी कलात्मक विकास की आवश्यकता है। यह विकास विदेशी कला से भले प्रभावित हो, उसकी आधार भूमि भारतीय होनी चाहिए। मौलिक प्रयोगों में भी भारतीयता हो सकती है। वह प्रयोग क्या जो दूसरों की नकल हो? प्राचीन यूनान की तरह विभिन्न कलाओं का सामंजस्य भारतीय सौन्दर्य-बोध की विशेषता रही है। हेगल द्वारा निम्न और उच्च कोटि में कलाओं के वर्गीकरण के बदले यहाँ का आदर्श यह रहा है कि शिल्प और चित्रों से सजे हुए भवनों में नृत्य और संगीत के साथ काव्य का आस्वाद सुलभ हो। शुभ काव्य के लिए भरत ने कहा था :

मृदुललितपदाढ्यं गूढ़शब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
स भवति शुभ काव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्।

यहाँ काव्य, अभिनय, नृत्य और संगीत का सह-अस्तित्व देखा जा सकता है। ये कलाएँ एक दूसरे की पूरक हैं; उनका सह-अस्तित्व सौन्दर्यबोध को समृद्ध करता है, कलाजन्य आनन्द में बाधक नहीं होता। ललित कलाओं के परस्पर सम्बन्धों पर विचार करते हुए हेगल की अपेक्षा इस दृष्टिकोण को अपनाना अधिक युक्तिसंगत होगा।

साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या : कालिदास

साहित्य के स्थायी मूल्यों की छानबीन करते हुए कालिदास की चर्चा करना स्वाभाविक है। वह भारतीय साहित्य के सबसे स्थायी कवि हैं। शताब्दियों से सहृदय काव्य-मर्मज्ञ उन्हें कविकुलगुरु कहते आए हैं। जिस समाज-व्यवस्था में उनका जन्म हुआ था, वह नष्ट हो चुकी है या नष्टप्राय है; फिर भी उनका काव्य-सौष्ठव न तो नष्ट हुआ है, न भविष्य में नष्ट होता दिखाई देता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह काव्य-सौष्ठव समाज-निरपेक्ष है, वह ऐसे शाश्वत सौन्दर्य की व्यंजना है जो देश-काल की सीमाओं के परे है? क्या कालिदास की काव्य-महिमा इस बात के लिए प्रबल तर्क नहीं है कि साहित्यकार को सामाजिक उथल-पुथल से दूर रहकर सौन्दर्य की एकान्त साधना करनी चाहिए?

: १ :

कालिदास जिस समाज-व्यवस्था से परिचित हैं और जिसे वह अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं, वह चार वर्णों में विभाजित है। इसमें श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मणों का है जो सभी के पूज्य हैं। क्षत्रिय सभी की रक्षा करने वाले हैं। वैश्य व्यापार आदि कार्य करते हैं और शूद्र दूसरों की सेवा करते हैं। अपनी रक्षा के लिए प्रजा एक निश्चित कर राजा को देती है। यह व्यवस्था इतनी रूढ़ हो चुकी है कि वर्ण का निश्चय कर्म से नहीं, जन्म से होता है। शम्बूक जन्म से शूद्र था, इसलिए उसे तप करने का अधिकार न था। उसके 'अपचार' से एक ब्राह्मण का पुत्र अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, इसलिए तप करते हुए शम्बूक का सिर काटकर राम ने उस ब्राह्मण के लड़के को जिला दिया (रघुवंश, सर्ग १५)। दुष्यन्त अपने पुत्र के हाथ में चक्रवर्तियों के लक्षण देखते ही पहचान जाते हैं कि वह किसी राजा का पुत्र है और चक्रवर्ती बनने के लिए पैदा हुआ है। सुदक्षिणा के गर्भ में लोकपालों के अंश विद्यमान हैं, इसलिए उसके पुत्र को चक्रवर्ती होना ही चाहिए

(रघुवंश, सर्ग ३)। राजा लोग दो काम करते हैं—भोग और युद्ध। दोनों से छुट्टी मिलने पर योग साधते हैं। यद्यपि वे प्रकृति-रंजक, प्रजा को प्रसन्न रखने वाले हैं, फिर भी यह पृथ्वी उनके भोग के लिए है। रघु ने अज को पृथ्वी ऐसे सौंप दी, जैसे वह दूसरी इन्दुमती हो (रघुवंश, सर्ग ८)। सीता को बनवास देने के बाद राम ने पृथ्वी का ही भोग किया (उप० सर्ग १५)। दुष्यन्त प्रतिज्ञा करते हैं कि अनेक रानियों के रहते हुए उनके यहाँ दो ही की प्रतिष्ठा होगी—एक तो पृथ्वी की, दूसरी शकुन्तला की। प्राचीन कवियों ने पृथ्वी को माता और अपने को उसका पुत्र कहा था। अब वह भोग की वस्तु बन गई है। कवि राजाओं के चाटुकार बन गए हैं। सरस्वती यह देख कर सिर धुनने और पछताने के बदले चारणों के कण्ठ में बैठकर रघु की स्तुति करती हैं (रघुवश सर्ग ४)।

समाज-व्यवस्था के प्रति कालिदास उदासीन नहीं हैं। उनका एक निश्चित दृष्टिकोण है जो प्रचलित समाज-व्यवस्था का पोषक है। यह व्य-वस्था अभ्युदयशील न होकर काफी रूढ़ हो गई है। उसकी गहरी छाप कालिदास के काव्य पर है। यह छाप उनके काव्योत्कर्ष में सहायक न होकर एक बाधा बन गई है। कालिदास और उनके अनेक—सम्भवतः अधिकांश —सामयिक काव्य-प्रेमियों की सहृदयता को यह देखकर धक्का न लगा होगा कि पृथ्वी नारी के समान भोग्या है, सरस्वती राजाओं की स्तुति करती है और शूद्र के तप करने पर उसका सिर काट लिया जाता है। 'उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं यह कहा जा सकता है। तब कालि-दास की रचनाओं में इस तरह के प्रसंग साहित्य के स्थायी तत्व हैं या अस्थायी? यदि स्थायी हैं तो आज के कवि—साधारण कवि नहीं, रवीन्द्रनाथ. भारती, निराला जैसे कवि—उन पर क्यों रचनाएँ नहीं करते? यही नहीं कालिदास के दृष्टिकोण से विरोधी विचारधारा अपनाकर वे महान् कृतियाँ कैसे दे सके हैं? यदि अस्थायी हैं तो स्वीकार करना होगा कि कालिदास-साहित्य के सभी तत्व समान रूप से अस्थायी नहीं हैं; कुछ उनमें अस्थायी भी हैं और वे हमारे लिए अनुकरणीय नहीं हैं।

पृथ्वी भोगने के लिए युद्ध करना आवश्यक है। रामायण और महा-

साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या : कालिदास

साहित्य के स्थायी मूल्यों की छानबीन करते हुए कालिदास की चर्चा करना स्वाभाविक है। वह भारतीय साहित्य के सबसे स्थायी कवि हैं। शताब्दियों से सहृदय काव्य-मर्मज्ञ उन्हें कविकुलगुरु कहते आए हैं। जिस समाज-व्यवस्था में उनका जन्म हुआ था, वह नष्ट हो चुकी है या नष्टप्राय है; फिर भी उनका काव्य-सौष्ठव न तो नष्ट हुआ है, न भविष्य में नष्ट होता दिखाई देता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह काव्य-सौष्ठव समाज-निरपेक्ष है, वह ऐसे शाश्वत सौन्दर्य की व्यंजना है जो देश-काल की सीमाओं के परे है? क्या कालिदास की काव्य-महिमा इस बात के लिए प्रबल तर्क नहीं है कि साहित्यकार को सामाजिक उथल-पुथल से दूर रहकर सौन्दर्य की एकान्त साधना करनी चाहिए?

: १ :

कालिदास जिस समाज-व्यवस्था से परिचित हैं और जिसे वह अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं, वह चार वर्णों में विभाजित है। इसमें श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मणों का है जो सभी के पूज्य हैं। क्षत्रिय सभी की रक्षा करने वाले हैं। वैश्य व्यापार आदि कार्य करते हैं और शूद्र दूसरों की सेवा करते हैं। अपनी रक्षा के लिए प्रजा एक निश्चित कर राजा को देती है। यह व्यवस्था इतनी रूढ़ हो चुकी है कि वर्ण का निश्चय कर्म से नहीं, जन्म से होता है। शम्बूक जन्म से शूद्र था, इसलिए उसे तप करने का अधिकार न था। उसके 'अपचार' से एक ब्राह्मण का पुत्र अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, इसलिए तप करते हुए शम्बूक का सिर काटकर राम ने उस ब्राह्मण के लड़के को जिला दिया (रघुवंश, सर्ग १५)। दुष्यन्त अपने पुत्र के हाथ में चक्रवर्तियों के लक्षण देखते ही पहचान जाते हैं कि वह किसी राजा का पुत्र है और चक्रवर्ती बनने के लिए पैदा हुआ है। सुदक्षिणा के गर्भ में लोक-पालों के अंश विद्यमान हैं, इसलिए उसके पुत्र को चक्रवर्ती होना ही चाहिए

(रघुवंश, सर्ग ३)। राजा लोग दो काम करते हैं—भोग और युद्ध। दोनों से छुट्टी मिलने पर योग साधते हैं। यद्यपि वे प्रकृति-रंजक, प्रजा को प्रसन्न रखने वाले हैं, फिर भी यह पृथ्वी उनके भोग के लिए है। रघु ने अज को पृथ्वी ऐसे सौंप दी, जैसे वह दूसरी इन्दुमती हो (रघुवंश, सर्ग ८)। सीता को बनवास देने के बाद राम ने पृथ्वी का ही भोग किया (उप० सर्ग १५)। दुष्यन्त प्रतिज्ञा करते हैं कि अनेक रानियों के रहते हुए उनके यहाँ दो ही की प्रतिष्ठा होगी—एक तो पृथ्वी की, दूसरी शकुन्तला की। प्राचीन कवियों ने पृथ्वी को माता और अपने को उसका पुत्र कहा था। अब वह भोग की वस्तु बन गई है। कवि राजाओं के चाटुकार बन गए हैं। सरस्वती यह देख कर सिर धुनने और पछताने के बदले चारणों के कण्ठ में बैठकर रघु की स्तुति करती हैं (रघुवश सर्ग ४)।

समाज-व्यवस्था के प्रति कालिदास उदासीन नहीं हैं। उनका एक निश्चित दृष्टिकोण है जो प्रचलित समाज-व्यवस्था का पोषक है। यह व्य-वस्था अभ्युदयशील न होकर काफी रूढ़ हो गई है। उसकी गहरी छाप कालिदास के काव्य पर है। यह छाप उनके काव्योत्कर्ष में सहायक न होकर एक बाधा बन गई है। कालिदास और उनके अनेक—सम्भवतः अधिकांश—सामयिक काव्य-प्रेमियों की सहृदयता को यह देखकर धक्का न लगा होगा कि पृथ्वी नारी के समान भोग्या है, सरस्वती राजाओं की स्तुति करती है और शूद्र के तप करने पर उसका सिर काट लिया जाता है। 'उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं यह कहा जा सकता है। तब कालि-दास की रचनाओं में इस तरह के प्रसंग साहित्य के स्थायी तत्व हैं या अस्थायी? यदि स्थायी हैं तो आज के कवि—साधारण कवि नहीं, रवीन्द्रनाथ, भारती, निराला जैसे कवि—उन पर क्यों रचनाएँ नहीं करते? यही नहीं कालिदास के दृष्टिकोण से विरोधी विचारधारा अपनाकर वे महान् कृतियाँ कैसे दे सके हैं? यदि अस्थायी हैं तो स्वीकार करना होगा कि कालिदास-साहित्य के सभी तत्व समान रूप से अस्थायी नहीं हैं; कुछ उनमें अस्थायी भी हैं और वे हमारे लिए अनुकरणीय नहीं हैं।

पृथ्वी भोगने के लिए युद्ध करना आवश्यक है। रामायण और महा-

भारत में युद्ध अन्याय के प्रतिकार के लिए था; राम, कृष्ण, अर्जुन आदि वीर इसलिए आदर्श पात्रों के रूप में चित्रित किये गए थे। लेकिन कालिदास के रघुवंशी राजा यश के लिए विजय प्राप्त करने चलते हैं (रघु०, सर्ग १)। युद्ध आदि के वर्णन में अतिरंजित चित्रों और कल्पना-चमत्कार का बाहुल्य रहता है। रघु जब दिग्विजय के लिए चलते हैं तो सबसे आगे उनका प्रताप चलता है, उसके बाद सेना का कोलाहल, उसके बाद धूल और सबसे पीछे सेना (रघु०, सर्ग ४)। इन्दुमती के साथ लौटते हुए अज अपने विरोधियों से युद्ध करते हैं, तब एक योद्धा सिर कटने पर देवता हो गया, विमान पर चढ़कर स्वर्ग पहुँच गया और वहाँ से सुरांगना के साथ समर-भूमि में देखने लगा कि उसका धड़ अब भी नाच रहा है (रघु०, सर्ग ७)। दो योद्धा एक साथ मारे जाकर स्वर्ग पहुँच गए और वहाँ एक ही अप्सरा के पीछे झगड़ा भी करने लगे (उप०)। कुमारसम्भव में योद्धा हाथियों पर ऐसे बाण चलाते हैं कि हाथियों के सिर पहले गिरते हैं, बाण पीछे (सर्ग १६)। जिन योद्धाओं को हाथियों ने उछाल दिया, उनके प्राण ऊपर ही स्वर्ग चले गए, शरीर नीचे आ गिरा (उप०)। दो योद्धाओं ने एक-दूसरे का सिर काट दिया, स्वर्ग पहुँचकर वे अपने धड़ों का नाच भी देखने लगे (उप०)। कालिदास की महान् प्रतिभा भी उनके युद्ध-वर्णन को प्रभावशाली नहीं बना सकी। युद्ध-वर्णन में उन्होंने परम्परा का निर्वाह-मात्र किया है। उनकी चमत्कार-प्रदर्शन की शैली उनकी प्रकृति-वर्णन की सहज शैली से एकदम भिन्न है। युग-विशेष की रूढ़ि का अनुसरण-भर उन्होंने किया है; उत्साह और तन्मयता का अभाव स्पष्ट है। यह भी उनके काव्य का स्थायी तत्त्व नहीं है, वरन् राजाश्रय-प्राप्त कविता की रूढ़ि से उत्पन्न दोष है।

युद्ध के बाद दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सुखभोग है। सुख का अर्थ है नारी। कालिदास के अधिकांश राजा अनेक पत्नियों वाले हैं। पतिव्रत-धर्म स्त्रियों के लिए है; पुरुष पत्नीव्रत से प्रायः मुक्त हैं। पुरुष भोक्ता हैं, नारी भोग्या है। इसलिए भोक्ता के लिए कोई बन्धन नहीं है। विवाहिता पत्नियों के अतिरिक्त प्रमोद-नृत्य के लिए वारयो-

षिताएँ हैं (रघु०, सर्ग ३); यक्ष का सन्देश ले जाने वाला मेघ पण्यस्त्रियों के साथ विहार करने वालों के उद्दाम यौवन की जानकारी प्राप्त करता हुआ जाता है।

> "यः पण्यस्त्री रतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
> मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि।"

और भी—

> "वेश्यास्त्वत्तो नखपद सुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
> नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्।"

वेश्यावृत्ति इस नागर-संस्कृति का अभिन्न अंग है। उसके बिना उनके उद्दाम यौवन का संगीत अधूरा रहेगा। ये पण्यस्त्रियाँ थीं; पैसे के लिए उनका शरीर बिकता था। सहृदय रसिकों के दुर्भाग्य से साहित्य का यह स्थायी तत्त्व भी अब मिटता जा रहा है।

भोग के उत्कर्ष के लिए मद्यपान आवश्यक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है। रघु के सैनिक मदिरा के साथ शत्रु का यश पी जाते हैं। अज को देखने वाली स्त्रियों में मुँह से आसवगन्ध निकालने वाली देवियाँ भी हैं; अज इन्दुमती के लिए विलाप करते हुए याद करते हैं कि उसने अज के अधपिये मधु को पिया था; वसन्त में अङ्गनाएँ स्मरसखा मधु का सेवन करती हैं (रघु०, सर्ग ६)। यह कहना कठिन है कि कालिदास के समाज में (या उनकी कल्पना में) कौन अधिक पीता था—स्त्रियाँ या पुरुष। कालिदास ने मदविह्वला रमणियों का उल्लेख अधिक किया है। रति विलाप करते हुए इस बात पर क्षोभ प्रकट करती है कि अरुण-नेत्र घुमाती और बोलने में अटपटाती प्रमदाओं का मद्यपान काम के बिना व्यर्थ जायगा। 'मालविकाग्निमित्र' में इरावती कहती है, लोगों की उक्ति है कि मद्यपान से स्त्रियों की शोभा विशेष रूप से बढ़ जाती है। इसलिए भगवान् शंकर ने अनङ्गदीपन मद अम्बिका को भी पिला दिया; रति-विलाप की महिलाओं की तरह "घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं", उनकी भी वैसी ही दशा हो गई। मद्यपान की अतिशयता भोगवाद की अतिशयता को ही सूचक है। मद्यपान और वेश्यावृति में कौन श्रेष्ठ है और कौन निम्न है, इसका निर्णय पाठक करें; किन्तु यदि

घूर्णमान नयनों वाली प्रमदाओं का वर्णन कवि न करे तो क्या इसे साहित्य के एक स्थायी तत्त्व का अभाव माना जायगा ?

नारी भोग की वस्तु है, इसलिए शृंगार रस के सिद्ध कवि द्वारा नर-नारी के परस्पर-सम्बन्ध का वर्णन स्वाभाविक ही है। छहों ऋतुओं की सृष्टि इसीलिए हुई है कि भोगियों का रस-व्यापार एकरस न हो विभिन्न प्रकृति-परिवेशों में सरस बना रहे। गर्मी में "नितम्बबिम्बैः" तथा "स्तनैः" "स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्" (ऋतुसंहार, सर्ग १)। वर्षा का तो कहना ही क्या ? बिजली चमकते ही अपराधी प्रियों को भी देवियाँ क्षमा कर देती हैं। गुफाओं में विहार करते हुए किंपुरुषों और उनकी प्रेमिकाओं के लिए बादल पर्दे का काम करते हैं (कुमारसम्भव, सर्ग १)। यदि वर्षा की बूँदें नहीं हैं तो सुरतग्लानि दूर करने के लिए शिप्रावात है (मेघदूत)। कलिदास के कामीजन शृंगार रस में ऐसे डूबते हैं कि सिर उठाने का नाम नहीं लेते। उनके आदर्श भोगी भगवान् शंकर हैं जो आदर्श योगी भी हैं।

समदिवस निशीथं संगिनस्तत्र शम्भोः
शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव।
न तु सुरत सुखेभ्यश्छिन्न तृष्णो बभूव
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः॥ (कुमारसम्भव, सर्ग ८)

दिन-रात भोग करते हुए सौ वर्ष एक रात की तरह बिता देने पर भी वड़वानल की तरह सुरत सुख से वह छिन्नतृष्ण ही रहे।

शिवजी तो योगी थे; उनके लिए सब-कुछ सम्भव था। लेकिन शिवजी के इस मार्ग पर चलने वाले रघुवंशी राजा अग्निवर्ण की बुरी दशा हुई। वह रमणियों से भरी हुई पानशाला में वैसे ही जाते थे जैसे कमलिनियों के बीच हाथी जाता है। रमणियाँ उनका जूठा मद पीती थीं, वह रमणियों का। अन्त में उन्हें क्षय रोग हो गया; वे दूसरों का सहारा लेकर चलने लगे। अन्त में पुत्र का मुँह देखे बिना ही चल बसे। कालिदास ने भोगवाद का यह परिणाम दिखाया, यह अच्छा किया। किन्तु यह उन्होंने 'रघुवंश' में दिखाया है, उसके अन्तिम सर्ग में। 'रघुवंश' को उनकी अन्तिम रचना माना जाता है। यदि यह सत्य है तो अग्निवर्ण का अन्त कालिदास की

अन्य रचनाओं में वर्णित भोगवाद पर अच्छी टिप्पणी है। यह रोग उस समाज-व्यवस्था में लग चुका था जिनमें एक अवकाशभोगी वर्ग दूसरों की अर्जित सम्पत्ति के बल पर भोग (और योग) के सिवा दूसरी बात सोच ही न सकता था। उस रोग का जो परिणाम हुआ, उसे भारतीय इतिहास का हर विद्यार्थी अच्छी तरह जानता है।

इस भोग के साथ योग का संसार है। योग के चमत्कार से असम्भव बातें भी सम्भव हो जाती हैं। गुरु वशिष्ठ ने ध्यान लगाया और उन्हें मालूम हो गया कि दिलीप के पुत्र क्यों नहीं होता। कार्तवीर्य नाम के योगी युद्ध करने चलते थे तो उनके हज़ार हाथ निकल आते थे, इसलिए कोई राजा उनका सामना न कर सकता था (रघु०, सर्ग ६)। एक महर्षि ऐसे थे जो हिरनों के साथ रहते थे और घास खाते थे (दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः) और इस 'तप' से इन्द्र को भय हो गया था। जिस शम्बूक ने तप करके वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन किया था, वह वृक्ष की डाल पर उलटा लटका हुआ था और उसके मुँह के नीचे आग जल रही थी। इस तरह के तप का अधिकार ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित था। शरीर को इस तरह कष्ट देने से आध्यात्मिक उन्नति होती थी। कहाँ उपनिषदों का रहस्य-चिन्तन और कहाँ यह उलटे लटकने की क्रिया! कालिदास की सामाजिक विचारधारा—राजा, प्रजा आदि के सम्बन्ध में—वाल्मीकि और व्यास से पिछड़ी हुई है, उसी तरह योग के विषय में उनका दृष्टिकोण उपनिषदों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। आगे चलकर तुलसीदास ने इसी चमत्कारवाद का प्रबल विरोध करके अपना भक्ति-मार्ग प्रतिष्ठित किया था।

पशुबलि का अलग चलन था। निःसन्देह कालिदास को जीवमात्र से प्रेम था। उनके तपोवनों में पहुँचते ही राजा अपना धनुष अलग रख देते हैं। लेकिन धार्मिक रूढ़ि के रूप में उन्हें पशुबलि स्वीकार थी। जिस धीवर को दुष्यन्त की अँगूठी मिली थी, वह उन श्रोत्रियों का हवाला देता है जो पशुहत्या के दारुण कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

कालिदास के समाज की विशेष धार्मिक उपज पुराण थे। पुराणों से महाकवि ने अपने काव्य-सौन्दर्य की ही बहुत-सी सामग्री नहीं ली, उनसे

उन्होंने कुछ ऐसी बातें भी ली हैं जो जहाँ-तहाँ काव्य को पुराण बना देती हैं और इससे काव्य-सौन्दर्य घट जाता है। रघुवंश में देवताओं द्वारा विष्णु की स्तुति, कुमारसम्भव में ब्रह्मा की स्तुति आदि ऐसे ही प्रसंग हैं। रघुवंश के अठारहवें सर्ग में कवि ने राजाओं के नाम गिनाकर पुराणों की तरह वंशावली लिख डाली है। पुराणवाद ने यहाँ उनके काव्योत्कर्ष को प्रायः नष्ट ही कर दिया है। कालिदास का कलात्मक दृष्टिकोण एक कुशल चित्रकार का है। साधारणतः वह पुराणों से ऐसे तत्त्व लेते हैं जो सौन्दर्य बोध को निखारने वाले होते हैं। लेकिन रूढ़ियों का पालन करते हुए उन्होंने छः दिन के षडानन से युद्ध ही नहीं कराया, ब्रह्मा के चार मुखों द्वारा षडानन के छः मुखों का चुम्बन भी कराया है।

> धनप्रमोदाश्रुतरंगिताद्यैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रचुरप्रसादैः।
> अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं षट्सु शिरःसुचित्रम्॥

वैसे तो ब्रह्मा के लिए सब-कुछ सम्भव है लेकिन देवताओं का जितना ही मानवीकरण हो, उतना ही वे काव्य के लिए उपयोगी होते हैं। अद्भुत रस का प्रसंग होता तो चित्र ठीक रहता। इस विचित्र व्यापार का कारण अनेक पौराणिक रूढ़ियों को स्वीकार कर लेना है जिससे काव्यकला की क्षति हुई है।

पौराणिक रूढ़ियों के अतिरिक्त कालिदास ने अनेक काव्यगत रूढ़ियों का अनुसरण भी किया है। उनके युद्धवर्णन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरञ्जित आलंकारिक वर्णन इसी रूढ़िवाद के अन्तर्गत आते हैं। शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियों के जिस चमत्कारवाद का विरोध किया था, उसके बीज कालिदास में विद्यमान हैं। उनमें इस तरह का कल्पना-विलास मिलता है—हंस, तारे, कुमुद आदि देखकर लगता है कि ये रघु का यश हैं। शिवजी ने पार्वतीजी की आँखों में लगाने के लिए अपने तीसरे नेत्र से ही काजल पार लिया। शिवजी के पुत्र षडानन अपना हाथ शिवजी के सिर पर बहती हुई गंगा में डाल देते हैं और जब ठण्ड लगती है तब उनके तीसरे नेत्र से उसे सेंक लेते हैं।

कालिदास की काव्य-कला का अध्ययन उनके समय की समाज-व्यवस्था से अलग करके नहीं किया जा सकता। उस व्यवस्था को भुलाकर एक महान् कवि में उपर्युक्त चमत्कारवाद की व्याख्या करना कठिन हो जायगा। कालिदास के समय में वह समाज-व्यवस्था पूरी तरह परिपक्व हो चुकी है, इतनी कि उसमें ह्रास के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। इस व्यवस्था ने महाकवि की चेतना को सीमित कर दिया है। राजाओं के सम्बन्ध में उनके विचार उनके चरित्र-चित्रण पर प्रभाव डालते हैं। वाल्मीकि की तरह वह अपने आदर्श-पात्रों के मानवत्व की घोषणा नहीं करते—दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः। जो शिव के समान देवता हैं, षडानन के समान देव-पुत्र हैं, राम के समान अवतार हैं, उनके चमत्कारों का तो कहना ही क्या, दुष्यन्त जैसे राजा भी इन्द्र की सहायता करने पहुँच जाते हैं। राम को विजय-प्राप्ति के लिए भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था; वाल्मीकि के राम मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से अपरिचित नहीं हैं। कालिदास के राजा बड़ी सरलता से विजय पा जाते हैं। उनमें रामायण और महाभारत के वीरों की प्रयत्नशीलता का अभाव है। युद्ध में अनेक चमत्कार दिखाने वाले ये राजा वास्तव में निष्क्रिय लगते हैं। उनकी सक्रियता प्रायः भोग्या नारी को देखकर जाग्रत होती है; उनकी मुख्य मानसिक व्यथा विरहजन्य होती है। स्त्रियाँ और भी निष्क्रिय हैं। ओष्ठ रँगने और भ्रूसञ्चालन में वे पटु होती हैं। नखक्षतों की पीड़ा वे जानती हैं। वे वात्स्यायन की प्रयोगशाला की सजीव मानव-मूर्तियाँ हैं। उनमें प्राचीन महाकाव्यों की वीर नारियों के-से दर्प और संघर्ष की क्षमता नहीं है। कालिदास के समाज में नारी का व्यक्तित्व दबा दिया गया है। वीर नारियों का स्थान वेश्याओं और अभिसारिकाओं ने ले लिया है। अन्य नारियाँ अधिकतर प्रेमिका-मात्र रह गई हैं। चरित्र-चित्रण में कविकुलगुरु आदि-कवि से बहुत पीछे हैं और इसका कारण उस समय के सामाजिक वातावरण से उनकी कला का गहरा सम्बन्ध है।

सामन्तों की आश्रय-प्राप्त कविता चमत्कार-प्रधान हो चुकी है। कालि-दास की अद्भुत उत्प्रेक्षाओं में ही यह चमत्कारवाद नहीं दिखाई देता, उनके साधारण कथा-प्रवाह में भी यह प्रयत्न दिखाई देता है कि हर छन्द में कोई

विशेष आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न किया जाय। इस कारण उनके कथा-वर्णन में वह ओजपूर्ण प्रवाह नहीं है जो वाल्मीकि की विशेषता है। उनकी कविता सुन्दर है लेकिन उसमें उस गरिमा का अभाव है जो व्यास की विशेषता है, जो मनुष्य की चेतना को भावना के एक उच्च धरातल पर ले जाती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनका काव्य-जगत् सीमित है; इसलिए उन्होंने मनुष्य के जिस भावजगत् का उद्‌घाटन किया है, वह तुलसीदास की तुलना में सीमित है। शृङ्गार-रस के अतिरिक्त वे जिस रस को छूते हैं उसमें उन्हें अपेक्षाकृत कम सफलता मिलती है। इसलिए पण्डितों ने शृङ्गार को रसराज घोषित करके उनके सीमित भावजगत् को एकमात्र भावजगत् बना दिया। वाल्मीकि और तुलसी के साथ न्याय करने के लिए कालिदास की इन ऐतिहासिक सीमाओं को याद रखना आवश्यक है। निस्सन्देह प्राचीन समाज-व्यवस्था से उन्होंने बहुत-कुछ पाया; किन्तु यह भी सही है कि इस व्यवस्था की, उसकी धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों की गहरी छाप उनके काव्य पर है और वह सदा उसके उत्कर्ष में सहायक नहीं हुई।

: २ :

कालिदास का काव्य-साहित्य एक ओर पूर्ण-विकसित प्राचीन समाज-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है, दूसरी ओर वह उसकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों और निर्जीव रूढ़ियों की प्रतिक्रिया भी है। वर्गयुक्त समाज के अनेक महान् साहित्यकारों की तरह कालिदास में भी अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध हैं। ये अन्तर्विरोध उनके धार्मिक और दार्शनिक विचारों में, उनके राजनीतिक और सामाजिक विचारों में, उनके सौन्दर्यबोध और भावजगत् में सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं। इसीलिए कालिदास को सामन्ती-व्यवस्था का चारण समझना बहुत बड़ा भ्रम है, किसी सामन्त-विशेष का चारण समझना और भी बड़ा भ्रम है। कालिदास का साहित्य उस काल की समाज-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, साथ ही उसका बहुत बड़ा भाग उस व्यवस्था से मुक्त होकर एक कल्पनालोक की सृष्टि भी करता है। इसलिए कालिदास में जो कुछ भी मिले, उस सभी को हम उस युग का सामाजिक यथार्थ नहीं मान सकते।

कालिदास ने अनेक राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु इन सभी के चित्र यथार्थ जीवन से नहीं लिये गए। अनेक पात्र आदर्श राजाओं के रूप में कल्पित किये गए हैं। राजा दिलीप के कारागारों में कोई भी बन्दी न था जिसे वह पुत्र-जन्मोत्सव पर छोड़ते। राम लोभपराङ्मुख थे, इसलिए प्रजा अर्थवान् हो गई। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को आसमुद्रक्षितीश कहा है। समग्र देश की एकता और उस पर एक ही चक्रवर्ती सम्राट् का शासन उनका आदर्श था। देश के सामने उन्होंने यथार्थ चित्रण के बदले एक आदर्श चित्र ही रखा था। दुष्यन्त यह घोषणा कराते हैं कि राज्य में जिसका कुटुम्बी न रहे, वह दुष्यन्त को अपना कुटुम्बी समझे। एक ओर राजा के लिए पृथ्वी भोग का साधन है, दूसरी ओर वह प्रजा का साधारण कुटुम्बी भी है।

कालिदास ने राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु मानों इससे सन्तोष न होने पर वह बराबर प्रकृति की ओर भागते हैं या कल्पना-लोक रचते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम नगर के बदले तपोवन में होता है। शिव और पार्वती के प्रेम की भूमि गन्ध-मादन आदि अनेक पर्वत हैं। अलका विलास और वैभव का कल्पना-लोक है। वहाँ के फ़र्श मणियों से बने हुए हैं। यक्षों के हर्म्य-स्थल सितमणिमय है। यक्षबालाएँ कनकसिकता फेंककर मणियों को छिपाती हैं और फिर उन्हें ढूँढ़ने का खेल खेलती हैं। अपने दुकूल खींचे जाने पर जब वे रत्नप्रदीपों पर चूर्ण फेंकती है तो वे बुझते नहीं हैं। उनकी सुरतजनित अङ्गग्लानि दूर करने के लिए चन्द्रकान्त मणियों से जलबिन्दु टपकते हैं। उन्हें अपनी सारी शृङ्गारसामग्री कल्पवृक्ष से प्राप्त हो जाती है। यक्ष के घर की वापी में स्वर्ण-कमल खिलते हैं। उसके उद्यान में इन्द्रनाल-मण्डित क्रीड़ाशैल है और वह 'कनक कदली वेष्टन प्रेक्षणीय' है। इस तरह के कल्पनिक वर्णन कालिदास में अन्यत्र भी हैं। आजकल की आलोचना की शब्दावली में हम कहेंगे कि कालिदास रोमाण्टिक कवि हैं। श्रीभगवतशरण उपाध्याय ने मेघदूत के लिए लिखा है—"It may stand to proclaim the inauguration of a romantic era in Sanskrit poetry." (India in Kalidasa, पृ०

२८५)। संस्कृत काव्यजगत् में रोमांटिक युग का आरम्भ कब हुआ, यह कहना कठिन है। असंदिग्ध बात यह है कि कालिदास एक महान् रोमाण्टिक कवि हैं और विश्व के प्रथम रोमाण्टिक कवियों में से हैं। उनकी रोमाण्टिक वृत्ति नर-नारी के प्रेम के वर्णन में, प्रकृति-चित्रण में, उनके सूक्ष्म इन्द्रिय-बोध में और पौराणिक गाथाओं के सौन्दर्यवादी उपयोग में सर्वत्र दिखाई देती है।

कालिदास की समाज-व्यवस्था के भोगवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यूरोप में १६वीं सदी से पहले जो काव्य लिखा गया, उसमें प्रेम की जगह अधिकतर वासना की प्रतिष्ठा है। यूरोप के प्राचीन (यूनानी) साहित्य की चर्चा करते हुए वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक एङ्गेल्स ने राज्यसत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में यह मत प्रकट किया है कि यूनानियों के लिए भोग का इतना महत्त्व था कि उन्हें इसकी भी चिन्ता न रहती थी कि जिससे वे भोग कर रहे हैं, वह नारी है या नर। उनका संकेत यूनान में खुलेआम पुरुषों में प्रचलित अप्राकृतिक व्यभिचार की ओर था। यूरोप में नवजागरण (रिनेसेंस) के प्रथम कवि इटली के दान्ते ने व्यक्तिगत प्रेम को उच्च साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनसे अनेक शताब्दियों पहले महाकवि कालिदास ने भारतीय काव्य में व्यक्तिगत प्रेम की प्रतिष्ठा की थी। व्यक्तिगत प्रेम से तात्पर्य उस प्रेम से है जो एक पुरुष और एक नारी के बीच अक्षुण्ण रहता है। पुरुष के लिए अनेक तरुणियाँ अपने यौवन और सौन्दर्य के कारण भोग्य नहीं होतीं, वरन् उसका हृदय केवल एक से प्रेम करता है।

कालिदास के नायक बहुधा अनेक पत्नियों वाले होते हैं, किन्तु प्रेमी के रूप में वे एक से ही हार्दिक स्नेह करते हैं। दिलीप की अनेक पत्नियाँ हैं लेकिन वह प्रेमी सुदक्षिणा के हैं। यही हाल दुष्यन्त का है। लेकिन इनसे भिन्न उनके अन्य प्रेमी पात्र हैं जो एकपत्नीव्रती हैं। यक्ष की अलका में विलास की सभी सामग्रियाँ हैं, लेकिन वासना के कलुष से घिरे होने पर भी वह केवल अपनी प्रिया से स्नेह करता है और वह प्रिया भी अलका के विलासमय वातावरण में पूर्वी क्षितिज पर हिमांशु की शेष कलामात्र-सी

शय्या पर पड़ी रहती है। इसी प्रकार शिव और पार्वती का प्रेम है। इन्दुमती के लिए अज की उक्ति साहित्य के इतिहास में अद्भुत है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणा विमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

यूरोप में प्रेम के सबसे बड़े गायक शेली तक में पत्नी तो क्या किसी प्रेमिका के लिए भी ऐसी उत्कट प्रेम-व्यञ्जना नहीं है। यूरोप की अधिकांश मध्यकालीन कविता में विवाह-सम्बन्ध से बाहर अवैध प्रेम का कीर्तन है। केवल मिल्टन ने अपने महाकाव्य 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में विवाहित प्रेम का अभिनन्दन किया है। जब तक विवाह का आधार कुल, गोत्र और सम्पत्ति हैं, तब तक विवाह के साथ प्रेम का अस्तित्व दुर्लभ होता है, काव्य में दुर्लभ ही रहा है। किन्तु भारत में नारी के लिए अपना प्रेमी चुनने का आदर्श रहा है—कम-से-कम काव्य में वह आदर्श बना रहा है—इसलिए विवाह और प्रेम में कोई आधारभूत विरोध नहीं रहा।

इन्दुमती ने अज को पिता के कहने से नहीं, स्वेच्छा से स्वीकार किया था। स्त्रियाँ कहती हैं कि स्वयंवर के बिना इन्दुमती को आत्मतुल्य कान्त कैसे मिलता। इसीलिए वह गृहिणी, सचिव, सखी, शिष्या सभी-कुछ है। उसके न रहने से अज के लिए संसार सूना हो गया है। नारी स्वयं पति चुनती है, इसलिए कालिदास ने अनेक बार विवाह से पहले पुरुष और स्त्री के प्रेम का चित्रण किया है। इन्दुमती ने अज को देखते ही उन्हें अपनी दृष्टि से वर लिया। अन्य रोमाण्टिक कवियों की तरह कालिदास में भी प्रथम दर्शन से ही प्रेम का अभ्युदय होता है। इन्दुमती की तरह शकुन्तला दुष्यन्त को देखते ही उन पर मोहित हो जाती है। कालिदास ने इस प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन ही नहीं किया, दीर्घ साहचर्य के बाद स्थिर रहने वाले प्रेम की अभिव्यंजना भी की है। यक्ष और उसकी पत्नी दोनों ही विरह की आग में जलते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों ही बिछोह में कष्ट पाते हैं। अज अपनी पत्नी को सदा के लिए खो बैठने पर करुण विलाप करते हैं। प्रेम नर-नारी में असमानता का भेद नहीं करता। विरही पुरुष भी होता है, नारी भी। यह कहना कि भारतीय साहित्य नारी के विरह

का ही वर्णन करता है, कालिदास को भारतीय साहित्य की परिधि से बाहर निकाल देना होगा।

अज का कहना है कि वह शाब्दिक रूप से क्षितिपति थे, उनका वास्तविक प्रेम इन्दुमती से था। कालिदास के राजा शाब्दिक रूप से राजा हैं अपने वास्तविक रूप में वे प्रेमी हैं। उनके राज्य-सञ्चालन आदि का वर्णन कवि ने रूढ़ि का पालन करने के लिए किया है। उसका वास्तविक लक्ष्य उन्हें प्रेम रूपों में चित्रित करना है। फिर यक्ष और शिव तो सामन्त नहीं हैं। नारद ने भविष्यवाणी की थी कि पार्वती शिव की एकमात्र पत्नी और उनके आधे शरीर की स्वामिनी बनेंगी—

समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य।

पार्वती की सखियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया, "अखण्डितं प्रेम लभस्व।" आदर्श प्रेम अखण्डित ही होता है। यक्ष के लिए उसकी पत्नी "जीवितं मे द्वितीयं" है। अनेक स्थलों में कालिदास ने संकेत किया है कि मानव-प्रेम इस जन्म से पहले और उसके बाद भी स्थिर रहता है। अज अपना शरीर छोड़ने पर स्वर्ग में इन्दुमती से फिर मिलते हैं। काम के भस्म हो जाने पर भी रति उसे पुनः प्राप्त कर लेती है। पार्वती ने पूर्वजन्म में सती रूप में शिव से प्रेम किया था। सहस्रों राजाओं में इन्दुमती ने अज को ही चुना, इसका कारण पूर्वजन्म की पहचान है। इस तरह के कथा-प्रसंगों में प्रेम की रहस्यवादी व्यञ्जना का संकेत मिलता है।

यह अनिवार्य था कि प्रेमी कवि कालीदास कहीं-न-कहीं रूढ़ियों से टकराते। उन्होंने भरसक रूढ़ियों की रक्षा की है, फिर भी शाप देने वाले दुर्वासाओं से वह सदा अपने प्रेमीजनों की रक्षा नहीं कर सके। यक्ष अपने प्रेम के कारण स्वाधिकार-प्रमत्त हो जाता है; शकुन्तला अनन्यमनसा दुष्यन्त का ध्यान करती हुई दुर्वासा का सत्कार नहीं कर पाती। यही नहीं, उसने गुप्त प्रम किया है, दुष्यन्त से गन्धर्व-विवाह किया है। इस पर बाद में उसे ताने भी सुनने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि कालिदास की सहानुभूति शकुन्तला के प्रति है, न कि दुर्वासा के प्रति। किन्तु दुर्वासा के शाप के कारण अभिशप्त यक्ष की तरह दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को यातना सहनी पड़ती है। शाप

पाने वाली देवियाँ बहुधा अप्सराओं की कन्याएँ हैं। शकुन्तला मेनका की कन्या है; उसके पिता कौशिक गोत्र के एक राजा थे। किन्तु शकुन्तला कौशिक-मेनका के विधिवत् पाणिग्रहण का परिणाम न थी। क्या इस तरह की अविवाहित अप्सराओं की सन्तान से राजा को विवाह करना चाहिए? कालिदास का उत्तर विवाह के पक्ष में है। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा की प्रेयसी उर्वशी है। उर्वशी भी शापवश लता बन जाती है, क्योंकि वह स्त्रियों के लिए निषिद्ध वन में चली गई थी। अज की प्रिय पत्नी इन्दुमती पूर्वजन्म में अप्सरा थी, जिसे ऋषि ने शाप देकर मनुष्यलोक में जन्म लेने के लिए बाध्य किया था। अप्सराओं या अप्सराओं की कन्या के प्रति यह प्रेम क्या महाकवि के जीवन की किसी विशेष घटना की ओर इंगित करता है? इतना निश्चित है कि इस तरह का प्रेम साधारण रूढ़ियों से दूर है।

यौवन और सौन्दर्य से कालिदास के प्रेम का घनिष्ठ सन्बन्ध है। भोगवाद के अतिरिक्त उनमें भरे-पूरे जीवन की आनन्दकामना है। जैसे रंग भरने से चित्र खिल उठता है, वैसे ही यौवनागम से नारी का सौन्दर्य निखर जाता है (कुमारसम्भव, सर्ग १)। कोयल स्त्रियों को मान तजने की सीख देती है क्योंकि यौवन चला जाने पर फिर नहीं आता (रघुवंश, सर्ग ६)। मिल्टन ने ईव की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैतान उन्हें देखकर ठगा-सा रह गया और एक क्षण के लिए दूसरों का अमंगल करने की वृत्ति भूल गया। कालिदास ने भी उस रूप का वर्णन किया है जिससे मनुष्य चमत्कृत होकर पापवृत्ति भूल जाय। उमा का सौन्दर्य "पापवृत्तये न" था (कुमारसंभव, सर्ग ५)। शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन में कालिदास जहाँ विभिन्न अंगों की अलग-अलग सुन्दरता की चर्चा करते हैं, वहाँ समग्र रूप का आभास देने के लिए वह उसे अपार्थिव कल्पनालोक की वस्तु बना देते हैं। शिव उमा के लिए कहते हैं—"त्रिलोक सौन्दर्य मिवोदितं वपुः।" उमा के शरीर में मानो तीनो लोकों का सौन्दर्य उदय हो गया था। यक्ष की पत्नी "युवतिविषये सृष्टि राद्येव धातुः" है। विधाता ने अपनी प्रथम कृति के रूप में उसी को सँवारा था।

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त की समझ में आता है कि उद्यानलता

और वनलता में क्या अन्तर है। शकुन्तला का सौन्दर्य वनलता का-सा है। उसका वपु अव्याज मनोहर है। वल्कल पहने हुए भी वह मनोज्ञ मालूम होती है। वह अनाघ्रात पुष्प है, अलून किसलय है, अनाविद्ध रत्न है, अनास्वादित नव मधु है, उसका अनघ रूप पुण्यों का अखण्ड फल है। प्रेमी की रूपतल्लीनता उसे आत्मविभोर कर देती है। अन्य कवियों की भाँति कालिदास ने भी प्रकृति में नारीत्व का आरोप किया है। प्राकृतिक उपमानों से नारी की तुलना करते हुए वह रूपजन्य आनन्दातिरेक की व्यञ्जना भी करते हैं। आभरण पहने हुए उमा नक्षत्रमण्डित त्रियामा जैसी लगती हैं। रेशमी वस्त्र पहने हुए उमा "क्षीरोद वेलेव सफेनपुञ्जा" लगती हैं। नारी के प्रसाधनों में प्राकृतिक वस्तुओं का महत्त्व ही अधिक है। उमा को देखकर जब शिव पहली बार विचलित हुए थे, उस समय वह कर्णिकार और साधारण पल्लवों से शृङ्गार किये हुए थीं। चन्द्रमा की किरणों देखकर शिव कहते हैं कि वे जौ के अङ्कुरों के समान हैं और उनसे उमा के लिए कर्णपूररचना हो सकती है। रोमाण्टिक शृङ्गार-भावना की यह चरम परिणति है।

अन्यत्र महाकवि ने तमाल के प्रवाल को अवतंस बनाकर सीता के 'यवाङ्कु रापाण्डुकपोल' को और भी सुन्दर बना दिया है। इस तरह के उपमान असाधारण रूप से सुन्दर तो हैं ही, उनसे कवि के सूक्ष्म इन्द्रियबोध का भी पता चलता है। रूप, स्पर्श और गन्ध का एक साथ सम्मिश्रण 'प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य' में मिलता है। उनके लिए रूप जड़ मूर्ति की तरह प्राणहीन न होकर स्पन्दनशील है। वह अपने उपमानों द्वारा मानों उसका सजीव स्पन्दन ही प्रकट कर देते हैं। अंग्रेज़ कवि कीट्स के सौन्दर्यबोध की उचित और यथेष्ट प्रशंसा की गई है। किन्तु कीट्स के लिए मूर्त रूप उस तरह जीवित और स्पन्दनशील नहीं है जैसे महाकवि कालिदास के लिए। मनुष्य के विचार बदल जाते हैं, उसके भावजगत् में भी यथेष्ट परिवर्तन होते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध इनसे अधिक व्यापक होता है। इन्द्रियबोध के क्षेत्र में यह सदा सम्भव है कि सामाजिक विकास की दृष्टि से एक पिछड़ी हुई व्यवस्था का कवि शताब्दियों तक अपनी कोटि के रचनाकार के अभाव में अनामिका को सार्थक करता रहे। जौ के अङ्कुर कालिदास के प्रिय उप-

मान हैं। उनसे स्पर्श-मार्दव, नेत्र-सुखद रंग और जीवन-क्रिया तीनों ही अभिव्यंजित हैं। कालिदास के लिए सप्राण प्रकृति और चेतन मनुष्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उर्वशी शापवश लता हो जाती है और पुरूरवा जब उन्मत्त की-सी दशा में उसे भेंटता है, तो वह लता उर्वशी-रूप में परिवर्तित हो जाती है। कालिदास का हृदय प्रकृति की जीवन-क्रिया से तन्मय हो जाता है। प्राकृतिक परिवेश में प्रेमीजन मिलते हैं, उनके प्रेम का सहज स्फुरण लता-विटपों के मिलन जैसा लगता है। शकुन्तला की प्रिय नवमालिका ने बालसहकार से स्वयंवर कर लिया है। जिस समय उमा ने शिव को किंचित्-विलुप्तधैर्य अपनी ओर निहारते देखा, उस समय स्फुरद् बालकदंब के समान अपने अंगों से भाव प्रकट किये। यह प्रेम जीवन की वह स्वाभाविक क्रिया है जहाँ मनुष्य की संवेदना, भावना और विचार एक ही राग में झंकृत हो उठते हैं।

कालिदास के सौन्दर्यबोध का मूलाधार उनका जीवन-प्रेम है। यह जीवन मनुष्य, पशु और वनस्पति में सर्वत्र है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे विश्व में किसी अगोचर चेतना के दर्शन करते हैं। उनके लिए यह जीवन घोर गोचर है; वह इन्द्रियबोध से अभिन्न है, उससे परे नहीं। विलास और वैभव का यह कवि धरती के इतना निकट है जितना कोई भौतिकवादी कवि नहीं हुआ। उसे वर्षा के बाद धरती से उठने वाली सोंधी सुगन्ध अत्यन्त प्रिय है। गर्मी के अन्त में वर्षा होने पर हाथी बार-बार तालों की मिट्टी सूँघते हैं (रघु०, सर्ग ३); वर्षा के कारण धरती से जो वाष्प निकली उससे कन्दली की खिली हुई लाल कलियाँ विवाह के समय हवन क[illegible] से सीता की लाल आँखों जैसी हो जाती हैं (उप०, सर्ग १२)। यक्ष के सखा मेघ के सहायकों में धरती से उठती हुई गन्ध सूँघने वाले हाथी भी हैं। देवगिरि की ओर जाते हुए मेघ को जो पवन थपकियाँ देगा, वह उसके निस्यन्द से उच्छ्वसित वसुधागन्ध-सम्पर्क रम्य है। मेघ यक्ष के हृदयोच्छ्वास के साथ बसुधा का गन्धोच्छ्वास भी लेकर अलका की ओर जाता है।

यह गन्धोच्छ्वास भारत की ही धरती का है। मेघदूत में भारत के ग्राम-नगरों और प्रकृति के प्रति अपूर्व अनुराग प्रकट किया गया है। इन्दुमती के

स्वयंवर में राजाओं के परिचय के बहाने भारत के सभी भागों की प्रकृति का परिचय दिया गया है। कालिदास के मानववाद में देशभक्ति के बीज विद्यमान हैं।

जीवन का जो उभार प्रकृति में दिखाई देता है, वही मानवमात्र में यौवन बनकर झलकता है। जो पवन भरी बालों से झुके हुए धान के पौधों को हिलाता है, वही नवयुवकों के हृदय चंचल करता है (ऋतुसंहार, सर्ग ३)। पृथ्वी जैसे अपने गर्भ में बीज छिपाये रहती है, वैसे ही अग्निवर्ण की रानी अपने गर्भ में नया जीवन छिपाये रहती है। मानव और प्रकृति में जीवन-विकास की यह रहस्यमय क्रिया कालिदास को समान रूप से आकर्षित करती है। पाश्चात्य साहित्य में गर्भवती नारी को यह महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ जो उसे भारतीय साहित्य में प्राप्त है। प्रभात शशि युक्त शर्वरी के समान लोध्र-पाण्डु मुख वाली सुदक्षिणा सुन्दर हैं। दशरथ की रानियाँ दानों से भरी हुई नाज की बालों के समान पीली पड़कर भी सुन्दर हैं। नाज की भरी बालों के उपमान में केवल रंग की ओर संकेत नहीं है, वरन् उस स्वाभाविक जीवन-क्रिया की ओर भी संकेत है, जो प्रकृति और मानव के लिए समान है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का सुख जीवन का ही सुख है। यह कालिदास की महत्ता है कि वह इस इन्द्रियबोध के साथ मूलतः जीवन के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं। वनस्पति-जगत् और पशुओं के प्रति जैसी सुकुमार सहानुभूति 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के चौथे अंक में प्रकट हुई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है और उसका कारण प्रकृतिव्यापी जीवन के प्रति कवि का असीम अनुराग है। वशिष्ठ के आश्रम में मृग उटज द्वार रोककर खड़े हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें भी ऋषियों की सन्तान की तरह नीवार में भाग मिलता है (रघु०, सर्ग १)। कालिदास को तपोवन अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि यहाँ सभी जीव वीतभय हो गए हैं (रघु०, सर्ग १४)। जिस हरिण पर दुष्यन्त बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच तपस्वी आकर खड़े हो जाते हैं। यही नहीं, जिस हरिण पर दशरथ बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच हरिणी आकर खड़ी हो जाती है। न केवल जीवन के स्पन्दन वरन् प्रेम के स्पन्दन से भी पशु-जगत् वंचित नहीं है। इसलिए जब शकुन्तला आश्रम से चलने लगती है, तब

उसका पुत्रतुल्य पाला हुआ मृग आकर उसकी राह रोककर खड़ा हो जाता है। कालिदास की करुणा मानव ही नहीं, जीवमात्र को अपने अन्दर समेट लेती है। इस करुणा का स्रोत दया नहीं हैं; उसका स्रोत व्यापक जीवन के प्रति गम्भीर अनुराग है। पाश्चात्य रोमांटिक कवियों में रूप-रस-गन्धमय मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अतिशय अनुराग है और कभी-कभी उसके साथ अतीन्द्रिय, अगोचर विश्वव्यापी चेतना की उद्भावना भी है। कालिदास के लिए रूप-रस-गन्धमय सौन्दर्य निर्जीव नहीं है; न वह अतीन्द्रिय चेतना की ओर ही काल्पनिक उड़ान भरते हैं। वह सूक्ष्म इन्द्रियबोध और मार्मिक करुणा से समृद्ध जीवन के अद्वितीय कवि हैं। इस दृष्टि से उनकी रोमांटिक भावधारा एक अन्य और उच्च स्तर की है। गोचर जगत् के समृद्ध जीवन के प्रति यह सघन अनुराग अवश्य ही साहित्य का स्थायी तत्त्व है।

: ३ :

यहाँ कालिदास के जीवन-दर्शन का प्रश्न हमारे सामने आता है। प्रसिद्ध विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि "शिव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही कालिदास के दर्शन और साधना का ज्ञान है" (मेघदूत : एक अध्ययन)। उनका कहना है कि पार्वती सुषुम्ना नाड़ी का नाम है। मेरुदण्ड हिमालय है जिसके भीतर सुषुम्ना है। शिवजी ने मदन को भस्म किया, तदुपरान्त उमा की तपस्या से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा योग की साधना से शिव और पार्वती का विवाह हुआ, अर्थात् व्यक्ति की चिदात्मक शक्ति जो अधोमुखी थी वह अन्तर्मुखी होकर सहस्रदल में स्थित पर-बिन्दु शिव से संयुक्त हो जाती है, फिर विषयों से उसे कोई भय नहीं रहता।

यहाँ कई शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। पार्वती अर्थात् सुषुम्ना से विवाह होने के पहले ही 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग में शिवजी अक्षर ब्रह्म को अपनी आत्मा के अन्दर देख चुके हैं। इसलिए जहाँ तक शिव का सम्बन्ध है, उन्हें कुण्डलिनी जगाने की आवश्यकता नहीं है। यदि सुषुम्ना का कल्याण करना है तो शिवजी किञ्चित्परिलुप्तधैर्य होकर उनके (पार्वती के) बिम्बफलाधरोष्ठों को क्यों निहारने लगते हैं? और जब अपने विचलित होने का ज्ञान होता है तब 'स्त्री संनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्' सुषुम्ना का साथ छोड़कर अन्तर्धान होने

की आवश्यकता क्यों उत्पन्न होती है ? काम को एक बार भस्म कर देने पर उसे फिर जिलाने की आवश्यकता क्या थी ? जब विवाह पक्का हो गया, तब 'अद्रिसुता [illegible]' (पार्वती-परिणयोत्सुकः—मल्लिनाथ) शिव के लिए तीन दिन काटना भी कठिन हो गया। इस पर महाकवि कहते हैं कि इस तरह के भाव यदि शिव को स्पर्श करते हैं, तब अन्य जन 'अवश' (इन्द्रियपरतन्त्रम्—मल्लिनाथ) हो जायँ तो आश्चर्य क्या ? पार्वतीजी ने शिव को पाने के लिए तपस्या अवश्य की थी। शिवजी ने उन्हें अपनी शिष्या भी बना लिया, किन्तु वह योगाभ्यास में शिष्या न थीं वरन्

> शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया।
> शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम्॥

निधुवनोपदेशिनः का अर्थ है 'सुरतोपदेष्टुः'। ऐसे गुरु से पार्वतीजी ने जो शिक्षा पाई थी, वही 'युवतिनैपुणम्' दक्षिणा के रूप में उन्हें अर्पितु कर दी। हो सकता है, योग की बातें सुरत शब्दावली में समझाई गई हों, किन्तु आगे चलकर कालिदास कहते हैं—

> एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।

इन्द्रियसुख के मार्ग के सेवन से मन्मथ अनुगृहीत हुआ। इन्द्रियसुख का अर्थ अतीन्द्रिय आनन्द हो और मन्मथ का अर्थ सच्चिदानन्द ब्रह्म हो, तभी डॉ० अग्रवाल की व्याख्या ठीक मानी जायगी।

डॉ० अग्रवाल ने 'मेघदूत' के सम्बन्ध में नम्रता के साथ लिखा है, "यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उस ग्रन्थ का गम्भीर किन्तु प्रमोदपूर्ण पारायण आज तक कोई नहीं कर सका।" इसका कारण यह है—"काव्य में कान्ता-संमित उपदेश दिया जाता है। इसीलिए 'मेघदूत' के अध्यात्म ज्ञान का ऊपर से कुछ पता नहीं चलता।" कवि ने स्थान-स्थान पर जो स्कन्द, शिव और कैलास का उल्लेख किया है, "इन सब बातों में एक ही अध्यात्मभाव दृष्टिगोचर होता है, जिसके द्वारा काम का कल्मष दूर होगा और वह शिव का सान्निध्य प्राप्त कर अन्ततः अध्यात्म विधि में विपरिणमित हो जायगा।" ऐसा लगता है कि यक्ष ने अपना सन्देश अपनी "प्रिया

के प्राणों को सहारा देने की इच्छा से" (डॉ० अग्रवाल की टीका) नहीं भेजा, वरन् कामरूप मेघ को अध्यात्मवाद सिखाने के लिए उसे 'कान्तासंमित' उपदेश दिया है। मेघ महाकाल के मन्दिर में पहुँचेगा। उस पवित्र धाम के उपवन को "कमलों के पराग से सुगन्धित एवं जलक्रीड़ा करती हुई युवतियों के स्नानीय द्रव्यों से सुरभित गन्धवती की हवाएँ झकोर रही होंगी।" इन हवाओं से अपना तन-मन शुद्ध करके जब वह सन्ध्याकालीन आरती के समय धीर-गम्भीर गर्जन करेगा, तब उसे अपनी इस भक्ति का पूरा फल मिलेगा। वह इस प्रकार "वहाँ प्रदोषनृत्य के समय पैरों की ठुमकन से जिनकी कटि-किंकिणी बज उठती हैं और रत्नों की चमक से झिलमिल मूठों वाली चौरियाँ डुलाने से जिनके हाथ थक जाते हैं, ऐसी वेश्याओं के ऊपर जब तुम सावन के बुन्दाकड़े (वर्षाग्रबिंदून्) बरसाकर उनके नखक्षतों को सुख दोगे, तब वे भी भौरों-सी चंचल पुतलियों से तुम्हारे ऊपर अपने लम्बे चितवन चलाएँगी।" (डॉ० अग्रवाल की टीका)। यह फल पाकर वह रात में मिलने जाती हुई अभिसारिकाओं के लिए बिजली से प्रकाश कर देगा। महाकाल के दर्शन कराने के बाद ही यक्ष मेघ को यह परम ज्ञान का तत्व बतलाता है—

ज्ञातस्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।

यह जान कर कि अलका में कुबेर के मित्र शिव बसते हैं, काम अपना धनुष चढ़ाने से डरता है, लेकिन "कामी जनों को जीतने का उसका मनोरथ तो नागरी स्त्रियों की लीलाओं से ही पूरा हो जाता है, जब वे भौंहें तिरछी करके अपने कटाक्ष छोड़ती हैं तो कामीजनों में अचूक निशाने पर बैठते हैं।" इस प्रकार शिवसान्निध्य से मदन-व्यापार में ज़रा भी बाधा नहीं पड़ती। अन्त में काम-कल्मष धुल जाने पर मेघ के लिए यक्ष जिस अध्यात्म-विधि में विपरिणमित होने की कल्पना करता है, वह 'मेघदूत' की अन्तिम पंक्ति यह है—

माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।

"हे जलधर, तुम्हें अपनी प्रियतमा विद्युत् से क्षण-भर के लिए मेरे जैसा वियोग न सहना पड़े।" प्रिया से सुखद संयोग की अवस्था ब्रह्मानन्द तुल्य हो सकती है, किन्तु साक्षात् ब्रह्मानन्द नहीं।

कालिदास अद्वैत सत्ता में विश्वास करते हैं, किन्तु यह सत्ता गोचर संसार का तिरस्कार नहीं करती। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के आरम्भ में कालिदास ने जिन शिव की वन्दना की है वह जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश आदि आठ प्रत्यक्ष रूपों में सभी को दिखाई देते हैं। इसलिए वह विशुद्ध अप्रत्यक्ष सत्ता नहीं है।

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ (कुमार०, सर्ग २)

वह द्रव भी हैं, संघात-कठिन भी (अशिव उपलाकार मंगल द्रवित जल नीहार—निराला); वह स्थूल भी हैं, सूक्ष्म भी; वह व्यक्त भी हैं, अव्यक्त भी। कालिदास के लिए प्रकृति और पुरुष की सम्मिलित इकाई है—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनिमुदासीनं त्वमेव पुरुषं विदुः ॥ (उप०)

शिव भोज्य और भोक्ता दोनों हैं, इसलिए महाकवि वर्तमान युग के अनेक अद्वैतवादियों की तरह जड़-चेतनों के द्वैत से पीड़ित नहीं हैं। आधुनिक कवियों में उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सच्चे उत्तराधिकारी आनन्दवादी जयशंकर प्रसाद थे, जिन्होंने लिखा था—"एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।" 'कुमार सम्भव' के पाँचवें सर्ग में कवि ने शिव को विश्वमूर्ति कहा है और मल्लिनाथ ने 'विश्वं मूर्तिर्यस्य' कहकर उसकी व्याख्या की है। "यह विश्व ही शिव की मूर्ति है" (चिति का विराट् वपु मंगल—प्रसाद)।

कालिदास का यह दार्शनिक दृष्टिकोण साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। वह विश्व को शिवरूप मानते हैं, इसलिए उनकी सहानुभूति का क्षेत्र व्यापक है। वह मानवजीवन को क्षणभंगुर और संसार को नाशवन् कहकर वैराग्य का उपदेश नहीं देते। अनेक राजाओं को बुढ़ापे में वैरागी बनाकर उन्होंने एक रूढ़ि का अनुसरण-मात्र किया है। शिव-साधना गृहस्थ-धर्म में भी संभव है। वह रहस्यवादियों की तरह परोक्ष सत्ता के गीत नहीं गाते; वह प्रकृति और मानव का प्राण-स्पन्दन सुनते हैं और इस जीवन को अपनी कला का

आधार बनाते हैं। इस अद्वैतवाद के कारण वह पौराणिक गाथाओं का काव्योचित उपयोग करते हैं और पुराणवादियों की तरह सैकड़ों देवताओं में अन्धविश्वास उत्पन्न नहीं करते। उनके लिए गंगा भी 'शम्भोरम्भोमयी मूर्तिः' (शम्भु की ही जलमयी मूर्ति) हैं और ब्रह्मा-विष्णु-महेश—'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा'—एक ही मूर्ति के तीन भेद हैं। इस कारण वह धार्मिक आग्रहों से मुक्त पूर्ण कवि हैं।

अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण कालिदास ने पौराणिक गाथाओं की रूढ़ियों से बचते हुए साधारणतः उनका कलात्मक उपयोग किया है। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, देवता, अप्सराएँ आदि उनके काव्य का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे यूनान की देवगाथाएँ वहाँ के प्राचीन काव्य का अंग थीं। इसके साथ ही उन्होंने अशोक और बकुल के फूलने आदि की किंवदंतियों का भी कलात्मक उपयोग किया है। सुन्दरियाँ मदिरा की कुल्ली करती थीं तो बकुल फूल उठते थे। जहाँ शिव तप कर रहे थे, वहाँ काम के आने पर सुन्दरियों के नूपुरसज्जित चरणों की अपेक्षा किये बिना ही अशोक खिल उठा। इसी तरह सुन्दरी के मुख को कमल समझकर भौंरा उसके पास आयेगा ही (चाहे वह मुख पार्वती का हो चाहे शकुन्तला का), यह भी कालिदास के सौन्दर्यशास्त्र का एक सूत्र है। प्रचलित विश्वासों के अतिरिक्त कालिदास प्रकृति में मानवत्व का आरोप करके स्वयं नई रोचक गाथाएँ (myth) गढ़ लेते हैं। 'मेघदूत' इसका श्रेष्ठ निदर्शन है। कालिदास का युग उस काल के बहुत बाद का है, जब मनुष्य ने भ्रम को सत्य मानकर प्रकृति-सम्बन्धी अनेक चित्रमय उद्भावनाएँ की थीं। कालिदास रोमांटिक इसीलिए हैं कि वह उस बीते युग का स्वप्न देखते हैं। युग के अनुकूल महाकवि में एक तीक्ष्ण बौद्धिकता के दर्शन भी होते हैं। जिस चन्द्रमा का कलङ्क देखकर अनेक कवियों ने कल्पना-चमत्कार दिखलाया था, उसके बारे में कालिदास को ज्ञान है कि चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ती है। छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे निरूपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः (रघु०, सर्ग १४)। बाल चन्द्रमा जब बड़ा होता है, तब वह सूर्य का तेज पाकर ही बड़ा होता है : पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः (उप०, सर्ग ३)। इस प्रखर बौद्धि-

कता के कारण कालिदास की लोकोत्तर कल्पना के साथ यथार्थवादी प्रवृत्ति का मिश्रण हो गया है। सेंधा नमक चाटते हुए घोड़े (रघु०, सर्ग ५), शुष्क कर्दम वाले सर को खोदते हुए सूर्य की किरणों से व्यथित वराहयूथ (ऋतुसंहार, सर्ग १), मुँह से लार और फेन निकालते हुए तृषाकुल महिषीकुल (उप०), वर्षा का पहला गँदला पानी जो कीटरजस्तृणान्वित है (उप०, सर्ग २), सभी औषधियों को व्यर्थ करने वाला सन्निपात (कुमार०, सर्ग २)—ये सब भी उनके काव्य में हैं।

कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें संसार की विभिन्न वस्तुओं का साम्य देखने के लिए वह सहज क्षमता विद्यमान है जिसके बिना कोई कवि नहीं हो सकता। उनके अधिकांश उपमान उनके सूक्ष्म इन्द्रियबोध और सौन्दर्यग्राहिका वृत्ति के परिचायक हैं। जहाँ-तहाँ उन्होंने बड़े साहस से मौलिक उपमानों का प्रयोग भी किया है। अज के शोक के बारे में लिखा है—

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद।
(रघु०, सर्ग ८) जैसे प्लक्षप्ररोह सौधतल भेदकर नीचे निकल जाते हैं, वैसे ही शोक ने अज के हृदय को वेध दिया था। अज की विजय से प्रसन्न इन्दुमती के मुख के लिए लिखा है कि निश्वासवाष्प के दूर होने से जैसे दर्पण चमकने लगता है, वैसे ही उसका मुख प्रसन्न हुआ। स्नान की हुई पार्वती ऐसी लगती हैं जैसे पर्जन्य जल से अभिषिक्त प्रफुल्लकाशा वसुधा हो। उनके अधिकांश उपमान प्रकृति से लिये गए हैं जिससे यही परिणाम निकलता है कि नगर से अधिक उन्हें प्रकृति ही प्रिय है।

कालिदास काव्योत्कर्ष उपमाओं तक सीमित नहीं है। उनकी कला का शृङ्गार उनकी सुकुमार संवेदनाएँ हैं। ये संवेदनाएँ वस्तुओं का रूप ही ग्रहण नहीं करतीं, वरन् उनके जीवन का स्पन्दन भी सुनती हैं। उनकी सहानुभूति जगह-जगह सामन्ती व्यवस्था और सामन्ती काव्य-परम्परा की रूढ़ियों का खण्डन करती चलती है। नारी का सम्मान करने में वह वाल्मीकि की परम्परा का अनुसरण करते हैं। दुष्यन्त के पास गर्भवती शकुन्तला को छोड़कर जाते हुए शारद्वत का कहना है कि पति की प्रभुता सर्वतोमुखी है; वह चाहे पत्नी को

छोड़े चाहे ग्रहण करे और शार्ङ्गरव उसे पति के घर में दासी बनकर रहने की सलाह देते हैं। शकुन्तला क्रोध से दुष्यन्त को फटकारती है—"अनार्य, दूसरों को अपने जैसा समझते हो। तृणों से ढके हुए कुएँ की तरह कौन तुम्हारे सिवा धर्म का ढोंग करेगा ?" और भी, "तुमने मुझे स्वच्छन्दचारिणी बना डाला, सो ठीक किया। मैं पुरुवंश का विश्वास करके तुम जैसे व्यक्ति के हाथ पड़ गई, जिसके मुँह में मधु है और हृदय में विष है।" यहाँ कालिदास ने महाभारत की रोष-भरी शकुन्तला की थोड़ी-सी झाँकी दी है।

गर्भवती सीता को जब लक्ष्मण बन में छोड़कर चलना चाहते हैं तब वह राम को राजा रूप में स्मरण करती हैं—"वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा।" इससे बड़ी फटकार राम के लिए और क्या हो सकती थी ? यह स्वाभाविक था कि रोती हुई सीता को ढाढ़स बँधाने वही महाकवि आते जिन्होंने विलाप करते हुए क्रौञ्च पक्षी को देखकर पहला श्लोक रचा था। "शोकः श्लोकत्व-मागतः" को स्मरण करते हुए कालिदास ने यह अनुपम छन्द लिखा है—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषाद विद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं"—यह उक्ति वाल्मीकि के लिए नहीं है। किसी संचित पुण्यफल की भाँति सौन्दर्यवादी कालिदास के हृदय में आदि कवि के लिए श्रद्धा बची हुई है। मानो वाल्मीकि से होड़ करते हुए कालिदास ने उनसे कहलाया है—

उत्खातलोकत्रयकण्टकेपि सत्यप्रतिज्ञेप्यविकत्थनेपि।
त्वां [illegible] मन्युर्भरताग्रजे मे॥

राम ने तीनों लोकों के कण्टक रावण का नाश किया; वह सत्य-प्रतिज्ञ हैं और आत्मप्रशंसा भी नहीं करते। फिर भी तुम्हारे प्रति अकारण निन्दा-व्यापार में प्रवृत्त होने वाले राम पर मैं क्रोध करता हूँ।

वाल्मीकि ही राम पर क्रोध कर सकते थे और कालिदास ही उसके बारे में यों लिख सकते थे।

वनवास ही नहीं, उससे पहले भी कालिदास की भक्ति राम से अधिक सीता में है। लंका से लौटने पर माताएँ आशीर्वाद देती हैं :

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोसौ वृत्तेन भर्त्ताशुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या॥

उन्होंने सीता से उठने को कहा और बोलीं—निश्चय ही भाई के साथ यह भर्ता तुम्हारे ही शुद्ध व्रत के कारण भारी संकट से पार हुए हैं। इस पर कालिदास की टिप्पणी है कि यह बात प्रिय भी थी और सत्य भी!

नारी-सौन्दर्य के प्रशंसक कालिदास मातृत्व की वन्दना करते हैं। पार्वती को पाकर मेना और भी शोभित हुईं। जब पार्वती ने अपने पुत्र को गोद में लिया तब वात्सल्य रस की अतिशयता से उनके स्तनों से दूध बह चला। अनेक स्थलों पर महाकवि ने सन्तान के प्रति इस ममत्व का अभिव्यंजना की है। इस प्रकार सौन्दर्यवादी कवि मानवता की उच्चभूमि तक पहुँचते हैं। इस भूमि मे प्रवाहित उनकी करुणा साहित्य का स्थायी तत्व है।

साहित्य किन्हीं विशेष सामाजिक परिस्थितियों में ही रचा जाता है। इन परिस्थितियों की छाप उस पर पड़ती है। किन्तु साहित्य किसी समाज-व्यवस्था का यान्त्रिक प्रतिबिम्ब नहीं होता। सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य रचने के उपकरण प्रस्तुत करती हैं, लेकिन इन वस्तुगत परिस्थितियों के साथ साहित्यकार का आत्मगत प्रयास भी आवश्यक होता है। यह बिलकुल सम्भव है कि उपकरण श्रेष्ठ हों किन्तु उनका समुचित उपयोग करने वाले कवि का अभाव रहे। एक ही समाज और एक ही वर्ग के व्यक्तियों की मेधा, सहृदयता, जीवन-दर्शन की क्षमता में भेद होता है। यह भेद बहुत-कुछ साहित्य का उत्कर्ष निश्चित करता है। अपने युग को प्रतिबिम्बित करने में कालिदास निष्क्रिय नहीं हैं। उनकी अपनी मेधा, सहृदयता, जीवन-दर्शन की क्षमता अपना पूर्ण चमत्कार दिखलाती है। इसी कारण उस युग का और उस समाज-व्यवस्था का कोई भी कवि कालिदास को नहीं पाता। वाल्मीकि और व्यास ही इसके अपवाद हैं। उनकी तुलना में कालिदास का काव्यजगत् संकुचित है। वह उदात्त चरित्र-निर्माण में अक्षम हैं। यद्यपि उन्होंने नाटक रचे हैं, फिर भी उनकी प्रतिभा मुख्यतः एक सौन्दर्योपासक 'लिरिक' कवि की है। मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण चित्रण बिना कोई भी व्यास और वाल्मीकि की बराबरी नहीं कर सकता। मनुष्य का अपना अनुभव जितना

समृद्ध होता है, उतना ही समृद्ध वह साहित्य भी चाहता है। कालिदास की रोमाण्टिक कल्पना, उनका सूक्ष्म सौन्दर्यदर्शन हमारे लिए काफी नहीं है। तुलसीदास ने मध्यकालीन समाज के साधारणजनों की जिस व्यवस्था को पहचाना है और उसे वाणी दी है, उससे कालिदास स्वभावतः अपरिचित थे। महाभारत और रामायण में मनुष्य की विजय में जो उद्दाम आशा प्रकट की गई है, करुणा के साथ अन्यायी को दंड देने के लिए जो संघर्ष-प्रियता व्यञ्जित हुई है, शृंगार के अतिरिक्त मनुष्य के भावजगत् को जो विविध और गम्भीर चित्रण हुआ है, वह कालिदास के लिए सुलभ नहीं है।

वह एक युग-विशेष के कवि हैं और उसकी अनेक विशेषताएँ आज हमें प्रिय नहीं हैं। नर-नारी के यौन-सम्बन्धों के वर्णन में उनकी रुचि बहुत जगह हमें कुरुचिपूर्ण मालूम होती है। वैसे तो यह मानव का (और पशुओं का भी) सार्वजनीन व्यापार है जो सनातन काल से अभी तक तो चलता ही आया है (आगे अणविक शक्ति के प्रकोप से मनुष्य उसके अयोग्य हो जाय, वह दूसरी बात है) किन्तु साहित्य का उत्कर्ष सार्वजनीन व्यापार के वर्णन से ही सम्भव नहीं होता। अपने सामाजिक विकास-क्रम में मनुष्य की साहित्यिक रुचि का भी परिष्कार होता चलता है। यह क्रम सामाजिक विकास से सम्भव होता है, किन्तु उसका सीधा परिणाम नहीं है। इसलिए नहीं है कि मनुष्य का इन्द्रियबोध उसे अपने जीवन के साथ मिला है, उसके आर्थिक सम्बन्धों की भित्ति पर उसकी रचना नहीं हुई। उसका भावजगत् भी आर्थिक सम्बन्धों के बदलने के साथ तुरन्त और पूर्ण रूप से नहीं बदल जाता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के भावों का सम्बन्ध प्रकृति से है, परिवार के लोगों से है, गाँव और नगर के मित्रों आदि से है। परिवार के सम्बन्ध बहुत-कुछ आर्थिक विकास से निश्चित होते हैं, किन्तु वे उसका प्रतिबिम्ब नहीं हैं। सौन्दर्येच्छा, यौन-प्रेम, सन्तान के प्रति स्नेह पशुओं में भी मिलता है; मानव समाज में वह सब विकसित होता है, कभी-कभी ह्रास की दिशा में भी चलता है जिससे मनुष्य पशुओं से नीचे गिर जाता है।

कालिदास के समय को अनेक धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक

रूढ़ियाँ अब निरर्थक हो गई हैं। उन पर आधारित काव्यांश भी निर्जीव हो गया है। भोगवाद के लिए कवि का आग्रह सार्वजनीन होते हुए भी अनेक स्थलों पर अपरिष्कृत लगता है। यह सब होने पर भी वह महाकवि के रूप में उचित ही प्रतिष्ठित हैं। उनकी सौन्दर्यवृत्ति कण्व के तपोवन, शिव के कैलास और यक्ष की अलका से ही सतुष्ट होती है। उद्यानलताओं के बदले वह वनलताओं के सौन्दर्य पर अपने को उत्सर्ग कर देते हैं। वह रूप-रस-गन्ध-स्पर्शमय प्रकृति और मानव के समृद्ध जीवन के गायक हैं। प्रकृति और प्राणिमात्र के जीवन-स्पन्दन साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। उमा का सौन्दर्य, वाल्मीकि का सात्विक क्रोध, इन्दुमती के लिए अज का शोक, भारत की धरती से कवि का प्रेम—ये सभी साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। इन्हें कवियों ने तुरन्त नहीं पा लिया; इन्हें पाने के लिए उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का लम्बा मार्ग तय करना पड़ा था। कालिदास ने उन मानव-मूल्यों को सहेजा और अनेक दिशाओं में उन्हें अधिक विकसित किया।

कालिदास के भोगवाद को रीतिकालीन कवियों ने अपनाया, किन्तु वे उसकी छाया ही छू सके। कालिदास के सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध को आज तक कोई नहीं पा सका। किन्तु साहित्य के मूल्यवान तत्त्व समाज-निरपेक्ष नहीं हैं। हम उन्हें अपने सामाजिक विकास-क्रम में ही पाते हैं। आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों के अनुरूप मनुष्य के बहुत से विचार बदल जाते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध और भावजगत् परिवर्तनशील होते हुए भी आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों की प्रतिच्छवि नहीं हैं। राजा-प्रजा के सम्बन्ध में, धार्मिक कर्मकाण्ड और वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में कालिदास के भाव और विचार साधारणतः हमें आकृष्ट नहीं करते। किन्तु उनकी यह कल्पना कि राज्य में कोई बन्दी नहीं है, राजा के निर्लोभी होने से प्रजा अर्थवान होती है, उनके भावुक हृदय का परिचय देता है और उसमें बाद को आने वाले कवियों के लोक-प्रेम के बीज हम देखते हैं। नारी के प्रति उनकी सम्मान-भावना, मातृत्व का आदर, जीवमात्र से सहानुभूति, इस देश की प्रकृति से अगाध स्नेह, अपनी समग्र चेतना से व्यापक विश्व-जीवन का स्पन्दन सुनने

की शक्ति, उनकी आत्मविभोर गेयता, भाषा पर असाधारण अधिकार और उनकी चरित्रगत नम्रता जो उनकी कला के पीछे छिपी हुई है—ये सभी बातें आज भी अभिनन्दनीय हैं, अनुकरणीय भी। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ पर कालिदास का गहरा प्रभाव है और 'तुलसीदास' लिखते समय निराला महाकवि के अध्ययन में डूबे हुए थे।

कालिदास के काव्य-साहित्य के ये सब तत्त्व स्थायी ही नहीं हैं, वे आधुनिक भारतीय साहित्य में अन्तर्धारा की भाँति प्रवाहित भी हैं।

नैतिक मूल्यों की समस्याः शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक

शेक्सपियर ने उस युग में जन्म लिया था जो यूरोप में पुनर्जागरण (रिनैसेन्स) के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में यह नवजागरण का युग था जब यूरोप में नई जातियों का अभ्युदय हुआ; पुराने सामन्ती सम्बन्धों के बदले समाज में नये मानव-सम्बन्ध कायम हुए। यह पूँजीवाद का अभ्युदय-काल था। अंग्रेजों में नई जातीय चेतना फैली; उन्होंने अपनी भाषा और साहित्य का अभूतपूर्व विकास किया। अंग्रेज आलोचक टिलयार्ड ने मध्य-कालीन इंगलैण्ड और इस नवजागरण के युग में अनेक समानताएँ दिखलाई हैं। फिर भी इस प्रचलित धारणा की सचाई खंडित नहीं होती कि यह नवीन युग मध्यकालीन परम्परा से मूलतः भिन्न था। ब्रैडले ने ठीक लिखा है कि शेक्सपियर के नाटक परलोक-चिन्तन से भिन्न मनुष्य के लौकिक जीवन को केन्द्र बनाकर रचे गये हैं। शेक्सपियर के सम्बन्ध में यह स्वीकृत दृष्टिकोण इस बात का प्रमाण है कि यह नया युग मध्यकालीन परम्परा से भिन्न था और यह भी कि इस नये इहलोकवादी दृष्टिकोण के प्रतिनिधि कलाकार शेक्सपियर हैं।

शेक्सपियर नये युग के प्रतिनिधि साहित्यकार थे; साथ ही वह प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के मूल्यवान् नैतिक तत्त्वों के रक्षक भी थे। उनके साहित्य में इंगलैण्ड की लोक संस्कृति को ही नया जीवनदान नहीं मिला वरन् यूनान की प्राचीन संस्कृति की अमिट छाप भी उस साहित्य पर है। शेक्सपियर के लिए प्रसिद्ध है कि उनकी प्रतिभा प्रकृति की सहज देन थी; उन्हें लैटिन बहुत कम आती थी और ग्रीक उससे भी कम। इस प्रचलित धारणा के कारण शेक्सपियर और यूनानी नाटककारों के साम्य पर कम ध्यान दिया गया है। साधारणतः यूनानी नाटकों के लिए कहा जाता है कि उनमें कर्म करने में स्वतन्त्र न होकर नियति के हाथों में खेलता है। शेक्सपियर में

मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और इसलिए अपने कर्मों से अपना भाग्य स्वयं रचता है। इस धारणा में आंशिक सत्य अवश्य है किन्तु यह सत्य आंशिक ही है।

पाँचवीं शती ईसा पूर्व में इस्किलस ने प्रोमीथियस के सम्बन्ध में अपने नाटक रचे थे। 'परतन्त्र प्रोमीथियस' में नाटक की समस्या किसी रक्त-सम्बन्धी की हत्या अथवा परिवार के किसी निकट सम्बन्धी से अवैध प्रेम नहीं है। इस तरह की समस्याएँ अनेक यूनानी नाटकों में मिलती हैं जिनका कारण रक्त सम्बन्ध पर आधारित प्राचीन समाज से नई व्यवस्था की ओर संक्रमण था। इस्किलस के प्रोमीथियस की यातना का कारण उसका मानव-प्रेम है। उसने देवताओं के अधिपति की अवज्ञा करके मनुष्य की सहायता की है। उसके अभिमान को तोड़ने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते हैं किन्तु वह अपनी आस्था पर अडिग रहता है। उसके हृदय में मानव जाति के लिए अपार करुणा है यद्यपि देवताओं के अधिपति के हृदय में उसके लिए करुणा नहीं है। उसने मनुष्य के हृदय में आशा का बीज बो दिया है और इसे वह अपनी बहुत बड़ी सफलता मानता है। उसने जो कुछ किया, वह नियति के कारण नहीं वरन् "स्वेछा से, अपनी आँखों से भावी परिणाम को देखते हुए"। प्रोमीथियस मानव-कल्याण के लिए अत्याचारी देवाधिपति से लड़ने वाला वीर है।

वीर के सम्बन्ध में यह धारणा शेक्सपियर की भी है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक समाजवाद के विकास के साथ यह नई धारणा प्रचलित हुई कि इतिहास के निर्माता साधारण जन हैं। किन्तु इस्किलस और शेक्सपियर दोनों ही के युगों में इस धारणा से साहित्यकार परिचित न थे। यही कारण है कि शेक्सपियर के नाटकों में इतिहास के निर्माता साधारण जन नहीं हैं वरन् कुछ विशेष गुणों वाले वीर हैं। शेक्सपियर ने 'जूलियस सीजर' में ब्रूटस को ऐसे ही वीर के रूप में चित्रित किया है। ब्रूटस के शत्रु भी उसकी मृत्यु के बाद स्वीकार करते हैं कि उसने जो कुछ किया, वह सार्वजनिक हित के लिए ही किया। उसके शत्रु अधिक चतुर हैं, साथ ही वे सिद्धान्तहीन स्वार्थसेवी भी हैं। ब्रूटस को सत्ता की आकांक्षा नहीं है;

है। वह अपने आदर्श पर अडिग रहता है और विजय के लिए अनैतिक उपायों से काम लेना अस्वीकार करता है। इसलिए वह पराजित होता है किन्तु उसकी यह पराजय ही उसकी विजय है। उसकी मृत्यु उसके प्रतिद्वंद्वियों को नीचा दिखाती है। अन्य नाटकों में शेक्सपियर ने लोकहित की समस्या को इसी रूप में नहीं लिया किन्तु इस समस्या के प्रति उसके अनेक नायक सचेत अवश्य हैं। हैमलेट की प्रसिद्ध उक्ति है कि समय अव्यवस्थित हो गया है किन्तु वह उसे व्यवस्थित करने में अपने को अक्षम पाता है। 'कोरिओलानस' और 'जूलियस सीजर' में शेक्सपियर ने जनता को राजनीतिक क्षेत्र में चंचल, असावधान और दूसरों के कहने में आ जाने वाली दिखलाया है। जनता शिक्षित होकर अपने ऊपर स्वयं शासन करने लगे, यह अत्यन्त कठिन कर्म है। आज भी यह लक्ष्य पूरी तरह सिद्ध नहीं हुआ। शेक्सपियर ने यथार्थ-चित्रण ही किया है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि उनके नाटकों के खल नायक जनता से त्रस्त रहते हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को जनता से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं। हैमलेट के शत्रु क्लौडियस ने अपने भाई की हत्या की है और उसकी पत्नी से विवाह कर लिया है। हैमलेट से उसे भय है और वह उसे विदेश भेजने की योजना बनाता है। वह हैमलेट को देश में खुले घूमने की छूट नहीं देना चाहता क्योंकि "चंचल-चित्त जनता उसे प्यार करती है"। 'किंगलियर' में अन्धा ग्लौस्टर जहाँ-तहाँ घूमकर लियर की क्रूर लड़कियों के प्रति जनता का रोष जाग्रत करता है। रीगन कहती है: "हमने बड़ी मूर्खता की जो ग्लौस्टर की आँखें निकालने के बाद उसे जीता रहने दिया। जहाँ भी वह जाता है, वह सभी को हमारे विरुद्ध आन्दोलित कर देता है।"

शेक्सपियर ने इस्किलस की तरह ऐसे वीर चित्रित किये जिनके हृदय में मनुष्य के लिए करुणा है। इससे भी अधिक यह कि प्रोमीथियस की तरह वे आँखें खोलकर स्वेछा से कार्य करने वाले वीर हैं, किसी नियति के हाथ में कठपुतलियाँ नहीं। किन्तु शेक्सपियर में नियतिवाद का नितान्त अभाव नहीं है। "मैकवेथ" में दैवी अथवा अर्द्ध दैवी शक्तियों को मैकबेथ का भविष्य पहले ही मालूम है। यद्यपि मैकबेथ कार्य करने में स्वतन्त्र है, फिर भी यह

स्पष्ट है कि एक प्रकार से उसका भाग्य पहले ही निश्चित हो चुका है। अनेक नाटकों में प्राकृतिक उथल-पुथल मानों यह संकेत करती है कि मानव-जीवन की घटनाएँ उस उथल-पुथल से भी प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर के अनेक पात्र अपनी उक्तियों से बराबर नियति की याद दिलाते हैं। ईसाई धर्म द्वारा प्रचारित पाप-पुण्य की भावना और स्वर्ग-नरक की धारणा से यह नियतिवाद बिल्कुल भिन्न है। वह यूनानी नाटककारों के नियतिवाद का ही नया संस्करण है। देवता क्रूर हैं और वे अपने विनोद के लिये मनुष्य को पीड़ा देते हैं, इस धारणा को शेक्सपियर ने अपने पात्रों द्वारा व्यक्त कराया है। फिर भी कुल मिलाकर यूनानी नाटकों की अपेक्षा शेक्सपियर में नियतिवाद कम है; अपने नाटकों में स्वतन्त्र कर्ता मानव के चित्र को शेक्सपियर ने अधिक विकसित और परिष्कृत किया है।

यूनानी नाटकों में निकट के रक्त-सम्बन्धी की हत्या बहुत बड़े पाप के रूप में चित्रित की गई है। शेक्सपियर के युग में इस तरह का पाप कोई मुख्य सामाजिक समस्या न थी; फिर भी यूनानी नाटकों के प्रभाव से उनके नाटकों में यह समस्या भी जहाँ-तहाँ उभर कर आई है। उदाहरण के लिये "हैमलेट" में क्लौडियस अपने भाई का हत्यारा है। किसी यूनानी नाटक के पात्र की तरह उसे अपना जीवन अभिशप्त दिखाई देता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करना चाहता है लेकिन उसके हाथ नहीं उठते। मैकबेथ डंकन की हत्या करता है जो राजा होने के अतिरिक्त उसका रक्तसम्बन्धी है। क्लौडियस को लगता है कि उसके हाथों से भाई का रक्त छूट नहीं सकता; उसी तरह मैकबैथ को लगता है कि समुद्र का जल भले लाल हो जाय, उसके हाथों का रक्त छूट नहीं सकता। मैकबेथ अनेक हत्याएँ करता है लेकिन उसे घोर पश्चात्ताप होता है डंकन की हत्या से ही। इसका मुख्य कारण यह मालूम होता है कि यह एक रक्तसम्बन्धी की हत्या है। मैकबेथ का पश्चात्ताप उन यूनानी वीरों की याद दिलाता है जो जान या अनजान में इस तरह की हत्या करके पश्चात्ताप करते हैं। किंग लियर' में इस तरह के रक्तसम्बन्धी की हत्या तो नहीं है किन्तु एडमण्ड अपने पिता ग्लौस्टर और रीगन तथा गेनेरिल अपने पिता लियर की मृत्यु चाहती अवश्य हैं।

यूरीपिदिस के नाटक 'अलसेस्टिस' की कथा सावित्री-सत्यवान की कथा से मिलती-जुलती है। अलसेस्टिस स्वेच्छा से मृत्यु को वरण करके अपने पति को प्राणदान दिलाती है। हरकुलिस मृत्यु से युद्ध करके अलसेस्टिस को वापस लाकर उसे पति को सौंप देता है। एंगेल्स ने जिस व्यक्तिगत प्रेम को यूरोप के नवजागरण का एक महान् नैतिक मूल्य माना था, उसकी चरम अभिव्यक्ति यूरीपिदिस के इस मर्मस्पर्शी नाटक में हुई है। अलसेस्टिस के पति का विलाप पढ़कर 'रघुवंश' में इन्दुमती के लिए अज का विलाप याद आ जाता है। शेक्सपियर की पोर्शिया, ओफीलिया, डेस्डिमोना आदि नारी-पात्र उसी उत्कट प्रेम की अभिव्यंजना करती है जिसकी साकार प्रतिमा अलसेस्टिस है। इनके विपरीत इस्किलस की क्लितेमनेस्त्रा है जो अपने पति की हत्या करती हैऔर यूरीपिदिस की मीदिआ है जो अपने पति से प्रतिशोध लेने के लिए अपने पुत्रों की हत्या करती है। इनकी छाया लेडी मैकबेथ पर पड़ी है जो हत्या के लिये अपने पति को उकसाती है यद्यपि उसका-सा मानसिक उद्वेग क्लितेमनेस्त्रा और मीदिआ में नहीं है। यूनानी नाटककारों की इन रक्तरंजिता देवियों में एक तरह की गरिमा है जो शेक्सपियर ने लेडी मैकबेथ जैसे पात्रों को प्रदान की है।

इन सबसे यही सिद्ध होता है कि शेक्सपियर ने यूरोप की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के अनेक तत्त्व ग्रहण किये हैं। फिर भी उनके दुःखान्त नाटकों की समस्याएँ और उनके चित्रण की पद्धति एक नये युग की देन है। 'ओथेलो' में शेक्सपियर ने प्रेम और ईर्ष्या की समस्या ली है जिसका दायरा 'हैमलेट' या 'किंग लियर' की अपेक्षा संकुचित है। ओथेलो ने अपने से भिन्न वर्ण की नारी डेस्डिमोना से विवाह किया है। इआगो उसके हृदय में सन्देह और ईर्ष्या की आग प्रज्वलित कर देता है और वह क्षुब्ध होकर डेस्डिमोना की हत्या कर डालता है। इआगो-ओथेलो से अधिक—इस नाटक को अपने युग की प्रतिनिधि रचना बनाता है। इआगो में मेधा है, आत्मविश्वास और आत्मनियन्त्रण है, नैतिक मूल्यों के प्रति पूर्ण उदासीनता है, दूसरों को ठगने या पीड़ा देने में उसे कलात्मक आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह के नैतिकताशून्य, पूर्ण रूप से नृशंस पात्र यूरोप के नवजागरण की

विशेषता थे। स्वार्थसाधना के लिए नैतिक भावनाओं का पूर्ण त्याग अनेक विचारकों का खुला सिद्धान्त था। उपनिवेश बनाने वाले दस्यु और दासों के निर्दय व्यापारी नित्यप्रति इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाते थे। 'ओथेलो' में जहाँ नर-नारी के पवित्र प्रेम की भव्यता का चित्र है, वहाँ इआगो की इस अनैतिक नृशंसता का समर्थ चित्रण भी है जिसमें मानों पूँजीवाद के अभ्युदयकाल का समस्त कलुष संचित कर दिया गया है।

मैकबेथ इआगो की भाँति नैतिक भावना से मुक्त होकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करना चाहता है किन्तु इसमें सफल नहीं हो पाता। लेडी मैकबेथ उसके सामने जो आदर्श रखती है, वह बहुत कुछ इआगो जैसा है। मैकबेथ में उसका मानवीय अन्तःकरण बार-बार उसे डंकन की हत्या से रोकता है और हत्या के बाद वह घोर पश्चात्ताप से पीड़ित होता है। उसे मृत डंकन से ईर्ष्या होने लगती है कि वह जीवन की समस्त व्यथाओं से मुक्त होकर निश्चिन्त निद्रा का आनन्द ले रहा है। मैकबेथ शेक्सपियर के अन्य दुःखान्त नाटकों के वीरों से काफ़ी भिन्न है। वह अन्य वीरों की तरह निष्पाप नहीं है; वह अपराधी है, फिर भी उसकी नैतिक दुविधा और पश्चात्ताप, उसकी ग्लानि और वेदना के कारण उसके प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है। यहाँ वह नैतिक मूल्य स्पष्ट है जिसके लिए शेक्सपियर ने आकर्षण उत्पन्न किया है। मैकबेथ वीर इसलिए नहीं है कि राज्य के लिए उसने एक रक्तसम्बन्धी की हत्या की है, वरन् इसलिए कि उसकी नैतिक भावना ने उसे बार-बार ऐसा करने से रोका और आगे चलकर उसके लिए नींद भी दुर्लभ कर दी।

मैकबेथ ने जैसे राज्य के लिए हत्या की, वैसे ही 'हैमलेट' में क्लॉडियस ने राज्य के लिए अपने भाई की हत्या की। नाटक में राज्यप्राप्ति का उद्देश्य गौण है; मुख्य उद्देश्य भाई की पत्नी प्राप्त करना है। मैकबेथ की तरह स्वजन की हत्या से उसे भी पश्चात्ताप होता है किन्तु यह नाटक का मुख्य विषय नहीं है। मुख्य विषय हैमलेट के मन पर उसकी माता के व्यवहार की प्रति-क्रिया है। मानव जीवन और मानव सम्बन्धों से उसकी आस्था टूट जाती है और वह विक्षिप्त-सा हो जाता है। 'हैमलेट' मानव सम्बन्धों और नैतिक मूल्यों पर एक विस्तृत टिप्पणी बन जाता है।

अपने पिता के प्रेत से जब हैमलेट को मालूम होता है कि उसकी हत्या की गई है, तो एक ओर अपनी माँ को कोसता है, दूसरी ओर क्लॉडियस को। क्लॉडियस का व्यवहार देखकर वह यह निष्कर्ष निकालता है कि मनुष्य सदा मुस्कराता रहे, फिर भी वह महानीच हो सकता है। हैमलेट कहता है कि यह बात कम-से-कम डेनमार्क के लिए सही है। वचन और कर्म का अन्तर शेक्स-पियर के लिए महान् अनैतिकता है और इसलिए वह राजा के मुसाहबों पर व्यंग्य करने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देते। पोलोनिअस राजा का मंत्री है। वह बेहद बातूनी है यद्यपि यह मानता है कि ज़ोरदार बात संक्षेप में ही की जा सकती है। अपने संकुचित अभिजात वर्गीय वातावरण में वह जो भी धारणा बना लेता है, उसे हरिल की लड़की की तरह पकड़े रहता है। हैमलेट उसकी लड़की ओफीलिया से प्रेम करता है किन्तु इस प्रेम का उसके लिए कोई मूल्य नहीं है। वह हैमलेट को साधारण कामुक नवयुवक समझ-कर ओफीलिया पर दबाव डालता है कि उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले। बाद को हैमलेट के मानसिक विक्षोभ का कारण जानने के लिए वह कहता है, 'मैं उसके सामने अपनी लड़की छोड़ दूँगा' मानो कबूतर के सामने चारा डाल रहा हो।

पोलोनियस के मुँह से ईमानदारी का शब्द सुनकर हैमलेट कहता है "जैसी दुनिया है, उसमें ईमानदार होने का मतलब है, हजार आदमियों में किसी एक को ढूँढ़ निकालना।" वह पोलोनियस में बुद्धि और साहस के अभाव पर व्यंग्य करता है। उसे चेतावनी देता है कि अपनी लड़की को स्वच्छन्द न घूमने दे, वर्ना मृत पशुओं में कृमिकीटों की तरह वह भी गर्भ धारण कर लेगी। हैमलेट के लिए उसका देश और सारा संसार एक बन्दीगृह के समान है। उसे लगता है कि धरती अनुर्वरा है; नक्षत्रमंडित आकाश दूषित वायुमण्डल मात्र है; बुद्धि और कर्म में श्रेष्ठ मानव मिट्टी का पुतला भर है। उसे न पुरुष की संगति में आनन्द आता है, न नारी की संगति में पोलोनियस अभिनेताओं से उचित व्यवहार करने का आश्वासन देता है तो हैमलेट कहता है, यदि हर व्यक्ति के साथ 'उचित' व्यवहार किया जाय तो कौन है जो दण्ड से बच सके? उसे जीवन की सार्थकता में ही सन्देह है

जाता है। मनुष्य मृत्यु को वरण करके इस संसार की व्यथाओं से मुक्त क्यों न हो जाय! मनुष्य अपने समय की प्रताड़णा क्यों सहे? अत्याचारी का अन्याय, घमण्ड में भूले हुए पुरुषों की घृणा, सच्चे प्रेम का मूल्य न परखे जाने की वेदना, न्यायप्राप्ति में बाधा, पदाधिकारियों की अशिष्टता, अयोग्य व्यक्तियों द्वारा धैर्यशाली योग्य व्यक्तियों का अपमान—यह सब वह क्यों सहे यदि मृत्यु से मनुष्य को सदा के लिए शान्ति मिल सके? मृत्यु के बाद भी शान्ति न मिली तो मनुष्य क्या करेगा, मानो इस भय से हैमलेट आत्महत्या नहीं करता।

'हैमलेट' साधारण प्रतिशोध की कथा नहीं है। उसके लिए एक और बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई है: यदि मानव-सम्बन्ध इतने गर्हित हैं तो मनुष्य जीकर क्या करे? मानव-जीवन की सार्थकता क्या है? हैमलेट के पास इस समस्या का समाधान नहीं है किन्तु उसकी शंकाएँ और सन्देह मानवसम्बन्धों की जघन्यता की तीव्र आलोचना हैं। वह आरम्भ ही में कहता है, 'यह स्थूल शरीर ओस-कण की तरह विगलित हो जाय। ईश्वर ने आत्महत्या का निषेध न किया होता तो कितना अच्छा होता!'' उसे सांसारिक व्यवहार मिथ्या, नीरस और निरर्थक मालूम होता है। संसार उस उद्यान की तरह है जिसमें जंगली घासपात छा गये हैं। उसे सभी स्त्रियाँ चंचल और अस्थिर प्रेमवाली लगती हैं। उसके पिता की मृत्यु को एक महीना भी नहीं बीता कि उसकी माता ने क्लॉडियस को वर लिया। पिता के प्रति हैमलेट की भक्ति माता के प्रति उसके हृदय को घृणा से भर देती है। उसे लगता है कि मनुष्य जब पतित होता है तब वह पशुओं को भी पीछे छोड़ देता है। पशु भी अपने प्रिय की मृत्यु के लिए उसकी माँ से अधिक शोक प्रकट करते हैं। अपने एक सॉनेट में शेक्सपियर ने लिखा है, लिली फूल जब सड़ते हैं तब उनकी दुर्गन्ध सड़ते हुए जंगली घासपात से भी भयानक मालूम होती है। हैमलेट अपने माता-पिता से स्नेह करता था, उनकी बातों को सत्य मानता था। उनके स्नेह के स्रोत में विष घोल दिया गया है। मानव-सम्बन्धों से उसकी आस्था उठ-सी जाती है।

जिस संसार में हैमलेट रहता है, उसमें पुराने नैतिक मूल्य टूट रहे हैं।

शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों का मूल सूत्र यही है। पुराने मूल्य नष्ट हो रहे हैं किन्तु नये मूल्य दृढ़ता से उनका स्थान नहीं ले रहे। मैकबेथ में पुराने सामन्तों की राजभक्ति नहीं है; नये जनतन्त्र की भावना उसमें जाग्रत नहीं हुई। ओथेलो निर्दोष प्रेम की उत्कट अभिलाषा करता है किन्तु वह स्वयं ईर्ष्यालु होकर अपनी पत्नी के विरुद्ध प्रवाद में विश्वास कर लेता है। ब्रूटस अपने देश को निरंकुश सत्ता से मुक्त करना चाहता है किन्तु उसकी आदर्श-प्रियता अव्यावहारिक सिद्ध होती है और इसका मुख्य कारण ब्रूटस का चरित्र नहीं जनता की अशिक्षा है। मार्क्स ने १८४८ में अभ्युदयशील पूँजी-पति वर्ग के लिए लिखा था, "जहाँ भी पूँजीपति वर्ग विजयी हुआ है, उसने सभी सामन्ती, पितृसत्ताक और दादापंथी सम्बन्धों को खत्म कर दिया है। उसने निर्दयता से विविध सामन्ती सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया है जिनसे मनुष्य अपने से 'सहज श्रेष्ठ जनों' से बँधा हुआ था। मनुष्यों के बीच उसने नग्न स्वार्थ, निर्मम 'आर्थिक लेनदेन' के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं रखा। उसने धार्मिक आवेश के स्वर्गिक आनन्द को, मध्ययुगीन मान-सम्मान के उत्साह को तथा कोरी भावुकता को स्वार्थमय धनोपार्जन की योजनाओं के शीत जल में डुबो दिया है।" यह विघटित होता हुआ प्राचीन जगत् पूरी तरह शेक्सपियर की रचनाओं में प्रतिबिंबित हुआ है।

शेक्सपियर के लिए मानव-सम्बन्धों को विषाक्त करने वाले दो मुख्य कारण हैं: प्रेम के बदले अनियन्त्रित भोगलिप्सा और मनुष्यता के बदले धन की प्रतिष्ठा। अपने एक सॉनेट में सांसारिक व्यवहारों से क्षुब्ध होकर वह मृत्यु की कामना करते हैं। वह देखते हैं कि लोग किसी के प्रति सच्चे रहने की प्रतिज्ञा करके अपनी प्रतीज्ञा तोड़ देते हैं, निर्दोष प्रेम पाप में परिणत हो जाता है, और "अधिकारीवर्ग के कारण कला मौन हो जाती है।" ये बातें हैमलेट ने नहीं शेक्सपियर ने स्वगत कही हैं जो मानवमूल्यों के प्रति उनका दृष्टि-कोण प्रकट करती हैं। हैमलेट की माता की भोगलिप्सा जघन्य रूप से उसके सामने आती है। "ऐएटनी और क्लिओपाट्रा" में वीर ऐएटनी एक चरित्रहीन सुन्दरी के पीछे अपना जीवन नष्ट कर देता है। मैकबेथ की तरह ऐएटनी के पतन में भी उसके प्रति हमारी सहानुभूति रहती है, कारण यह कि ऐएटनी

में उसकी वीरता के कुछ अंश अंत तक बने रहते हैं और वह अपने पतन के प्रति नितान्त अचेत नहीं रहता। हैमलेट को लगता है कि उसके पिता के मरण संस्कार के लिए भोजन का जो प्रवन्ध किया गया था, वह उसकी माता के नये विवाह के लिए भी काम आया और इस तरह क्लॉडियस ने किफायतशारी से काम लिया। इससे अनियन्त्रित भोगलिप्सा के प्रति हैमलेट की तीव्र घृणा प्रकट होती है। अपनी माता के व्यवहार के प्रति उसकी घृणा उसे निष्क्रिय बना देती है। क्लॉडियस के लिए उसकी घृणा नगण्य है। पिता का प्रेत उसे प्रतिशोध के लिए सजग करता है किन्तु प्रतिशोध से क्या टूटे हुए मानव मूल्य जुड़ जायँगे? प्रतिशोध से हैमलेट की समस्या हल नहीं होती; इसीलिए वह इतना निष्क्रिय दिखाई देता है। कुछ समय के लिए उसे ओफीलिया से भी विरक्ति हो जाती है। वह उसे अविवाहित जीवन बिताने के लिए कहता है क्योंकि विवाहित होने पर वह पापियों को ही जन्म देगी। वह अपनी माँ से कठोर शब्द कहता है और कारण पूछने पर बतलाता है कि उसकी माता ने वह कार्य किया है जिससे विवाह की शपथ जुआरियों की सौगन्ध से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

हैमलेट क्लॉडियस के धोखे पोलोनियस का वध कर डालता है। पोलो-नियस का पुत्र विद्रोह की तैयारी करने लगता है। जनता उसे 'लॉर्ड' कहने लगती है और "मानो संसार का इतिहास अब आरम्भ हो रहा हो, प्राचीनता को लोग भूल गये हों, आचार-व्यवहार का ज्ञान ही न हो, पुरानी शपथें भुला दी गई हों, लोग चिल्लाते हैं, 'हम निर्वाचन करते हैं; लायर्टीज़ राजा होगा।' क्लॉडियस रानी को समझाता है कि राजा में दैवी शक्ति है और लायर्टीज़ उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। यहाँ भी सामन्ती शपथें, राजा के दैवी अधिकार मिटते दिखाई देते हैं। किन्तु शेक्सपियर को क्षोभ इन विशेषाधिकारों के नाश पर नहीं है; क्षोभ है, सच्चाई, प्रेम और मनुष्यता के ह्रास पर। कब्रिस्तान में हैमलेट अनेक कंकालों को देखता हुआ राजनीतिज्ञों, दरबारियों, लॉर्डों, वकीलों, भूमिकाय करने वालों आदि पर व्यंग्य करता है।

हैमलेट की आस्था प्रायः टूट गई है, किन्तु पूरी तरह नहीं। ओफीलिया के लिए उसके हृदय में प्रेम बराबर बना रहा। उसकी केमृत्यु बाद उसके

भाई को चुनौती देते हुए वह कहता है : "मैंने ओफीलिया को प्यार किया है। तुम जैसे सहस्रों भाइयों का प्यार उससे होड़ नहीं कर सकता।" वह अपने पिता के गुणों पर मुग्ध है किन्तु पिता के मरने पर संसार गुणशून्य नहीं हो गया। उसे अपने मित्र होरेशिओ से सच्चा स्नेह है। वह उसके मनुष्यत्व की सराहना करता है। जब होरेशिओ विरोध करता है तो हैमलेट आवेश में कहता है, "यह मत समझो कि मैं चाटुकारिता कर रहा हूँ....मीठी-मीठी बातों से उन लोगों के खोखले वैभव को रिझायें और उनके सामने अपने घुटने टेकें जिनसे द्रव्यप्राप्ति की आशा हो। सुनो। जब मेरा विवेक जाग्रत था और मैं मनुष्यों में विभेद कर सकता था, मैंने तुम्हें वरण कर लिया था। तुम उनमें हो जो सब कुछ सहते हुए मानों कुछ नहीं सहते, जो भाग्य का उत्पीड़न और वरदान समानभाव से ग्रहण करते हैं। वे सौभाग्यशाली हैं जिनमें भावना और विवेक का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य है कि नियति उन पर उँगलियाँ रखकर मनचाहा राग नहीं छेड़ सकती। मुझे वह व्यक्ति दिखाओ जो इच्छाओं का दास न हो और मैं उसे हृदय से लगा कर रखूँगा जैसे मैं तुम्हें लगाता हूँ।' यह आदर्श भारतीय महाकाव्यों में विस्तार से चित्रित किया गया है। मनुष्यत्व में शेक्सपियर की अवस्था कभी नहीं डिगी यद्यपि अपने युग के मानवसम्बन्धों से उन्हें क्षोभ था। वह आस्था भारतीय मानवता की आस्था से मिलती-जुलती है।

'किंग लियर' में मनुष्य की चरम अर्थलिप्सा और क्रूरता का चित्रण किया गया है। लियर की दो लड़कियाँ पिता के प्रति अपने सहज कर्तव्य भूल गई हैं। लियर ने उन्हें अपना राज्य दे दिया है किन्तु वे बहाना करके उसे अपने साथ रखने से इन्कार कर देती हैं। बूढ़ा लियर आँधी और वर्षा में निर्वासित मनुष्य जाति को कोसता हुआ घूमता है। ग्लौस्टर के लड़के एडमंड ने अपने भाई और पिता के साथ ऐसा ही कृतघ्न व्यवहार किया है जिससे वे दर-दर भटकते हैं। दो कथाओं को एक साथ रखकर शेक्सपियर ने इस बात पर बल दिया है कि पारिवारिक सम्बन्धों का टूटना लियर के कुटुम्ब की विशेष घटना नहीं है; यह प्रक्रिया अनेक परिवारों में हो रही है। लियर राजा है, अपनी सबसे छोटी लड़की कौर्डिलिया को बहुत प्यार करता है। राजमद

ने उसे भी दूषित कर दिया है जिससे वह चाटुकारिता और सच्चे स्नेह में भेद नहीं कर सकता। वह कौर्डिलिया को राज्य का अंश नहीं देता और अपने सच्चे मित्र और सेवक केन्ट को निर्वासित कर देता है। भाई भाई के, पुत्र और पुत्रियाँ पिता के प्राण लेने पर तत्पर हैं। बूढ़े ग्लाँस्टर की आँखें निकालकर पैरों तले कुचल दी जाती हैं क्योंकि वह लियर का सहायक है। दो बहनें अर्थलिप्सा के साथ कामलिप्सा के कारण परस्पर संघर्ष करती हैं। उन्हें एक-दूसरे को विष देने में भी संकोच नहीं होता। एडमंड की क्रूरता से कॉर्डिलिया को फाँसी दे दी जाती है; वह उसे बचाना चाहता है तब, जब बहुत विलम्ब हो चुका है।

"किंग लियर" में मनुष्य की स्वार्थपरता का और कृतघ्नता का रोमांचकारी चित्र खींचा गया है। इसे पढ़ने और देखने में साधारण मनुष्य को इतना कष्ट होता है कि इंगलैण्ड में यह सब से कम लोकप्रिय नाटकों में रहा है। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उसे सुखान्त नाटक बनाकर लोग मंच पर प्रस्तुत करते रहे हैं। ब्रैडले जैसे आलोचक ने भी उसके दुःखमय अन्त को कला और नाटकीयता के विरुद्ध माना है। शेक्सपियर ने जिस क्रूरता का चित्रण किया है, वह यथार्थ थी। रीगन, गोनरिल, एडमंड, कॉर्नवाल आदि नरपिशाच उसी श्रेणी के व्यक्ति हैं जिस श्रेणी के इआगो और शाइलॉक हैं। इस श्रेणी के व्यक्तियों ने इंगलैण्ड और अन्य देशों में कौन से क्रूर कृत्य नहीं किये? इसलिए शेक्सपियर ने जो कुछ चित्रित किया है, वह न तो अयथार्थ है, और न कला और नाटकीयता के विरुद्ध है। आधुनिक आलोचकों ने शेक्सपियर के बारे में एक प्रवाद फैला रक्खा है कि सामाजिक द्वन्द्व से अधिक उसे मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व से दिलचस्पी थी। अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य द्वन्द्व के बीच कोई गहरी खाई नहीं है। हैमलेट में यह अन्तर्द्वन्द्व सबसे अधिक उभर कर आया है। हैमलेट का क्षोभ, निष्क्रियता, ग्लानि, आक्रोश—सभी उसके चारों ओर विश्रृंखल होते हुए मानव-सम्बन्धों से जुड़े हुए हैं। हैमलेट के अन्तर्द्वन्द्व का कारण सामाजिक द्वन्द्व ही है। ओथेलो का अन्तर्द्वन्द्व बहुत सीमित है। जब तक उसे अपनी पत्नी पर सन्देह मात्र रहता है, वह अन्तर्ज्वाला से झुलसता रहता है। जहाँ उसे निश्चय हुआ, वह उसका नाश

कर देता है। समाज के लिए विघातक शक्ति के रूप में इआगो इतना उभर कर आता है कि उसकी बाह्य सत्ता को ओथेलो के अन्तर्द्वन्द्व में छिपाया नहीं जा सकता। निःसन्देह ओथेलो स्वयं ईर्ष्यालु है जिससे यही सिद्ध होता है कि वेनिस के नागरिक जीवन का कलुष एक सीमा तक ओथेलो का मानस भी विषाक्त कर चुका है। मैकबेथ नाटकों के 'वीर' की उस परिभाषा का उल्लंघन करता है जिसके अनुसार वीर सत्पुरुष होता है, केवल किसी भाव या गुण के अति विकसित हो जाने से उसका व्यक्तित्व दोषपूर्ण हो जाता है और इस कारण वह कष्ट भोगता है। वह इआगो, गोनरिल, रीगन और एडमंड की तरह अर्थकामी है। वह पाप करके सत्तालाभ करना चाहता है। अन्तर इतना है कि औरों की तरह उसकी नैतिक भावना पूरी तरह नष्ट नहीं हो गई। उसके चरित्र का सौन्दर्य इस नैतिक भावना के जीवित रहने और उसके लिए संघर्ष करने में है। मैकबेथ में क्षोभ है, पश्चात्ताप है, ग्लानि है किन्तु अन्तर्द्वन्द्व मुख्यतः डंकन की मृत्यु के पहले और थोड़े समय के लिए ही है।

'किंग लियर' में इस तरह के अन्तर्द्वन्द्व का प्रायः अभाव है। लियर ने कॉर्डिलिया के साथ अन्याय किया है। यह स्मृति उसे पीड़ित करती रहती है। कॉर्डिलिया के प्रति लियर के व्यवहार का कारण वह चाटुकारिता का वातावरण है जिसमें लियर का सारा जीवन बीता है। इस प्रकार लियर का अन्याय एक विशद सामाजिक अन्याय का ही अंश है; लियर का अन्तर्द्वन्द्व समाज के बाह्य द्वन्द्व का ही एक अंग है।

शेक्सपियर के वीर पात्रों के बारे में प्रचलित थ्योरी यह है कि वे उच्च वंश के, राजा, सामन्त, विशिष्ट नागरिक आदि होते हैं; उनका पतन मानों व्यक्ति का पतन न होकर किसी राज्य या समाज का पतन होता है। यह थ्योरी ऊपर से देखने में सही है। शेक्सपियर के वीर पात्र अभिजात वर्ग के हैं किन्तु नाटक की विशेषता यह होती है कि वे अपनी साधारण मनुष्यता के प्रति बहुत सजग रहते हैं। मैकबेथ महत्वाकांक्षी सामन्त है; उसके अपराध एक स्वार्थी सामन्त के हैं। इसलिये वह अभिजातवर्ग का हो तो कोई दोष नहीं। किन्तु 'मैकबेथ' में भी यह स्पष्ट है कि उसके भीतर जो नैतिकता जागती और

संघर्ष करती है, वह सामन्त वर्ग की नहीं साधारण जनों की नैतिकता है। कम-से-कम यह नैतिकता ऐसी है जो सभी के लिए काम्य है। ओथेलो ने वेनिस के गौराङ्ग समाज में अपनी वीरता और गुणों के बल पर प्रतिष्ठा पाई है; कुलीनता से उसकी प्रतिष्ठा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शेक्सपियर के समाज में कुलीनता का यथेष्ट महत्व था और आज के इंगलैण्ड में भी बहुत कुछ है। शेक्सपियर ने एक सॉनेट में उन लोगों का उल्लेख किया है जिन्हें अपनी कुलीनता, सम्पत्ति आदि पर गर्व है। अपनी प्रेयसी को सम्बोधन करके उन्होंने लिखा है, "तुम्हारा प्रेम मेरे लिए कुलीनता से बढ़कर है।" गौराङ्ग युवकों को छोड़कर डेस्डिमोना ने ओथेलो के लिए इसी प्रेम का परिचय दिया था। अभिजात वर्ग की कुलीनता नहीं, मनुष्यता, सम्पत्ति का गर्व नहीं, मानवीय करुणा—नैतिक मूल्यों के प्रति शेक्सपियर का यह दृष्टिकोण है।

आँधी और वर्षा की मार सहता हुआ लियर अपनी बेटियों की कृतघ्नता भूल जाना चाहता है। उसे इतना क्षोभ होता है कि वह प्रकृति और मनुष्य दोनों के नष्ट हो जाने की कामना करता है। शेक्सपियर के लिए मनुष्य की कृतघ्नता उसकी सबसे बड़ी अनैतिकता है। "ऐज यू लाइक इट" के एक प्रसिद्ध गीत में शीतवायु को मनुष्य की कृतघ्नता से कम दुःखद कहा गया है। 'टाइमन ऑफ एथेन्स' में टाइमन अतिशय उदारता से अपने मित्रों के लिए अपना धन खर्च करता है किन्तु सम्पत्ति स्वाहा हो जाने पर जब महाजन तकाज़े करते हैं, तब उसके मित्रों में एक भी उसका साथ नहीं देता। मनुष्य धन का दास बन गया है, निर्धन टाइमन इस सत्य को क्षुब्ध होकर बार-बार दोहराता है। टाइमन के मित्रों से अधिक भयानक लियर की पुत्रियों की कृतघ्नता है क्योंकि वे उसकी पुत्रियाँ हैं। फिर भी अपने दुख में लियर अपने विदूषक का दुख नहीं भूलता; तूफान से बचने के लिए वह एक झोंपड़ी में शरण लेने को तैयार हो जाता है। उस समय उसे संसार के दुखी गरीबों की याद आती है। वह कहता है, "नंगे-भूखे गरीबो! जहाँ भी तुम इस निर्दय तूफ़ान की मार सहते हो, तुम्हारे भूखे शरीर और फटे कपड़े घर के बिना ऐसी ऋतु में कैसे तुम्हारी रक्षा करते होंगे? आह, मैंने इस ओर बहुत ही कम ध्यान दिया है! धनवानो, अपना उपचार करो! जो ये दुखी

अनुभव करते हैं, उसे तुम भी अनुभव करो जिससे अपनी अतिरिक्त सम्पदा तुम इन्हें दे दो और ईश्वर अधिक न्यायपूर्ण सिद्ध हो।" लियर में यह अनुभूति सब-कुछ खोकर जाग्रत होती है जब वह साधारण मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं रह जाता।

झोंपड़ी में ग्लौस्टर का निर्वासित पुत्र एड्गर छिपा हुआ है जो एक दुखी विक्षिप्त भिखारी का जीवन बिता रहा है। उसके पास एक कम्बल छोड़कर और कुछ नहीं है। वह अखाद्य खाता हुआ जगह-जगह से प्रताड़ित मारा-मारा घूमता है। लियर उसे देखकर पहचानता है कि कुल-सम्पदाहीन नग्न मनुष्यता क्या होती है। उसे अपना जीवन कृत्रिम लगता है और आवेश में वह अपने वस्त्र उतारने लगता है। लियर आगे चलकर वर्गयुक्त समाज की न्याय-व्यवस्था की टीका करता है। "पाप को सोने से मढ़ दो और न्याय का अस्त्र उससे टकराकर चूर हो जायगा। उसे चीथड़ों में लपेट दो और तिनके से भी वह ढह जायगा।" यह पूँजीवादी समाज का अभ्युदय-काल था जिस पर शेक्सपियर की यह तीखी टिप्पणी अनेक पाश्चात्य आलोचकों के गले से नीचे नहीं उतरती। लियर अपने वर्ग से विलग होकर यह मानवीय करुणा प्राप्त करता है। वह बन्दीगृह में कॉर्डिलिया के साथ शान्ति से अन्तिम जीवन बिता देना चाहता है किन्तु नर-राक्षस उसकी यह साध भी पूरी नहीं होने देते।

दुःखान्त नाटकों के लिए कहा जाता है कि उनसे पाठकों में भय और दया के भाव जाग्रत होते हैं। भय कम, दया अधिक; और दया के साथ क्रोध और वीर पात्रों के लिए सम्मान का भाव भी दुःखान्त नाटकों की विशेषता है। दुःखान्त नाटक या ट्रैजेडी दुःख को ही कथा नहीं है; वह दुःख से मनुष्य के संघर्ष की कथा भी है। दुःख सहते हुए मनुष्य अपनी धीरता-वीरता आदि गुणों का परिचय देता है। अन्याय और क्रूरता के प्रति जनता का रोष जाग्रत होता है; अन्त में अन्याय विजयी नहीं होता अन्यायी को अपने किये का फल मिल जाता है। लियर स्वयं कॉर्डिलिया को फाँसी देने वाले का वध करता है। वह वृद्ध है, शारीरिक और मानसिक रूप से टूट चुका है। फिर भी अन्तिम बार सारी शक्ति लगाकर कॉर्डिलिया के बधिक

को दण्ड देकर मानों उसके प्रति अपने पूर्व अन्याय का प्रतिकार कर डालता है। कॉर्नवाल बूढ़े ग्लॉस्टर की आँखें निकालता है। उस समय एक साधारण सेवक से नहीं रहा जाता; वह तलवार निकालकर अपने 'स्वामी' के विरोध में खड़ा हो जाता है। यद्यपि वह मारा जाता है, फिर भी कॉर्नवाल को इतना घायल कर जाता है कि उसका भी प्राणान्त हो जाय। अर्थलाभ की आशा से बूढ़े और अन्धे ग्लॉस्टर के प्राण लेने के लिए जब आस्वाल्ड बढ़ता है, तब उसकी तलवार की पर्वाह न करके किसान के वेश में एडगर अपने डंडे से उसका सिर तोड़ देता है। अन्यायी को दण्ड मिले—निःसन्देह शेक्सपियर का विवेक इससे प्रसन्न होता है। उनके नाटक निष्क्रिय सहनशीलता को आकर्षक बनाकर चित्रित नहीं करते। शेक्सपियर की कला का स्रोत उनकी प्रगाढ़ माननीय सहानुभूति है जो उन्हें अपने समकालीन भारतीय कवि तुलसीदास के निकट लाती है। दोनों के साहित्यिक उपकरण भिन्न हैं किन्तु हृदय की धड़कन दोनों की मिलती-जुलती है।

ब्रैडले ने मनुष्य-जाति पर लियर के आक्रोश का विवेचन करते हुए लिखा है, "किन्तु 'टाइमन' की तरह यहाँ भी गरीब और साधारण जन, प्रायः बिना किसी अपवाद के, हृदय के सच्चे और सरस हैं, दयावान और वफादार हैं।" जो लोग समझते हैं कि शेक्सपियर के लिए सभी मनुष्य समान थे, वे ब्रैडले के इस वाक्य पर गम्भीरता से विचार करें। इसी के साथ एक टिप्पणी में इस अंग्रेज़ आलोचक ने लिखा है, "इस विषय में शेक्सपियर के भाव, उसके जीवन के इस भाग में, विशेष तीव्र रहे हैं किन्तु वे आजीवन बहुत कुछ एक-से रहे हैं। (तुलना कीजिये "ऍज यू लाइक इट" में ऍडम)। राजनीतिज्ञों के रूप में साधारण जनों के लिए शेक्सपियर के पास सम्मान नहीं है किन्तु उनके हृदय के लिए महान् श्रद्धा है।" शेक्सपियर का सामाजिक दृष्टिकोण अभिजातवर्ग का नहीं है; वह दृष्टिकोण ऐवन नदी के किनारे स्ट्रैटफोर्ड के साधारण जनों का है जिनमें शेक्सपियर का जन्म हुआ था। यह सामाजिक दृष्टिकोण जो निर्धन और निम्नजनों के प्रति इतना उदार है शेक्सपियर की कला के लिए महत्त्वहीन नहीं है। इसी के आधार पर शेक्सपियर ने उस भोग-लिप्सा और अर्थ-लिप्सा के प्रति घृणा प्रकट की

है जो यूरोप की अभ्युदयशील पूँजीवादी संस्कृति की एक विशेषता थी। इसी के आधार पर उसने मनुष्य की सचाई, वीरता, धीरता, न्यायप्रियता आदि के लिए उसके संघर्ष के अद्भुत चित्र खींचे हैं। शेक्सपियर की कलात्मक तटस्थता आलोचकों की मनगढ़न्त कहानी है। वह मानवमूल्यों के संघर्ष में तटस्थ नहीं हैं वरन् सक्रिय रूप से हमारी करुणा या आक्रोश जाग्रत करते हैं। शेक्सपियर की यह विवेकशील करुणा उन्हें विश्व-कलाकार बनाती है।

शेक्सपियर की तटस्थता-सम्बन्धी धारणा का खण्डन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"डंटन के अनुसार शेक्सपियर की दृष्टि की निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट का चरित्र-चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्ध विक्षिप्त-सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसकी बुद्धि का असामञ्जस्य उसकी बुद्धि-अव्यवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्गविशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिए आत्मग्लानि और क्षोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री-जाति की भर्त्सना करता है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मनबहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डंटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।"[१]

शेक्सपियर की विश्वजनीनता का यही कारण है कि वह निरपेक्ष रहकर कल्पना-कौशल नहीं दिखलाते वरन् उन मूल्यों के प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करते हैं जिनके बिना मनुष्य अपना मनुष्योचित जीवन पा नहीं सकता।

---

१. रस मीमांसा पृ०, ३१८-१९।

ब्रैडले का कहना है कि शेक्सपियर में हमें ऐसे संसार के दर्शन होते हैं जो पूर्णता की ओर बढ़ रहा है। उसमें पुण्य के साथ पाप भी उत्पन्न होता है। यह पाप आत्मपीड़न और आत्मक्षय द्वारा ही निर्मल होता है। यह तथ्य ही ट्रैजेडी है।'

आत्मपीड़न और आत्मक्षय ही क्यों? प्रत्येक नाटक का हीरो तो पापात्मा नहीं है। हैमलेट के आत्मपीड़न का कारण उसका अपना कोई पाप नहीं है। पाप का नाश होता है, चाहे वह हीरो में हो, चाहे उसके प्रतिद्वन्द्वियों में। न्याय हीरो के प्रतिद्वन्द्वियों की ओर भी हो सकता है जैसे 'मैकबेथ' में। पाप का आधार मूलतः मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध हैं जिनमें वह अनियन्त्रित भोग-लिप्सा और अर्थ-लिप्सा की ओर बढ़ता है। ब्रैडले के लिए बाह्य द्वन्द्व गौण है; ईश्वर और शैतान मनुष्य के हृदय में ही संघर्ष किया करते हैं। यह शेक्सपियर को ईसाई धर्म का चश्मा लगाकर देखना है। साथ ही ब्रैडले ने पाप के लिए मनुष्य को—उसके सम्बन्धों को—दोषी न ठहराकर किसी बाह्य-शक्ति को दोषी ठहराया है। शेक्सपियर के पात्र "अन्धकार में संघर्ष करते हैं और जो शक्ति उनके माध्यम से कार्य करती है, वह उन्हें ऐसी योजना का साधन बनाती है जो उनकी नहीं है।" इस तरह मनुष्य का अन्तर्द्वन्द्व भी निरर्थक हो जाता है; क्योंकि वह किसी मानवेतर योजना की पूर्तिमात्र होता है। इसलिए 'किंग लियर' में ब्रैडले के लिए मनुष्य का दुःख एक अभेद्य रहस्य बन जाता है! यह शेक्सपियर पर नियतिवाद आरोपित करना है जिसका खण्डन ब्रैडले ने पहले किया है। यदि शेक्सपियर में मनुष्य मूलतः अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है, कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसका चरित्र उसके कर्मों का स्रोत है तो किसी मानवेतर शक्ति की योजना का प्रश्न नहीं उठता। शेक्सपियर के नाटक मनुष्य के लौकिक जीवन की गाथा हैं।

शेक्सपियर ने यूनानी नाटकों की परम्परा से बहुत-कुछ पाया। उसे उन्होंने अपने देश की लोक-संस्कृति के तत्त्वों से जोड़ा। अपने युग में मानव-मूल्यों का विघटन होते देखकर—अथवा धन और भोग के लिए अनेक जनों में किन्हीं प्रिय मूल्यों का ह्रास देखकर—शेक्सपियर ने अपने महान् दुःखान्त नाटक रचे। ये नाटक हमारी करुणा का परिष्कार और प्रसार करते हैं।

दया और भय के भावों के अतिरिक्त वे अन्याय और बर्बरता के प्रति क्रोध और धीरता-वीरता आदि गुणों के लिए सम्मान-भावना जाग्रत करते हैं। शेक्सपियर समाज के नैतिक संघर्ष में तटस्थ न होकर विश्वजनीन मूल्यों का पक्ष लेते हैं। उनके नाटकों में बाह्य-संघर्ष पर भी पूरा बल है; हीरो का अन्तर्द्वन्द्व ही सब-कुछ नहीं है। इस प्रकार ये नाटक मनुष्य के नैतिक विकास का एक साधन हैं। शेक्सपियर को जो मानवमूल्य प्रिय थे, उनका महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ।

आस्था का नवीन स्तर : प्रेमचन्द का मानवतावाद

जहाँ तक मुझे स्मरण है, सन् ३६ में निराला जी इस बात की चर्चा किया करते थे कि प्रेमचन्द के निधन पर भारत के किसी राजनीतिक दल ने शोक-प्रस्ताव पास नहीं किया। १६५६ में उनकी निधन-तिथि पर राष्ट्रपति ने उनके जन्मस्थान ग्राम लमही में प्रेमचन्द-स्मारक का शिलान्यास किया। यह घटना एक भारी परिवर्तन की सूचक है और इसका श्रेय हिन्दीभाषी जनता और उसके साहित्यकारों को है। यह नहीं कि देश के राजनीतिज्ञ साहित्य या (उससे बढ़कर) साहित्यकारों का महत्व न पहचानते हों। किन्तु यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों का महत्व उन्होंने अन्य भाषाओं—यथा बँगला—की तुलना में देर से पहचाना है।

प्रेमचन्द-दिवस के सिलसिले में ही श्री अमृतलाल नागर ने महारानी लक्ष्मीबाई कालेज ग्वालियर में एक भाषण दिया। इस निबन्ध में नागर जी ने भारतीय संस्कृति के संदर्भ में प्रेमचन्द का महत्व हमें समझाया है। नागर जी राष्ट्रीय चेतना, जातीय संस्कृति और दिन्दी भाषा तथा साहित्य के लिये संघर्ष करने वाले निर्भीक योद्धा हैं। वे प्रेमचन्द का मूल्याङ्कन करने के अधिकारी विद्वान् ही नहीं हैं, स्वयं उस परम्परा की एक बहुत मज़बूत कड़ी हैं। उनकी लिखी हुई अनेक बातें विश्वविद्यालय में शिक्षा पाये हुए अलो-चकों और विद्वानों के ज्ञान-चक्षु खोलने में सहायक हो सकती हैं। उन्होंने बहुत ही ठीक लिखा है, "संस्कृति शब्द आज धर्म शब्द से पहले जैसा सम्बद्ध नहीं रहा। हम संस्कृति का नाता अब व्यापक रूप से मानवता से जोड़ने लगे हैं। यह एक बड़ा भारी परिवर्तन आ रहा है और अनेक सदियों के कठिन संघर्ष की शक्ति लेकर क्रमशः नित्य-प्रति सशक्त भी होता जा रहा है। यह मानव-धर्म विज्ञान के ठोस धरातल पर पनप कर विश्व-संस्कृति के रूप में अब प्रतिष्ठित होकर ही रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

संस्कृति की इस व्याख्या को स्वीकार करके ही हम प्राचीन भारतीय संस्कृति

का मूल्याङ्कन कर सकते हैं और उसके सन्दर्भ में प्रेमचन्द का महत्व पहचान सकते हैं। संकीर्ण अर्थ वाले धर्म के स्थान पर अब मानव-धर्म प्रतिष्ठित हो रहा है और उसका आधार विश्व, मानव, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि के कल्पित चित्र नहीं हैं, वरन् विज्ञान का ठोस धरातल है।

एक दूसरी बहुत मार्के की बात नागर जी ने विद्वान् और कलाकार का भेद बतलाते हुए कला-सृजन के बारे में कही है। अपनी सरस आलंकारिक शब्दावली में उन्होंने कहा है, "पंडित तर्क की सीढ़ियों पर चढ़कर मोक्ष पा जाता है पर कलाकार की स्थिति तो सदा उस पृथ्वी के समान रहती है जो सूर्य-पिण्ड से कट कर सैकड़ों बरस जलती रही, तरह-तरह की गैसों से भरती रही, फिर पानी बरसात में डूबी रही और फिर धीरे-धीरे बहुत सटकर ऊपरी परतें ठंडी पड़ जाने पर ही वह अपने ऊपर सृष्टि रचने की क्षमता पा सकी। भावनाओं के उतार-चढ़ाव में आग-पानी और आँधियों के कठिन झकोले सहकर ही वह अपनी कला सृष्टि रच पाता है।" कलाकर की इस क्षमता को विषम परिस्थितियों से जूझने वाले हिन्दी लेखक से ज़्यादा कौन पहचान सकता है? प्रेमचन्द पृथ्वी के समान ही धैर्यशाली कलाकार थे—अन्तर में वह्नि छिपाये, ऊपर से एकदम शीतल!

प्रेमचन्द का ऐतिहासिक महत्व यह है कि "उन्होंने भारतीय साहित्य के इतिहास को एक नया मोड़ दिया।" उन्होंने अपने पात्र जन-जीवन से चुने; उन्होंने अपना साहित्य उच्चवर्ग के कुछ शिक्षित जनों के लिये नहीं, समस्त भारतीय जनता के लिये रचा। नागर जी के शब्दों में "साहित्य के नायक नायिकाओं की बड़ी लम्बी विरासत वाले तख्ते ताऊस पर होरी, घीसू, हल्कू, धनिया, सलोनी काकी आदि प्रेमचन्द के दम पर बेझिझक बड़ी शान से बैठे और ज़माने का सिर श्रद्धा से उनके आगे नत हो गया।" प्रेमचन्द के मानवतावाद की खूबी यह है कि उन्होंने भारतीय समाज में वर्गों का भेद, उनका संघर्ष, धर्म और संस्कृति के प्रति उनका भिन्न दृष्टिकोण, उनके आचार-व्यवहार की भिन्नता, उनकी शूरता और कायरता आदि गुणों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा और पहचाना। "उनका महामानव केवल अमीर-ग़रीब, ऊँच-नीच का भेदभाव मिटकर हर मानव-हृदय की शक्ति और

कमजोरी को ही नहीं पहचान सका वरन् पशुओं के मानस में भी ममता की उसी डोर के सहारे उतरने में वह पूर्णरूपेण समर्थ हुए। प्रेमचन्द लोकमानस के अनोखे पारखी थे और इस रूप में आज भी हमारे गुरू हैं।"

इस सिलसिले में पाठकों को "गोदान" की वह घटना याद आयेगी जिसमें पठान के वेष में मेहता रायसाहब और उनके मित्रों के बीच से मालती का हाथ पकड़ कर ले जाना चाहते हैं। किसी में इतना साहस नहीं है कि उस नकली पठान से एक महिला की रक्षा करे। मालती सबको फटकारती हैं, "आप लोग इतने कायर हैं, यह मैं न समझती थी।" तभी उधर होरी आता है। प्रेमचन्द ने गरीब किसानों के इस अमर प्रतीक के बारे में लिखा है, "वह कायर न था, मरना और मारना दोनों ही जानता था; मगर पुलिस के हथकंडों के सामने उसकी एक न चलती थी।" उसने मिस मालती के धनी मित्रों की तरह आगा-पीछा न किया। "उसने झपट कर खान की कमर पकड़ी और ऐसा अड़ंगा मारा कि खान चारों खाने चित्त ज़मीन पर आ रहे।" इस तरह की घटनाएँ प्रेमचन्द के उपन्यासों में भरी पड़ी हैं। विभिन्न वर्गों के व्यवहार का भेद चित्रित करके वह उनकी संस्कृति की भिन्नता प्रकट करते हैं। सच्चा देशभक्त गरीब जनता से दृढ़ सहानुभूति रखने वाला होगा। वह देश की मुक्ति के साथ निर्धनता और शोषण से देश की बहुसंख्यक श्रमिक जनता की मुक्ति भी चाहेगा। इस दृष्टि से विचार करने पर राष्ट्रीय चेतना और समाजवादी विचारधारा परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक होती हैं। केवल साम्प्रदायिकता, धार्मिक विद्वेष, अन्ध राष्ट्रवाद देश के लिये अकल्याणकारी हैं। ये जनता में फूट और भेदभाव दृढ़ करते हैं, शोषकवर्ग को बल देते हैं और जनता की शोषणमुक्ति में बाधा डालते हैं।

प्रेमचन्द के सिलसिले में नागर जी ने एक और प्रश्न उठाया है जिसका हमारी सांस्कृतिक समस्याओं से गहरा सम्बन्ध है। लिखा है, 'मैं आपसे पहले ही निवेदन कर आया हूँ कि प्रेमचन्द हिन्दू थे, समान रूप से हिन्दी-उर्दू के लेखक थे, भारतीय थे और महामानव भी। उनके हिन्दूपन के सम्बन्ध में मुझे केवल एक ही बात कहनी है और यह बात केवल प्रेमचन्द तक सीमित नहीं होती। वह उनके समय के अन्य कथाकारों से लेकर हमारी पीढ़ी तक पर

का मूल्याङ्कन कर सकते हैं और उसके सन्दर्भ में प्रेमचन्द का महत्व पहचान सकते हैं। संकीर्ण अर्थ वाले धर्म के स्थान पर अब मानव-धर्म प्रतिष्ठित हो रहा है और उसका आधार विश्व, मानव, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि के कल्पित चित्र नहीं हैं, वरन् विज्ञान का ठोस धरातल है।

एक दूसरी बहुत मार्के की बात नागर जी ने विद्वान् और कलाकार का भेद बतलाते हुए कला-सृजन के बारे में कही है। अपनी सरस आलंकारिक शब्दावली में उन्होंने कहा है, "पंडित तर्क की सीढ़ियों पर चढ़कर मोक्ष पा जाता है पर कलाकार की स्थिति तो सदा उस पृथ्वी के समान रहती है जो सूर्य-पिण्ड से कट कर सैकड़ों बरस जलती रही, तरह-तरह की गैसों से भरती रही, फिर पानी बरसात में डूबी रही और फिर धीरे-धीरे बहुत सटकर ऊपरी परतें ठंडी पड़ जाने पर ही वह अपने ऊपर सृष्टि रचने की क्षमता पा सकी। भावनाओं के उतार-चढ़ाव में आग-पानी और आँधियों के कठिन झकोले सहकर ही वह अपनी कला सृष्टि रच पाता है।" कलाकर की इस क्षमता को विषम परिस्थितियों से जूझने वाले हिन्दी लेखक से ज़्यादा कौन पहचान सकता है? प्रेमचन्द पृथ्वी के समान ही धैर्यशाली कलाकार थे—अन्तर में वह्नि छिपाये, ऊपर से एकदम शीतल !

प्रेमचन्द का ऐतिहासिक महत्व यह है कि "उन्होंने भारतीय साहित्य के इतिहास को एक नया मोड़ दिया।" उन्होंने अपने पात्र जन-जीवन से चुने; उन्होंने अपना साहित्य उच्चवर्ग के कुछ शिक्षित जनों के लिये नहीं, समस्त भारतीय जनता के लिये रचा। नागर जी के शब्दों में "साहित्य के नायक नायिकाओं की बड़ी लम्बी विरासत वाले तख्ते ताऊस पर होरी, घीसू, हल्कू, बनिया, सलोनी काकी आदि प्रेमचन्द के दम पर बेझिझक बड़ी शान से बैठे और ज़माने का सिर श्रद्धा से उनके आगे नत हो गया।" प्रेमचन्द के मानवतावाद की खूबी यह है कि उन्होंने भारतीय समाज में वर्गों का भेद, उनका संघर्ष, धर्म और संस्कृति के प्रति उनका भिन्न दृष्टिकोण, उनके आचार-व्यवहार की भिन्नता, उनकी शूरता और कायरता आदि गुणों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा और पहचाना। "उनका महामानव केवल अमीर-ग़रीब, ऊँच-नीच का भेदभाव मिटकर हर मानव-हृदय की शक्ति और

कमजोरी को ही नहीं पहचान सका वरन् पशुओं के मानस में भी ममता की उसी डोर के सहारे उतरने में वह पूर्णरूपेण समर्थ हुए। प्रेमचन्द लोकमानस के अनोखे पारखी थे और इस रूप में आज भी हमारे गुरू हैं।"

इस सिलसिले में पाठकों को "गोदान" की वह घटना याद आयेगी जिसमें पठान के वेष में मेहता रायसाहब और उनके मित्रों के बीच से मालती का हाथ पकड़ कर ले जाना चाहते हैं। किसी में इतना साहस नहीं है कि उस नकली पठान से एक महिला की रक्षा करे। मालती सबको फटकारती हैं, "आप लोग इतने कायर हैं, यह मैं न समझती थी।" तभी उधर होरी आता है। प्रेमचन्द ने गरीब किसानों के इस अमर प्रतीक के बारे में लिखा है, "वह कायर न था, मरना और मारना दोनों ही जानता था; मगर पुलिस के हथकंडों के सामने उसकी एक न चलती थी।" उसने मिस मालती के धनी मित्रों की तरह आगा-पीछा न किया। "उसने झपट कर खान की कमर पकड़ी और ऐसा अड़ंगा मारा कि खान चारों खाने चित्त ज़मीन पर आ रहे।" इस तरह की घटनाएँ प्रेमचन्द के उपन्यासों में भरी पड़ी हैं। विभिन्न वर्गों के व्यवहार का भेद चित्रित करके वह उनकी संस्कृति की भिन्नता प्रकट करते हैं। सच्चा देशभक्त गरीब जनता से दृढ़ सहानुभूति रखने वाला होगा। वह देश की मुक्ति के साथ निर्धनता और शोषण से देश की बहुसंख्यक श्रमिक जनता की मुक्ति भी चाहेगा। इस दृष्टि से विचार करने पर राष्ट्रीय चेतना और समाजवादी विचारधारा परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक होती हैं। केवल साम्प्रदायिकता, धार्मिक विद्वेष, अन्ध राष्ट्रवाद देश के लिये अकल्याणकारी हैं। ये जनता में फूट और भेदभाव दृढ़ करते हैं, शोषकवर्ग को बल देते हैं और जनता की शोषणमुक्ति में बाधा डालते हैं।

प्रेमचन्द के सिलसिले में नागर जी ने एक और प्रश्न उठाया है जिसका हमारी सांस्कृतिक समस्याओं से गहरा सम्बन्ध है। लिखा है, 'मैं आपसे पहले ही निवेदन कर आया हूँ कि प्रेमचन्द हिन्दू थे, समान रूप से हिन्दी-उर्दू के लेखक थे, भारतीय थे और महामानव भी। उनके हिन्दूपन के सम्बन्ध में मुझे केवल एक ही बात कहनी है और यह बात केवल प्रेमचन्द तक सीमित नहीं होती। वह उनके समय के अन्य कथाकारों से लेकर हमारी पीढ़ी तक

लागू होती है। प्रेमचन्द से लेकर हम और हमारे सहयोगी बन्धु तक हिन्दू धर्म या हिन्दू ढंग के सामाजिक रीति-रिवाजों की कटु से कटु आलोचना करते हैं। हम वैसी ही आलोचना अपने देशी समाज द्वारा माने जाने वाले अन्य धर्मों की नहीं कर पाते; साधारणतया मौन रहते हैं। मेरी अल्प बुद्धि तो यही समझ पाती है कि यह हमारा हिन्दूपन है।"

भारत तो आर्थिक विकास की दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ देश है। यूरोप के उन्नत राष्ट्रों में जहाँ सामन्ती बन्धन खत्म हो चुके हैं और विज्ञान ने बहुत प्रगति की है, एक धर्म के लेखक दूसरे धर्म वालों के सामाजिक जीवन का वैसा ही चित्रण नहीं कर पाते जैसा अपने धर्मवालों का। उदाहरण के लिये यूरोप के ईसाई लेखकों के रचे हुए साहित्य में यहूदियों के चित्रण का अनुसन्धान कीजिये और यहूदी तो दूर, प्रोटेस्टेंट लेखकों के साहित्य में रोमन कैथलिकों के चित्रण की ही छानबीन कीजिये तो भारतीय जनता और उसके साहित्यकारों की धार्मिक सहिष्णुता की दाद देनी होगी। यह सही है कि हमारे समाज में खान-पान, विवाह-सम्बन्ध, रीति-रिवाज आदि में हिन्दू और मुसलमानों में काफी भेद है। यही नहीं, एक धर्म के मानने वालों में ही परस्पर अलगाव और भिन्नता की कमी नहीं है। ऐसी स्थिति में हिन्दू-मुसलमान लेखक समाज-सुधार के उद्देश्य से साहित्य रचते हुए सबसे पहले और अधिक ध्यान अपने धर्मावलम्बियों की ओर ही देते हैं, इसमें आश्चर्य नहीं। आश्चर्य इसमें है कि औपनिवेशिक भारत के अर्द्ध-सामन्ती समाज में पले हुए प्रेमचन्द ने अपने धर्मावलम्बियों के अलावा मुसलमानों के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ लिखा है और बहुत खुलकर लिखा है। कबीर के बाद किसी ने दोनों धर्मों के अनुयाइयों को ऐसी आलोचनात्मक दृष्टि से न देखा था और न प्रेमचन्द के बाद से अब तक—नागर जी समेत—किसी ने मुस्लिम समाज का ऐसा व्यापक और विस्तृत चित्रण किया है।

प्रेमचन्द के लिये धर्म के दो रूप हैं, एक अमीरों का धर्म, दूसरा गरीबों का। गरीबों के धर्म को—चाहे गरीब हिन्दू हों, चाहे मुसलमान—वे अत्यन्त सहानुभूति से देखते हैं। अमीरों के धर्म को वह सन्देह से, कड़ी आलोचना-

त्मक निगाह से देखते हैं, उसे अपने व्यंग्य का निशाना बनाते हैं। 'ईदगाह' कहानी में अमीरों और गरीबों की ईद पर लिखा है, "वह [अर्थात् गरीबों के बच्चे] क्या जानें कि अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायम अली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाय। उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना खजाना निकाल कर गिनते हैं और खुश होकर फिर रख लेते हैं। महमूद गिनता है, एक-दो, दस बारह! उसके पास बारह पैसे हैं। मोहसिन के पास एक, दो, तीन, आठ, नौ, पन्द्रह पैसे हैं। इन्हीं अनगिनती पैसों में अनगिनती चीजें लायेंगे—खिलौने, मिठाइयाँ, बिगुल, गेंद और जाने क्या-क्या।" प्रेमचंद को जहाँ ईद के दिन खजाना गिनने वालों से नफ़रत है, वहाँ अपनी बूढ़ी माँ के लिये चिमटा लाने वाले हामिद से अपार सहानुभूति है। इसी तरह "रामलीला" कहानी में वह रामचन्द्र का पार्ट करने वाले बालक के प्रति कहानी कहने वाले युवक की श्रद्धा को सहानुभूति से देखते हैं; वेश्या को अशर्फी देने वाले उसके पिता को घृणा का पात्र समझते हैं।

"सेवा सदन" में भोली नाम की वेश्या है। वह मन्दिर में गाने के लिये बुलाई जाती है और उसके घर के सामने मुसल्मानों की धार्मिक कथा-वार्ता भी होती है। प्रेमचन्द ने लिखा है, "फिर मौलाना साहब की सवारी आई। उनके चेहरे से प्रतिभा झलक रही थी। वह सजे हुए सिंहासन पर मसनद लगाकर बैठ गये और मौलूद होने लगा।" और भोली वेश्या क्यों बनी थी? वह सुमन से कहती है, "मेरे माँ-बाप ने भी मुझे एक बूढ़े मियाँ के गले में बाँध दिया था। उसके यहाँ दौलत थी और सब तरह का आराम था, लेकिन उसकी सूरत से मुझे नफ़रत थी। मैंने किसी तरह छः महीने तो काटे, आखिर निकल खड़ी हुई।" अनमेल विवाह, वेश्यावृत्ति, धर्म की आड़ में कुकर्म—यह सब हिन्दुओं में भी है, मुसलमानों में भी; क्योंकि वर्ग-भेद दोनों में है, गरीब-अमीर दोनों में हैं, शोषणचक्र दोनों में चलता है।

"प्रेमाश्रम" के सैयद ईजादहुसेन का व्यक्तित्व अत्यन्त भव्य है। "गौर वर्ण, श्वेत केश, सिर पर हरा अमामा, काले अल्पाके का आबा, सुफेद

तंजेब की अचकन, सलेमशाही जूते, सौम्य और प्रतिभा की साक्षात् मूर्ति थे।" धर्म के मामले में वह अत्यन्त उदार हैं। इत्तहादी यतीमखाने के लिये चन्दा बटोरने के लिये जब व्याख्यान देते हैं, तब कहते हैं, "मज़हब दिल की तस्कीन के लिये है, दुनिया कमाने के लिये नहीं, मुल्की हकूक हासिल करने के लिये नहीं। वह आदमी जो मजहब की आड़ में दौलत और इज्जत हासिल करना चाहता है, अगर हिन्दू है तो मलिच्छ है, मुसलमान है तो काफिर है, हाँ काफिर है, मरदूद है, रूसियाह है।" उन्हें हिन्दू धर्म पर भी श्रद्धा है। अर्ज करते हैं, "हजरात, मैं अर्ज नहीं कर सकता कि मेरे दिल में सिरीकिरिश्नजी की कितनी इज्जत है।" जमींदारों और अमीरों की सभा से पाँच हजार वसूल करते हैं। उनके इत्तहाद-प्रेम का रहस्य खुलता है, एकान्त में, बेटे से बातचीत के समय। चन्दा देने वाले हिन्दुओं के लिये कहते हैं, "आज मालूम हुआ कि ये सब कितने अहमक होते हैं। इसी अपील पर किसी इसलामी जलसे में मुश्किल से १००) मिलते, इन बछिया के ताउओं की खूब तारीफ कीजिए। हजो मलीह तक हो तो मुज़ायका नहीं, फिर इनसे जितना चाहे वसूल कर लीजिये।" बेटे को शक होता है कि यह सब बेईमानी तो नहीं है। सैयद साहब साफ़-साफ़ कहते हैं, "यह दगाबाज़ी है, पर करूँ क्या? औलाद और खानदान की मुहब्बत अपनी नजात की फिकर से ज़्यादा है।"

ईजाद हुसेन के घर में स्वर्ग और नरक दोनों हैं। बरामदे में वस्त्रविहीन बालक फटे हुए बोरिये पर बैठे करीमा और खालिकबारी रटते हैं। तख्त पर "एक दढ़ियल मौलवी, लुंगी बाँधे, एक मैला-कुचैला तकिया लगाये अपना मदरिया पिया करते और इस कलरव में भी शान्तिपूर्वक झपकियाँ लेते रहते थे।" बरामदे के ऊपरवाले कमरे में कालीन, मसनद, पानदान, खसदान, उगालदान, सभी सजे थे और "एक कोने में नमाज़ पढ़ने की दरी बिछी हुई थी। तस्बी (माला) खूँटी पर लटक रही थी।" नमाज़ के प्रेमी ईजाद हुसेन दूसरे धर्मवालों को ही नहीं ठगते, अपने धर्मवालों का शोषण भी करते हैं। बरामदे वाले मौलवी साहब कहते हैं, "कभी सालन तक तो नसीब नहीं होता। दरवाजे पर पड़ा-पड़ा मसाले और प्याज

की खुशबू लिया करता हूँ। सारा घर पुलाव और जरदे उड़ाता है, यहाँ खुश्क रोटियों पर ही बसर है। दस्तरखान पर खाने को तरस गया। रोज वही मिट्टी की प्याली सामने आ जाती है।" वही ठग-विद्या, वही गरीब-अमीर का भेद, वही सामाजिक अन्याय इस दुनिया में है जो ज्ञानशंकर और गायत्री के यहाँ है।

"प्रेमाश्रम" में एक दुष्ट कारिन्दा है गौस खाँ। इसी ने मनोहर की स्त्री विलासी को धक्का दिया था जिस पर मनोहर ने उसे मार डाला था। यह गौस खाँ गाँव वालों को नीचा दिखाने के लिये दरोगा को घूस देता है। घूस में वे रुपये भी शमिल हैं जो उसने "अपने गाँव में एक मसजिद बनवाने के लिये जमा किये थे।" गौस खाँ की जगह नया करिन्दा फैज़ुल्लाह आया। इसके अत्याचारों का यह हाल था कि "किसी को चौपाल के सामने धूप में खड़ा करते, किसी को मुश्कें कसकर पिटवाते। दीन नारियों के साथ और भी पाशविक व्यवहार किया जाता, किसी की चूड़ियाँ तोड़ी जातीं, किसी के जूड़े नोचे जाते। इन अत्याचारों को रोकने वाला अब कौन था? सत्याग्रह में अन्याय को कौन दमन करने की शक्ति है यह सिद्धान्त भ्रान्ति-पूर्ण सिद्ध हो गया।" यह अत्याचारी फैज़ुल्लाह नमाज़ का बड़ा पाबंद है। कचहरी जाने की तैयारी है। लाठी में तेल मल कर कर्तारसिंह आ गया; गेरुए रंग की धोती पहने बिन्दा आ गया। "केवल खाँ साहब की नमाज़ की देर थी।" लोग इन्तजार करते रहते हैं, "आठ बजे खाँ साहब की नमाज़ पूरी हुई।" लेकिन उस दिन वह कचहरी न गये। गाँव वालों पर आठ सौ रुपये की नालिश की थी; सौ रुपये खर्च के थे। सुक्खू चौधरी हजार रुपये देकर मुकद्दमा खत्म कराने आये हैं। लेकिन फैज़ुल्लाह कहता है, कुल मिलाकर १७५०) भरने होंगे। इस पर—"सहसा चौधरी ने अपना चिमटा उठाया और इतने ज़ोर से फैज़ुल्लाह के सिर पर मारा कि वह ज़मीन पर गिर पड़ा। तब बोले यही अदालत का खर्च है, जी चाहे और ले लो।" धूर्त और अत्याचारी चाहे हिन्दू हों चाहे मुसलमान, प्रेमचन्द उनके साथ अत्यन्त समदर्शी भाव से ऐसा ही व्यवहार करने की सलाह देते हैं जैसा सुक्खू चौधरी ने फैज़ुल्लाह के साथ किया।

"रंगभूमि" का ताहिरअली चमारों से अँगूठे के निशान लगवा कर उनकी जमा हजम करना चाहता है। लेकिन गरीब है, गृहस्थी के जंजाल से परेशान है, ढुलमुल-यकीन है। वह धर्म के बारे में नये तर्क पेश करता है, "अगर खुदा को मंजूर होता कि मेरा ईमान सलामत रहे, तो क्यों इतने आदमियों का बोझ मेरे सिर डाल देता।" और इस तर्क के आधार पर वह रोकड़ से रुपये निकालने लगा। नमाज का पाबंद वह भी है। "एक दिन सुबह को ताहिर अली नमाज अदा करके दफ़्तर में आये, तो देखा एक चमार खड़ा रो रहा है।" वह दिन उनके लिए बहुत अशुभ सिद्ध हुआ। पकड़े गये, जेल गए, बीबी-बच्चे दाने-दाने को मोहताज रहे लेकिन जेल से लौटने पर उन्होंने अपने नालायक भाई के, जो दरोगा हो गया था, मुँह पर स्याही मल दी और इस तरह अपनी कमजोरी का प्रायश्चित किया। अब उनकी तर्क-बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करने लगती है। कहते हैं, "खुदा ही इन्साफ़ करता, तो हमारी यह हालत क्यों होती! उसने इंसाफ करना छोड़ दिया।"

"गोदान" के मिर्जा खुर्शेद दिलचस्प आदमी हैं। "दो बार हज कर आये थे, मगर शराब खूब पीते थे। कहते थे, जब हम खुदा का एक हुक्म भी कभी नहीं मानते, तो दीन के लिये क्यों जान दें।" धर्म के वह इतने पाबन्द हैं कि "दस साल से उन्होंने नमाज़ न पढ़ी थी" ऐसे धर्म पराङ्मुख व्यक्ति को प्रेमचन्द ने बहुत ही सहृदय बनाकर पेश किया है। हिरन का शिकार किया लेकिन उसे मारकर पछताने लगे। "हिरन की टँगी हुई, दीन वेदना से भरी आँखें देख रहे थे। अभी एक मिनट पहले इसमें जीवन था। जरा-सा पत्ता भी खड़कता, तो कान खड़े करके चौकड़ियाँ भरता हुआ निकल भागता। अपने मित्रों और बाल-बच्चों के साथ ईश्वर की उगाई हुई घास खा रहा था, मगर अब निस्पन्द पड़ा है। उसकी खाल उधेड़ लो, उसकी बोटियाँ कर डालो, उसका कीमा बना डालो, उसे खबर न होगी, उसके क्रीड़ामय जीवन में जो आकर्षण था, जो आनन्द था, वह क्या इस निर्जीव शव में है? कितनी सुन्दर गठन थी, कितनी प्यारी आँखें, कितनी मनोहर छवि? उसकी छलाँगें हृदय में आनन्द की तरंगें पैदा कर देती थीं, उसकी चौकड़ियों के साथ हमारा मन भी चौकड़ियाँ भरने लगता था। उसकी

स्फूर्ति जीवन-सा बिखेरती चलती थी, जैसे फूल सुगंध बिखेरता है, लेकिन अब ! उसे देखकर ग्लानि होती है ।"

शिकार देखकर मिर्ज़ा के मुँह में पानी नहीं आता, ग्लानि होती है। मार्मिक अनुभूति के क्षण में उन्हें पशु और मानव के जीवन की एकता का बोध होता है। कितने कवित्वमय शब्दों में प्रेमचन्द ने हिरन की स्फूर्ति, मानव-मन को आह्लादित करने वाली उसकी कुलाँच का वर्णन किया है। नागर जी ने ठीक लिखा है कि प्रेमचन्द ममता की डोर के सहारे पशुओं के मानस में उतर जाते हैं। और यह ममता की डोर उन्होंने थमा दी है मिर्ज़ा खुर्शेद को जो हज कर आये हैं और शराब पीते हैं और दस बरस से जिन्होंने नमाज़ नहीं पढ़ी है। सूफी हैं, एकदम ग़ालिब की परम्परा में। उनके बारे में भी कहा जा सकता है, तुझे हम वली समझते जो न बादा-खार होता !

लेकिन मिर्जा साहब ऐसे वली हैं जो परलोक से ज्यादा इस लोक की —और उसके लोकतन्त्र की—हक़ीक़त पहचानते हैं। कहते हैं "जिसे हम डेमॉक्रैसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और ज़मींदारों का राज्य है, और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है, जिसके पास रुपए हैं। रुपए के जोर से उसके लिये सभी सुविधाएँ तैयार हो जाती हैं। बड़े-बड़े पंडित, बड़े-बड़े मौलवी, बड़े-बड़े लिखने और बोलने वाले, जो अपनी जबान और क़लम से पबलिक को जिस तरफ़ चाहें फेर दें, सभी सोने के देवता के पैरों पर माथा रगड़ते हैं।" यह है महाजनी सभ्यता जो धर्म को अपना दास बना कर रखती है। मिर्जा साहब कम्युनिस्ट नहीं हैं, सोशलिस्ट भी नहीं। उनके आदर्श शासक वे पुराने बादशाह हैं जो खजाने से एक कौड़ी भी निजी खर्च के लिये न ले सकते थे और जो "किताबें नकल करके, कपड़े सीकर, लड़कों को पढ़ा कर" अपना गुजर करते थे। लेकिन मिर्जा में जन-साधारण में घुल-मिल जाने की अपूर्व क्षमता है। शिकार के सिलसिले में जब एक गाँव में पहुँचते हैं, तब "सारे गाँव से उनका इतना घनिष्ठ परिचय हो गया था, मानों यहीं के निवासी हों।" उनके साथी सब

खीझे हुए और परेशान दिखाई देते हैं। "अकेले मिर्जा साहब प्रसन्न थे और वह प्रसन्नता अलौकिक थी।"

"कर्मभूमि" की पठानिन अपनी लड़की सकीना की शादी के बारे में अमरकान्त से पूछताछ करती है। अमरकान्त के सभी मुसलमान दोस्त धनी हैं, बुढ़िया बेहद ग़रीब है। कहती है, "तो भला धनी लोग हम गरीबों की बात क्या पूछेंगे। हालाँकि हमारे नबी का हुक्म है कि शादी-ब्याह में अमीर-ग़रीब का खयाल न होना चाहिए; पर उनके हुक्म को कौन मानता है! नाम के मुसलमान, नाम के हिन्दू रह गए हैं। न कहीं सच्चा मुसल्मान नजर आता है, न सच्चा हिन्दू।" इसमें हम जोड़ सकते हैं, न सच्चा ईसाई नजर आता है। ईसाइयों की संख्या मुसल्मानों से कम है लेकिन प्रेमचन्द उनमें भी उच्चवर्गों की संकीर्णता पर व्यंग्य करना नहीं भूले।

"रंगभूमि" में जॉन सेवक के पिता ईश्वर सेवक अपने पुत्र को रोज दो घंटे फ़िजूलखर्ची के खिलाफ़ उपदेश देते हैं। "वह अपने ही घर में धन का अपव्यय नहीं देख सकते थे, चाहे वह किसी मेहमान का ही धन क्यों न हो। धर्मानुरागी इतने थे कि बिला नाग़ा दोनों वक्त गिरजाघर जाते।" धर्म और धन ने इनके हृदय को ऐसा दबोचा था कि उसमें मानव-प्रेम के लिये जगह न रह गई थी। उनका नौकर तामजाम खींच कर उन्हें गिरजाघर छोड़ आता था। उसे घर वापस भेज देते थे कि उतनी देर उसकी श्रमशक्ति का उपयोग होता रहे। सोफिया की समझ में नहीं आता कि "अगर प्रभु ईसू ने अपने रुधिर से हमारे पापों का प्रायश्चित कर दिया, तो फिर सारे ईसाई समान दशा में क्यों नहीं हैं? अन्य मतावलंबियों की भाँति हमारी जाति में भी अमीर-गरीब, अच्छे-बुरे, लँगड़े-लूले, सभी तरह के लोग मौजूद हैं। इसका क्या कारण है?" नतीजा यह कि उसकी माँ ने उसकी मेज़ से बौद्ध धर्म और वेदान्त के कई ग्रंथ उठाकर फेंक दिये और उन्हें पैरों से कुचला भी! सोफिया और उसकी माता का संघर्ष नयी विचार-धारा और रूढ़िवाद की टक्कर है। सोफिया ईसा मसीह पर श्रद्धा करती है लेकिन यह विश्वास नहीं करती कि वे उसे मुक्ति देंगे। "मेरी मुक्ति, अगर मुक्ति हो सकती है, तो मेरे कर्मों से होगी।"

सोफिया के लिये धर्म का अर्थ है मानव-विवेक। इसी तरह सूरदास के लिये धर्म का अर्थ है, मानव-प्रेम। वह जॉन सेवक से कहते हैं, "धरम में आपका स्वार्थ मिल गया है, अब वह धरम नहीं रहा।"

इस तरह की और बहुत-सी मिसालें दी जा सकती हैं। प्रेमचन्द सभी धर्मों की आलोचना करते थे और सभी धर्मों को सहानुभूति से देखते थे। उच्च वर्गों का धर्म उनके पाखंड और अत्याचार को छिपाने, दूसरों को ठगने का साधन बन जाता है। गरीबों के लिये वह दया, ममता, सहानुभूति का दूसरा नाम है। गरीबों के धार्मिक विश्वासों में अनेक निराधार कल्पनाएँ हैं लेकिन प्रेमचन्द उन पर आक्रमण नहीं करते, न उनकी कटु आलोचना करते हैं। उनका तरीका है, जीवन की वास्तविक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना और इस तरह मनुष्य को उसके व्यवहार और प्रत्यक्ष अनुभव से शिक्षा देकर उसे अप्रत्यक्ष जगत् से मोड़ना। प्रेमचन्द के इस मानवतावाद का कारण यह था कि वह "सेवासदन" लिखने के समय से ही उच्च और निम्न वर्गों में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमंडी क्यों न आबाद हो?" ये वाक्य "सेवा-सदन" के एक पात्र के हैं। "प्रेमाश्रम" में उनका बलराज रूस और बल्गारिया की क्रान्तियों की बात सुन चुका है। उसके पास जो पत्र आता है, "उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों ही का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं।" बल्गारिया में राजा को गद्दी से उतार दिया गया है और "अब किसानों और मजूरों की पंचायत राज करती है।"

प्रेमचन्द-साहित्य को पढ़ने से ऐसा लग सकता है कि हिन्दी लेखकों में प्रेमचन्द एक अपवाद थे जो रूसी क्रान्ति और समाजवाद के बारे में सोचते थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर लेने के लिये सन्नद्ध भारत देश की जागरूक जनता और उसके लेखक विदेश की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना को बड़े ध्यान से देखते थे। प्रेमचन्द में आरम्भ से ही जो समाजवादी विचारधारा के प्रति झुकाव था, उसे समझने के लिये उस समय के कुछ अन्य लेखकों के विचार उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

फरवरी १९१७ में रूस की जनता ने ज़ारशाही के विरुद्ध क्रान्ति की;

अप्रैल १६१७ की "मर्यादा" में उस पर एक विस्तृत सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ। इस सम्पादकीय में कहा गया है ["मर्यादा" के सम्पादक श्री कृष्णकान्त मालवीय थे], "हम संसार को और विशेष कर रूस जाति को प्रजाशक्ति की विजय पर बधाई देते हैं। रूस जाति तो इस परिवर्तन का फल चक्खेगी ही किन्तु उसके साथ ही साथ संसार के इतिहास और उसमें बसने वाली जातियों पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा? रूस का विप्लव समय की गति का द्योतक है, यह दिखलाता है कि समय की लहर किस ओर और किस उद्देश्य से वह रही है, साथ ही साथ निरंकुश शासकों को यह सन्देश दे रहा है कि चेतो समय तुम्हारे विरुद्ध है, विवेक, मानवी सभ्यता, मनुष्योचित अधिकार, स्वतन्त्रता और समता इन सब बातों के विचार के साथ तुम्हारी स्थिति असंगत है और विरोधाभास के अलंकार सदृश है।" साम्राज्यवादी लेखक जन-क्रान्तियों को मुट्ठी भर लोगों का षड्यन्त्र कहा करते हैं। इसके विपरीत "मर्यादा" ने लिखा, "अन्याय और अत्याचार बढ़ा, प्रजा के प्रतिनिधि दबाये गये और फलस्वरूप विप्लव हो गया। प्रजा, फौज और नौ-सेना वाले सब एक हो गये, सरकारी महलों पर कब्जा किया गया, देशभक्त जो जेलों में सड़ रहे थे, इज्जत के साथ लाये गये। जेलखानों के द्वार खोल दिये गये; ज़ार सकुटुम्ब अलग किये गये, प्रजातन्त्र स्थापित हो गया और इस तरह से अन्याय, अत्याचार और निरंकुश शासन के संसार से विदा होने की दुंदुभी बजाई गई।" भारत के लिए क्रान्ति की शिक्षा यह थी, "जो लोग कहते हैं कि भारत में शिक्षा नहीं, यहाँ प्रत्येक मनुष्य इस योग्य नहीं कि उसे वोट देने का, शासन में भाग लेने का अधिकार दिया जाय, ज़रा रूस की दशा देखें और आँख खोलें। हमारे जो अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ और यूरोपीय कूटनीतिज्ञ यह कहा करते थे कि रूस अधिकतर पूर्वीय है, वहाँ के लिये स्वेच्छाचार और निरंकुश-शासन ही उपयुक्त है, वहाँ प्रजासत्तात्मक राज्य की स्थापना स्वप्न मात्र है, आज प्रजा की शक्ति के महत्व को भी देख लें।" जो निरंकुश शासक प्रजा की आवाज़ नहीं सुनते, उन्हें "आज नहीं तो कल कुत्ते की मौत मरना होगा।" प्रजा के लिये अटल सिद्धान्त यह है कि "अत्याचार स्थायी नहीं हो सकता, संसार में सर्वश्रेष्ठ शक्ति प्रजा के हाथ में है और

अन्त में उसी की विजय होगी।" लेख के अन्त में कहा गया है कि रूस में "सार्वजनिक प्रकाश और स्वतन्त्रता का बालसूर्य उदित हुआ है, हम इसका स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि संसार के घोर अन्धकार को यह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न करेगा।" यह बालसूर्य नवम्बर १९१७ में समाजवादी क्रान्ति के बाद और भी प्रखर हो गया। प्रेमचन्द ने प्रायः "मर्यादा" की शब्दावली में, १९३६ के अपने प्रसिद्ध लेख "महाजनी सभ्यता" में लिखा था, "अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है।" इस सभ्यता के विरुद्ध धुँआधार पूँजीवादी प्रचार होता है "पर सचाई है, जो इस सारे अन्धकार को चीरकर अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।"

नवम्बर १९१८ की "मर्यादा" में "युद्ध और शान्ति" की समस्या पर सम्पादकीय लेख छपा है जिसमें इस समस्या पर गरीब जनता के दृष्टिकोण से विचार किया गया है। जागरूक हिन्दी लेखक के लिये न्याय, अन्याय, युद्ध, शान्ति आदि शब्द वर्गों से परे किसी आध्यात्मिक सत्य या लोकोत्तर नैतिकता के द्योतक नहीं हैं। इन प्रश्नों पर वह गरीब अमीर के दो दृष्टि-कोणों का भेद समझ गया है। "गरीब कह रहे हैं कि राष्ट्रों की कूटनीति की सफलता के लिए, या महाराजाओं और श्रीमानों की श्रीवृद्धि के लिये हम अपना खून न बहावेंगे। वे कह रहे हैं कि पेट की ज्वाला बुझाने को सेना में हम नौकरी करते थे, अपनी गरीबी के कारण अपने भाइयों की हम हत्या करते थे, पेट के कारण हम अपने दयालु पिता के पुत्रों का—अपने भाइयों का हनन करते थे। भविष्य में हम ऐसा न करेंगे और न किसी को करने देंगे। ऐसा करना असम्भव हो जाय इसलिए वे चाहते हैं कि संसार से गरीबी उठ जाय, कोई इतना अमीर न हो कि अपने अमीरी के बोझ से वह किसी को अपनी इच्छा के अनुसार चलने पर विवश कर सके, साथ ही कोई ऐसा शक्तिशाली न हो कि केवल पाशविक शक्ति से वह किसी को दबा सके। वे कहते हैं कि भूमि सरकार की अर्थात् प्रजा समुदाय की होनी चाहिये, अर्थात् कोई ज़मींदार न हो, गरीब से गरीब मनुष्य के रहने के लिये भी गृह स्वच्छ, सुथरा, हवादार और वाटिकायुक्त होना चाहिए। बीमारी तथा बुढ़ापे के

लिये सरकार की ओर से प्रबन्ध होना चाहिए।" यह सब पढ़ने के बाद किसी को आश्चर्य न होना चाहिये कि प्रेमाश्रम का बलराज जमींदार की निरंकुशता का विरोध करने उठ खड़ा होता है और अपने समर्थन में रूसी क्रान्ति का हवाला देता है।

न इस बात पर आश्चर्य होना चाहिये कि जब मुंशी दयानारायण निगम ने प्रेमचन्द को एक युद्ध-सम्बन्धी सरकारी अखबार के सम्पादक की जगह दिलाने के बारे में लिखा तो प्रेमचन्द ने उन्हें ६ जुलाई १६१८ को उत्तर दिया, "अब मैं सरकारी अखबारनवीस क्या बनूँगा।" यदि बनेंगे तो "अखबार मज़दूरों-किसानों का हामी और मुआविन होगा।" २१ दिसम्बर १६१८ [या १६] के पत्र में मुंशी दयानारायण निगम के पत्र "ज़माना" की नर्म राजनीति से मतभेद प्रकट करते हुए उन्होंने मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की आलोचना की और लिखा कि सुधारों में "अगर कोई खूबी है तो सिर्फ यह कि तालीमयाफ्ता जमात को कुछ आसानियाँ ज्यादा मिल जायँगी और जिस तरह यह जमात वकील बनकर रिआया का खून पी रही है उसी तरह आइन्दा यह हाकिम होकर रिआया का गला काटेगी। इसके सिवा और कोई जदीद अख्तियार नहीं दिया गया। जो अख्तियारात दिये गये हैं इतनी शर्तें लगा दी गई हैं कि उनका देना न देना बराबर हो गया है। ऐसी हालत में मैं 'ज़माना' में क्या लिखूँगा। मैं अब क़रीब-क़रीब बाल्शेविस्ट उसूलों का क़ायल हो गया हूँ। आपकी क्या राय है?"*

प्रेमचन्द का मानवतावाद उन्नीसवीं सदी के अनेक साहित्यकारों के मानवतावाद से भिन्न था। वह तोल्स्तोय जैसे महान लेखकों के मानवतावाद से भी भिन्न था। वह समाजवादी क्रान्ति के बाद का मानवतावाद था; वह राजनीति और संस्कृति की समस्याओं को गरीब जनता के दृष्टिकोण से देखने-परखने और हल करने का आदी था। धार्मिक संकीर्णता उससे दूर थी। इसके विपरीत विभिन्न मत-मतान्तरों की सहायता से धनी वर्ग द्वारा

---

* प्रेमचन्द के इन दो पत्रों के उद्धरणों के लिये हम श्री अमृतराय के आभारी हैं।

जनता के शोषण की वास्तविकता की आलोचना करते हुए भी वह जनता की धार्मिक भावनाओं को सहानुभूति से देखता था। प्रेमचन्द के युग के अनेक लेखक समाजवादी विचारधारा से प्रभावित थे लेकिन प्रेमचन्द के समान किसी ने ऐसी दृढ़ता से, इतनी लम्बी अवधि तक और इतने सुसंगत रूप से पीड़ित मानवता का पक्ष नहीं लिया जैसे प्रेमचन्द ने। यह उनका युगान्तरकारी महत्व है—हिन्दी साहित्य के लिये, भारतीय साहित्य के लिये।

आज के अनेक प्रसिद्ध लेखक झकोले खा रहे हैं, आस्था-अनास्था की समस्याओं से व्यथित हो उठते हैं, प्रत्येक राजनीतिक पार्टी से विश्वास उठ जाने की बातें करते हैं। ये सब पार्टियाँ जनता से उत्पन्न होती हैं, उसकी सेवा के बल पर जीती हैं, यदि वे जनता के लिये ऐतिहासिक रूप से अनावश्यक हो जाती हैं तो उनकी चमक-दमक, रोबदाब अस्थायी ही सिद्ध होते हैं। यदि लेखक को इस जनता में आस्था हो, वह उसके साथ आगे बढ़ने को तैयार हो तो उसका झकोले खाना बन्द हो जाय। कभी-कभी प्रेमचन्द के मानवतावाद का स्तर न समझ कर अपने साथ हम उन्हें भी झकोले खाता हुआ देखने लगते हैं। हमें अपने से प्रश्न करना चाहिये—क्या हमने निर्धन और पीड़ित जनता के पक्ष को प्रेमचन्द के समान दृढ़ता से अपनाया है? क्या हम उनके समान धैर्य, लगन, निःस्वार्थ भाव से यह सेवाव्रत निबाहने को तत्पर हैं? प्रेमचन्द की परम्परा में अनेक लेखक हैं लेकिन उन जैसा असंदिग्ध विवेक, अटूट सहानुभूति और अमोघ शब्द-शक्ति का लेखक दूसरा नहीं है। वे "आज भी हमारे गुरु हैं" और शायद कल भी रहेंगे।

प्रेमचन्द की परम्परा और आंचलिकता

"मैला आँचल" के आवरण पृष्ठ पर एक आलोचक की सम्मति छपी है : "प्रेमचन्द की परम्परा में दशकों बाद यह पहला उपन्यास लिखा गया है।"

प्रेमचन्द की परम्परा ? इधर हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की काफ़ी चर्चा हुई है और इस आंचलिकता से "मैला आँचल" का सम्बन्ध विशेष रूप से जोड़ा गया है। प्रेमचन्द की परम्परा से इस आचलिकता का क्या सम्बन्ध है ?

प्रेमचन्द ने बनारस जिले के गाँवों को लेकर ढेरों कहानियाँ और उपन्यास लिखे। फिर भी उनकी रचनाएँ पढ़ने पर सहसा यह बोध नहीं होता कि हम हिन्दी-भाषी प्रदेश के किसी अंचल विशेष के बारे में ही पढ़ रहे हैं। उनके पात्रों में आंचलिकता से अधिक हिन्दुस्तानीपन अथवा हिन्दीपन है। विभिन्न अंचलों के पाठकों को लगता है कि प्रेमचन्द ने उन्हीं के यहाँ के किसानों के बारे में लिखा है। उनकी बोली-बानी में इतना ही भदेसपन रहता है कि वे शहर के न लगें किन्तु विभिन्न बोलियों के आधार पर किसानों का विभाजन या लोकसंस्कृति का चित्रण करने का प्रयत्न प्रेमचन्द में नहीं है। विषयवस्तु और चित्रण के इस साधारणीकरण द्वारा प्रेमचन्द एक विशाल पाठकवर्ग को अपना सके; आंचलिकता के साथ जो अटपटापन लगा हुआ है, वह उनमें नहीं है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं में आंचलिकता का पुट अधिक है। जहाँ-तहाँ बुन्देलखंडी बोली का प्रयोग, और अधिकांश कृतियों में लोकसंस्कृति की पृष्ठभूमि से उनके उपन्यास सजीव बन गये हैं। किन्तु उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि इस पृष्ठभूमि के भार से पात्र दब कर निर्जीव न हो जायँ। साधारणीकरण का गुण यथेष्ट मात्रा में विद्यमान रहता है।

श्री अमृतलाल नागर ने "नवाबी मसनद" में लखनऊ के एक वर्ग-

विशेष की बोली, "सेठ बाँकेमल" में आगरे की—अथवा इस शहर में अपनी ससुराल के मुहल्ले की—बोली का उपयोग करके हास्यरस की श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। "बूँद और समुद्र" में शहर लखनऊ, मोहल्ला चौक के गली-कूचों की खाक छानकर महिला-समाज की बोलियों के वह सरस नमूने पेश किये हैं कि अवध की बेगमात की बोली भी मात हो गई है। नागर जी के उपन्यासों में—विशेष कर 'बूँद और समुद्र' में—सामन्ती समाज-व्यवस्था के विघटन का मार्मिक चित्र मिलता है। विभिन्न अंचलों के पाठकों को अपने प्रतिबिम्ब भी वहाँ देखने को मिलते हैं। मिथिला के पिछड़े हुए सामन्ती समाज, उसकी घुटन, जनता का संघर्ष और उसकी नयी चेतना—इस सब का चित्रण नागार्जुन ने 'बलचनमा' तथा अन्य उपन्यासों में किया। 'बल-चनमा' में नागार्जुन ने एक नयी शैली का प्रयोग किया। कथानायक अपनी मैथिल-प्रभावित खड़ीबोली में ही सारी कथा कहता है। इस नवीनता के साथ बलचनमा का चरित्र खूब उभरकर सामने आता है। भाषा की असाधारणता चित्रण को कमजोर नहीं करती।

"मैला आँचल" की भाषा-शैली मूलतः "बलचनमा" की शैली है। कुछ अंशों को छोड़ कर लेखक भी अपने पात्रों की तरह बोलता है और व्या-करण-सम्बन्धी भूलें करता है (यह कहना कठिन है कि जानबूझ कर या असावधानी से)। 'मैला आँचल' में नयी चीज है, लोकसंस्कृति का वर्णन। लोकगीतों और लोकनृत्यों के वर्णन द्वारा लेखक ने एक अंचल विशेष की संस्कृति का चित्र अंकित किया है। इसके साथ कथा कहने की उसकी नयी पद्धति है। वह सिनेमा के चित्रों के समान बहुत से शॉट इकट्ठे कर देता है, ये शॉट एक दूसरे से कितने विच्छिन्न हैं, इसका ध्यान नहीं रखता, एक ही अध्याय में तीन-चार बार "कट" लगा कर पाठक को चौंधिया देता है। नतीजा यह है कि चलचित्र में जो सम्बद्धता होती है, उसका यहाँ अभाव है। उसकी चित्रण-पद्धति यथार्थवाद से अधिक प्रकृतवाद के निकट है। गति-शील यथार्थ में कौन से तत्व अधिक प्रगतिशील हैं, कौन से मरणशील, किन पर व्यंग्य करना चाहिये, किन का चित्रण अधिक सहानुभूति से करना चाहिये, वातावरण, घटनाओं आदि के चित्रण और वर्णन में कितनी बातें

प्रेमचन्द की परम्परा और आंचलिकता

"मैला आँचल" के आवरण पृष्ठ पर एक आलोचक की सम्मति छपी है : "प्रेमचन्द की परम्परा में दशकों बाद यह पहला उपन्यास लिखा गया है।"

प्रेमचन्द की परम्परा ? इधर हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की काफ़ी चर्चा हुई है और इस आंचलिकता से "मैला आँचल" का सम्बन्ध विशेष रूप से जोड़ा गया है। प्रेमचन्द की परम्परा से इस आचलिकता का क्या सम्बन्ध है ?

प्रेमचन्द ने बनारस जिले के गाँवों को लेकर ढेरों कहानियाँ और उपन्यास लिखे। फिर भी उनकी रचनाएँ पढ़ने पर सहसा यह बोध नहीं होता कि हम हिन्दी-भाषी प्रदेश के किसी अंचल विशेष के बारे में ही पढ़ रहे हैं। उनके पात्रों में आंचलिकता से अधिक हिन्दुस्तानीपन अथवा हिन्दीपन है। विभिन्न अंचलों के पाठकों को लगता है कि प्रेमचन्द ने उन्हीं के यहाँ के किसानों के बारे में लिखा है। उनकी बोली-बानी में इतना ही भदेसपन रहता है कि वे शहर के न लगें किन्तु विभिन्न बोलियों के आधार पर किसानों का विभाजन या लोकसंस्कृति का चित्रण करने का प्रयत्न प्रेमचन्द में नहीं है। विषयवस्तु और चित्रण के इस साधारणीकरण द्वारा प्रेमचन्द एक विशाल पाठकवर्ग को अपना सके; आंचलिकता के साथ जो अटपटापन लगा हुआ है, वह उनमें नहीं है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं में आंचलिकता का पुट अधिक है। जहाँ-तहाँ बुन्देलखंडी बोली का प्रयोग, और अधिकांश कृतियों में लोकसंस्कृति की पृष्ठभूमि से उनके उपन्यास सजीव बन गये हैं। किन्तु उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि इस पृष्ठभूमि के भार से पात्र दब कर निर्जीव न हो जायँ। साधारणीकरण का गुण यथेष्ट मात्रा में विद्यमान रहता है।

श्री अमृतलाल नागर ने "नवाबी मसनद" में लखनऊ के एक वर्ग-

विशेष की बोली, "सेठ बाँकेमल" में आगरे की—अथवा इस शहर में अपनी ससुराल के मुहल्ले की—बोली का उपयोग करके हास्यरस की श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। "बूँद और समुद्र" में शहर लखनऊ, मोहल्ला चौक के गली-कूचों की खाक छानकर महिला-समाज की बोलियों के वह सरस नमूने पेश किये हैं कि अवध की बेगमात की बोली भी मात हो गई है। नागर जी के उपन्यासों में—विशेष कर 'बूँद और समुद्र' में—सामन्ती समाज-व्यवस्था के विघटन का मार्मिक चित्र मिलता है। विभिन्न अंचलों के पाठकों को अपने प्रतिबिम्ब भी वहाँ देखने को मिलते हैं। मिथिला के पिछड़े हुए सामन्ती समाज, उसकी घुटन, जनता का संघर्ष और उसकी नयी चेतना—इस सब का चित्रण नागार्जुन ने 'बलचनमा' तथा अन्य उपन्यासों में किया। 'बलचनमा' में नागार्जुन ने एक नयी शैली का प्रयोग किया। कथानायक अपनी मैथिल-प्रभावित खड़ीबोली में ही सारी कथा कहता है। इस नवीनता के साथ बलचनमा का चरित्र खूब उभरकर सामने आता है। भाषा की असाधारणता चित्रण को कमजोर नहीं करती।

"मैला आँचल" की भाषा-शैली मूलतः "बलचनमा" की शैली है। कुछ अंशों को छोड़ कर लेखक भी अपने पात्रों की तरह बोलता है और व्याकरण-सम्बन्धी भूलें करता है (यह कहना कठिन है कि जानबूझ कर या असावधानी से)। 'मैला आँचल' में नयी चीज है, लोकसंस्कृति का वर्णन। लोकगीतों और लोकनृत्यों के वर्णन द्वारा लेखक ने एक अंचल विशेष की संस्कृति का चित्र अंकित किया है। इसके साथ कथा कहने की उसकी नयी पद्धति है। वह सिनेमा के चित्रों के समान बहुत से शॉट इकट्ठे कर देता है, ये शॉट एक दूसरे से कितने विच्छिन्न हैं, इसका ध्यान नहीं रखता, एक ही अध्याय में तीन-चार बार "कट" लगा कर पाठक को चौंधिया देता है। नतीजा यह है कि चलचित्र में जो सम्बद्धता होती है, उसका यहाँ अभाव है। उसकी चित्रण-पद्धति यथार्थवाद से अधिक प्रकृतवाद के निकट है। गतिशील यथार्थ में कौन से तत्व अधिक प्रगतिशील हैं, कौन से मरणशील, किन पर व्यंग्य करना चाहिये, किन का चित्रण अधिक सहानुभूति से करना चाहिये, वातावरण, घटनाओं आदि के चित्रण और वर्णन में कितनी बातें

छोड़ देनी चाहिये और कितनी का उल्लेख होना चाहिये—कथाशिल्प की इन विशेषताओं में "मैला आँचल" का लेखक प्रेमचन्द की परम्परा से दूर जा पड़ा है।

फिर भी "मैला आँचल" का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो उसे प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ता है। बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गाँवों के वर्ग-संघर्ष, वर्ग-शोषण और वर्ग-अत्याचारों का ऐसा जीता-जागता चित्रण मिलेगा। यह उसका सबल पक्ष है। कमजोरियों पर ध्यान केन्द्रित कर के उसके इस गुण को भुला देना उचित न होगा।

मैला आँचल की वन्ध्या धरती नयी सृष्टि के लिए तरसती है, उसी तरह यहाँ का सड़ा-गला समाज आमूल परिवर्तन की बाट जोह रहा है। मठ के महन्त जी अंधे थे। मठ में अबोध बालिका लक्ष्मी को दासिन बना कर रखा था। "कहाँ वह बच्ची और कहाँ पचास बरस बूढ़ा गिद्ध? रोज रात में लछमी रोती थी। ऐसा रोना कि जिसे सुनकर पत्थर भी पिघल जाये।" ये मठ दास-प्रथा के क्रूर और हिंसक रूप के रक्षक हैं। मठों के साथ बँधुए के समान नर-नारी भी एक मालिक छोड़ कर दूसरे के पास पहुँच जाते हैं। एक महंत की दलील है, "लछमी का बाप जिस मठ का सेवक था वह मेरीगंज मठ के अधीन है, इसलिए लछमी पर हमारा अधिकार है।" दासों की दशा दासियों से ज्यादा अच्छी नहीं है। बालदेव मालिक की भैंस चराता था। रात को उसकी देह दबाता था। जरा सी नींद आने पर मार खाता था। रात बीतने के पहले ही फिर भैंस चराने के लिए जगा दिया जाता था। "गोदान" के किसानों की तरह "मैला आँचल" के किसान भी जमींदार और महाजन की मार से पीड़ित हैं। "दो महीने की कटनी, एक महीना मड़नी, फिर साल भर की खटनी। दबनी मड़नी करके जमा करो, साल भर के खाये हुए कर्ज़ का हिसाब करके चुकाओ। बाकी यदि रह जाये तो फिर सादा कागज पर अँगूठे की टीप लगाओ। सफाई करनी है सो बैल गाय भरना रखो या हल-वाहा चरवाहा दो। फिर कर्ज़ खाओ।"

अनाज की कीमत बढ़ती है किन्तु इससे साधारण किसानों को लाभ नहीं होता। "छोटे-छोटे किसानों की जमीनें कौड़ी के मोल बिक रही हैं।"

मजदूरों की मजदूरी बढ़ गई है लेकिन महँगाई उससे ज्यादा बढ़ी है, इसलिये किसी मजदूर का पेट नहीं भरता। मज़दूरों के टोले इस तरह बसे हुए हैं कि धनी किसानों ने एक-एक टोले पर अधिकार कर रखा है और मजदूर दासों की तरह उनका काम करते हैं। किसी सरकारी अफसर के यहाँ काम करते हैं तो मजदूरी पाने का सवाल ही नहीं उठता। एक तहसीलदार ने गढ़े में जोंक पाल रखे थे। "जिसने तहर्रार, तलबाना या नजराना देने में देर की उसे गड्ढे में चार घंटों तक खड़ा करवा दिया। पाँव के अँगूठे से लेकर जाँघ तक मोटे-मोटे जोंक घुँघरू की तरह लटक जाते थे।" भूख, गरीबी, बीमारी और अन्धविश्वासों से पीड़ित इस मानवता को देख कर जो क्रान्तिकारी नहीं है, वह भी क्रांति की बातें करने लगता है। इस अञ्चल में डा० प्रशान्त रोगों की छानबीन करने आया है। चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा करता है। उसने अपने अनुभवों से जनता का रोग पहचान लिया है।

"गरीबी और जेहालत—इस रोग के दो कीटाणु।"

इस रोग का निदान? "दरार पड़ी दीवार! यह गिरेगी। इसे गिरने दो! यह समाज कब तक टिका रह सकेगा?" डाक्टर प्रशान्त को श्री हंस-कुमार तिवारी की दो पंक्तियाँ भी याद आ जाती हैं:

"दुनिया फूस बटोर चुकी है,
मैं दो चिनगारी दे दूँगा।"

वह क्रान्ति का भव्य चित्र देखता है, "गुलमुहर—आग का फूल! सारी कुरूपता जल रही है! लाल! लाल!..." डाक्टर क्रान्ति करता है। जिस कमला का इलाज करता है, उसे पुत्रवती बनाने के बाद उसका वरण करता है। यह भी साहस का काम है और उससे कई पृष्ठों में गद्यकाव्य की सृष्टि होती है। किन्तु इससे गरीबी और जहालत के कीटाणुओं का नाश नहीं होता।

गरीबी और जहालत के पुराने रक्षकों के अलावा जनता के नये शोषक उत्पन्न हो रहे हैं। प्रशान्त की प्रेमिका कमला के पिता तहसीलदार किसानों को लड़वाने और उनकी जमीन हड़पने में उस्ताद हैं। संथालों से गाँव के किसानों को उन्होंने किस तरह लड़ाया है, जातीय विद्वेष, कौमी नफरत को

जमींदार कैसे अपने हित में इस्तेमाल करते हैं, इसका भरापूरा चित्र लेखक ने खींचा है। अंग्रेजों के वारफंड में तहसीलदार ने रुपया दिया, उनके भले बने रहे। काँग्रेस की सहायता भी की और उसके नेता बन गये। किसानों को मुकदमे में फँसाया और उन्हें कर्जदार बनाया।

"चारों ओर तहसीलदार साहब की जमीन!...दक्खिन में संथालों की जमीन दखल करने के बाद पिपरा गाँव तक तहसीलदार के पेट में चला आया है।' लेकिन -इस तहसीलदार के विरुद्ध जनता संघर्ष नहीं करती। संघर्ष क्या करे, लेखक की दृष्टि में वह इतनी मूर्ख है कि तहसीलदार के दाँवपेंच समझ भी नहीं पाती। राजनीतिक पार्टियों में सब नेता स्वार्थी हैं, इसलिये जनता का नेतृत्व कौन करे? फिर भी मैला आँचल धुलकर स्वच्छ हो जाता है। एक दिन अकस्मात् तहसीलदार का हृदय-परिवर्तन हो जाता है। हर परिवार को पाँच बीघे जमीन मिल जायगी। संथालों को भी जमीन मिल जायगी। इस हृदय-परिवर्तन के लिए किसी सर्वोदयवादी ने प्रयत्न नहीं किया, स्वयं तहसीलदार ने भी नहीं। पीते काफी थे; जैसे अचानक नशे में ज्ञाननेत्र खुल गये हों!

"तहसीलदार साहब बहुत देर तक अपने कमरे में चुपचाप बैठकर कुछ सोचते हैं। फिर बाहर आकर कहते हैं, सुमरितदास! लोगों से कह दो। हरेक परिवार को पाँच बीघा के दर से मैं जमीन लौटा दूँगा। साँझ पड़ते-पड़ते मैं सब कागज-पत्तर ठीक कर लेता हूँ। और संथाल टोली में जाकर कहो, वे लोग भी आकर रसीद ले जायें! एक पैसा सलामी या नजराना, कुछ भी नहीं!" हाँ, तहसीलदार की लड़की कमला के लड़का अवश्य हुआ है। शायद नाती होने की खुशी में उन्होंने जमीदारी-प्रथा खत्म करने का फैसला कर लिया हो!

दुष्ट जमीदार या मिल-मालिक; उसकी खूबसूरत कोमल हृदय वाली लड़की, जमीदार या पूँजीपति के विरोधी युवक नेता से उस खूबसूरत लड़की का प्रेम, पिता का क्रोध, फिर हृदय-परिवर्तन और दोनों का विवाह—पुराने फिल्मों और उपन्यासों के कथानक से काफी मिलती-जुलती यह तहसीलदार की हृदय-परिवर्तन-गाथा है।

जनता क्या है? गुलाम, भेड़, अन्धविश्वासी, कायर। यह सुनकर कि फरारी सुराजी को पकड़वाने से इनाम मिलता है, लोग बालदेव को रस्सियों से बाँधकर ले चलते हैं। अँग्रेजों ने बड़े अत्याचार किये लेकिन गाँव के नौजवानों को अभिमान है कि "हमारे गाँव के पास साहब की कोठी थी।" दूल्हा अपनी दुलहिन को कोठी की जगह दिखलाता है और उसका "चेहरा गर्व से भर जाता है।" पंचायत में बैठे हुए लोग हाथ उठाते हैं। लेखक को लगता है, "गुमसुम बैठे हुए सैकड़ों मूक जानवरों के सिर में मानों 'अरना भैंसा' के सींग जम गये। सैकड़ों हाथ उठ गये।" जनता पशुओं के समान है। डॉक्टर प्रशान्त सोचता है, "पशु से भी सीधे हैं ये इन्सान। पशु से भी ज्यादा खूंखार हैं ये।" जनता लाचार है! डाक्टर उसे बचाना चाहता है! कम्युनिस्ट होने का आरोप लगाकर पुलिस उसे पकड़ ले जाती है। किन्तु उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। "नहीं, वह राजनीति में नहीं जायगा। वह राजनीति के काबिल नहीं। एक बार ममता ने बात करते हुए राजनीति की तुलना डाइन से की थी।" बावनदास कहते हैं, "सब पाटी समान। उस पाटी में भी जितने बड़े लोग हैं, मन्तरी बनने के लिये मार कर रहे हैं।" उस पाटी से मतलब है, सोशलिस्ट पार्टी। बावनदास के अनुसार उसमें "जैपरगास" बाबू अवश्य ईमानदार हैं। बाकी जो देश का काम या मजदूरों का काम करते हैं, वह स्वार्थ से। बावनदास अन्याय का मुकाबला करता हुआ अकेला शहीद हो जाता है। जनता को संगठित करके कोई कदम उठाया जा सकता है, इस का ज्ञान या इस पर विश्वास उसे भी नहीं है।

"मैला आँचल" के लेखक का दृष्टिकोण यह है: समाज में अन्याय है, अन्ध विश्वास है, रचनात्मक कार्य के लिए विशाल क्षेत्र पड़ा हुआ है लेकिन प्रगति चमत्कार से ही सम्भव है, जनता या राजनीतिक पार्टियों के किए कुछ नहीं हो सकता। वह गांधीवादी बालदेव के व्याख्यानों का मजाक उड़ाता है। "पियारे भाइयो! आप लोग जो 'अन्डोलन' किये हैं, यह अच्छा नहीं।" मानो कोई ऐंग्लोइण्डियन पत्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की रिपोर्ट लिख रहा हो। "गाँव भर के लौंडे" झण्डा लेकर "इनकिलास जिन्दा बाघ" बोलते

हुए घूमते हैं। दारोगा के आते ही "गाँव के सभी जिन्दा बाघ माद में घुस गये।" मानो पुलिस अफ्सर डायरी लिख रहा हो! मंच पर कोई भगतसिंह का अभिनय करता है और बम वाला हाथ आगे बढ़ाता है तो "आगे में बैठे सभी लोग जरा करवट होकर एक दूसरे की पीठ के पीछे मुँह छिपा लेते हैं।" ऐसे डरपोक हैं पूर्णिया के किसान! फिर आस्था किस में? जमीदार के हृदय में—कि यह बदल जायगा; ऐसे चमत्कारों में, जो जनता की राजनीतिक कार्यवाही के बिना उसका भाग्य पलट देंगे।

यदि लेखक के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर आस्था के प्रश्न का उत्तर दिया जाय, तो कहना पड़ेगा की जनता और उसकी राजनीतिक कार्यवाही में उसकी आस्था नहीं है। उसे लोकसंस्कृति प्रिय है किन्तु इस संस्कृति के रचने वालों में उसे कहीं प्रकाश की किरणें नहीं दिखाई देतीं। उसे आंचल की मिट्टी से प्रेम है। किन्तु उस मिट्टी में मरने-खपने वाले उसे पशु से भी सीधे और पशु से भी ज्यादा खूंखार दिखाई देते हैं।

लेखक के इस दृष्टिकोण के बावजूद सामन्ती उत्पीड़न के विरुद्ध बढ़ने वाली जनता का एक धुंधला चित्र इस उपन्यास में देखने को मिलता है। पहले लोग तहसीलदार के डर से काँपते थे। लेकिन अब? "जमाना बदला ही नहीं, साफ उलट गया है।" उसे किसने उलटा? या अपने आप उलट गया? जमाना बदलने वाली जनता ही थी जिसके संघर्ष को लेखक साफ-साफ देख नहीं सका है। गाँव में अब नये नारे सुनाई देने लगे हैं—

कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो।
किसान राज : कायम हो।
मजदूर राज : कायम हो।

इस तरह के नारे लगानेवाले कालीचरन जैसे लोग हैं जो किसानों के ही बेटे हैं। संथालों ने भी सुना है, "जमीन जोतने वालों की।" लेखक ने संथालों की स्वच्छता, नृत्यकला और वीरता का सुन्दर वर्णन किया है। वे भी भारतीय जनता के अंग हैं। यह असंभव है कि वे जमीन पाने के लिये जमींदार के हृदय-परिवर्तन की ही राह देखते रहें। होली में गाँव के ही लोग राजनीतिक गीत रचकर गाते हैं:

चर्खा काटो, खद्दड़ पहनो, रहे हाथ में झोली
दिन दहाड़े करो डकैती बोल सुराजी बोली—जोगी
सर र र र !

इन गीतों से यह तो नहीं मालूम पड़ता कि इस जनता को हमेशा ठगा ही जा सकता है। मठ में एक नागा बाबा आये। लछमी को खूब गालियाँ सुनाईं। भावी महंत को खड़ाउवों से पीटा। रात को लछमी की कोठरी को ओर भी जाते हैं। बालदेव लछमी की सहायता नहीं करते। लेकिन कालीचरन विरोध करता है। नागा उसे गाली देता है तो कामरेड बासुदेव उछल कर डाटता है, "चुप रह बदमास !" "नागा बाबा दाढ़ी छुड़ाते हैं, जटा छुड़ाते हैं, थप्पड़ों की मार से आँखों के आगे जुगनू उड़ते नजर आ रहे हैं। गाँजे का नशा उतर गया है। आखिर, दाढ़ी और जटा नोंचवा कर, कुल्हाड़ा छोड़कर ही भागते हैं।" जमाना उलट गया है। किसी ने सुना था, मठ में ही संतों पर हाथ पड़े हों ? लोग अब व्यभिचार और अनाचार को तरह देने के लिये तैयार नहीं हैं। नये महन्त जी जब लछमी से कहते हैं, "नये महंत की दासी बनकर तुम्हें रहना होगा। तू मेरी दासिन है।" तब "चुप कुत्ता !" कहते हुए "लछमी हाथ छुड़ाकर रामदास के मुँह पर जोर से थप्पड़ लगाती है ! दोनों पाँवों को जरा मोड़कर, पूरी ताकत लगाकर रामदास की छाती पर मारती है। रामदास उलट कर गिर पड़ता है।....सतगुरू हो !" दासदासी बगावत कर रहे हैं। तिब्बत में लामाओं के विरुद्ध नहीं, हिमालय के इसी पार बिहार के महंतों के विरुद्ध।

गाँव के लोग अशिक्षित हैं किन्तु उनमें शिक्षित पैदा हो रहे हैं। उनमें जातिवाद का जोर है किन्तु मानवता के धरातल पर एक दूसरे की सहायता करने वाले भी हैं। प्रेम और विवाह को लेकर पग-पग पर सामन्ती बन्धन जनता को बाँधते हैं लेकिन इन बंधनों को तोड़ने वाले भी पैदा हो गये हैं। लोग ताड़ी पीते हैं, गाली-गलौज करते हैं लेकिन उनमें होशहवास वाले भी हैं। और "जिन्दाबाद" को ऐसे गाँव में, जहाँ कांग्रेस और राष्ट्रीय स्वयं

सेवक संघ के अलावा वामपंथी पार्टियों के लोग भी हैं, जनता "जिंदा बाघ" समझती है, सरासर झूठ है।

आञ्चलिकता के नाम पर जो कुछ लिखा जाय, वह सभी सच नहीं होता। जनता के अंधविश्वासों को चढ़ा-चढ़ा कर दिखाया गया है, जमींदार के अत्याचारों को कम करके पेश किया गया है, राजनीतिक पार्टियों के दोषों को अतिरंजित और गुणों को नजरन्दाज किया गया है। उपन्यास का पहला हिस्सा आज़ादी मिलने से पहले का है। तब तक सोशलिस्ट काँग्रेस में ही थे। लेकिन उपन्यास में उनका चित्रण इस तरह किया गया है मानो काँग्रेस से उनका कोई सम्बन्ध न हो। देश के आजाद होने से पहले ही (पृ० २३१ पर) यह लिखा मिलता है, "जमींदारी प्रथा खतम हो गई।" उस समय संथालों या गैर-संथालों के ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। उपन्यास का क्षेत्र मिथिला और बंगाल के बीच के प्रदेश का एक गाँव है। यहाँ के लोग मैथिल बोलते हैं या भोजपुरी? "खंजड़ी बजा के गीत गवैछी" से मालूम होता है कि लोगों की भाषा मैथिल है। किन्तु भगवान भगत कहता है, "अरे ई तो दस आदमी के काम बा, जे बा से एकरा में सब के मिल के मतत करे के चाहीं। का हो सीप्रसाद?" भगताइन कहती है, "ई कौन देस के आदमी बा रे दैबा! हुँडार जैसन मुँह बा।" मठ का भंडारी कहता है, "दाल घी से बघारल है।" और लोकगीतो में "चढ़ली जवानी मोरा अंगअंग फड़के से कब होइहैं गवना हमार रे भउजिया।"

अथवा—

"देसवा के खातिर मजरूल हक भइले फकिरवा हो, दीन भैले रजिन्नर परसाद देसवासियो।"

इन उदाहरणों से लगता है कि पूर्णिया का यह भाग मिथिला से अधिक भोजपुरी अंचल के अन्तर्गत है।

"मैला आँचल" और "परती-परिकथा" का अंचल एक है। "मैला आँचल" में हम उस बड़े मैदान के दर्शन करते हैं जो "नैपाल की तराई से शुरू होकर गङ्गाजी के किनारे खत्म हुआ है। लाखों एकड़ जमीन वन्ध्या धरती का विशाल अंचल!" डाक्टर प्रशान्त लिखता है, "लाखों एकड़

वन्ध्या धरती, कोशी कवलित मरी हुई मिट्टी शस्य श्यामला हो उठेगी।" ममता—उपन्यास के अन्त में—देखती है, "विशाल मैदान !....वंध्या धरती !...यही है वह मशहूर मैदान—मैदान से शुरू होकर गङ्गा के किनारे तक—वीरान, धूमिल अंचल।" यद्यपि इस मैदान का बार-बार उल्लेख किया गया है, किन्तु कथावस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। "परती : परिकथा" की परती यही मैदान है। वही अँचल, वैसे ही लोग, वैसी ही बोली-बानी। कथा के समय में लगभग दस वर्ष का अन्तर है। गाँव में आठ ग्रेजुएट, दो एम० ए०, एक शास्त्री (काशी विद्यापीठ), पचास मैट्रिक्युलेट, एक सौ मिडिल पास हैं। सात-आठ हजार की आबादी में इतने लोगों का शिक्षित होना साबित करता है कि गाँव उन्नत है और परती पड़ी हुई धरती के कारण उसकी शिक्षा की प्रगति में कोई विशेष बाधा नहीं पड़ी। वैसे "मैला आँचल" के पिछड़े हुए गाँव में भी कम से कम पोशाक के मामले में पुरुष वर्ग काफी प्रगतिशील था, "कपड़े के बिना सारे गाँव के लोग अर्धनग्न हैं। मर्दों ने पैंट पहनना शुरू कर दिया है····।" जैसे यूरोप की किसी रानी ने कहा था, लोगों को रोटी नहीं मिलती तो केक क्यों नहीं खाते ?

दस साल में इस अंचल के लोगों ने भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी कुछ उन्नति की है। "मैला आँचल" में "गाँव भर के लौंडे....'इनकिलास जिन्दाबाघ' करते हुए" गाँव में घूमते हैं। "परती : परिकथा" में फेंकनी की माँ इनकलाब का अर्थ समझाते हुए ध्वनि-परिवर्तन करके कहती है, "आब ऊ जमाना नहीं है कि बामन-छतरी मनमानी करे और सोलकन्ह लोग—आ कि देखो, छोड़ के बात कहे ! इनकिलाफ तो इनकिलाफ।"

"परती : परिकथा" में "मैला आँचल" के गुण प्रायः लुप्त हो गये हैं और दोषों का पूर्ण विकास हो गया है। अनेक अंशों को पढ़कर लगता है कि लोकगीतों पर लेख लिखा जा रहा है। कथा का सूत्र और भी जल्दी-जल्दी टूटता है। भर्ती के अंश ज्यादा हैं। लेखक सुनता है, देखता है लेकिन अपने इन्द्रियबोध को बुद्धि की सहायता से व्यवस्थित नहीं करता। तरह-तरह की आवाजों की नकल हास्यास्पद हो गई है।

"भट-भट भर्र-र्र-र !!"

"टप्पा-टप्पा-ट : ट : ट : ट : ट : टप्पा-टाट्रिं !...क्रेंक !!"
"धुर्र-धुर्र-धुर्र-धुतु-धुतु-धुतु-तू- उ-उ-उ।……कुँ-हुँ-ऊँ !!"
"ट्रिप-टि-रि-रि-रि…।"
"ईं-हिं-ईं-ईं !! हुँय-हुँय-हुँय-हुँय-हुर्र-र्र-र्र-र्र !!….
धू-धू-धू-धू-धू-धु-र्र-र्र-र्र-र्र-र्र !!….कुँय-कुँय-कुँय-हुँ-हुँ-हुँ-हुँ…!!"

इस तरह की पंक्तियों को एकत्र करके अति प्रयोगवादी कविता का उत्कृष्ट नमूना अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

"परती : परिकथा" में अनेक परिकथाएँ हैं जिनमें हीरो जित्तन की अँग्रेज माँ की कहानी काफी सनसनीखेज़ है। परती में पानी भरे गड्ढों की तरह इस निबन्धमूलक उपन्यास के विवरण-वीरान में यूरोप और भारत के दो प्रेमी जीवों की मर्मगाथा पाठक के लिये मृतसंजीवनी का काम करती है।

उपन्यास में अनेक रेखाचित्र अच्छे हैं किन्तु वे बिखरे हुए हैं। कब कौन सा रेखाचित्र सामने आ जायगा, पाठक कल्पना नहीं कर सकता। पाठक उपन्यास के आरम्भ में ही लुत्तों से परिचित होता है। वह जित्तन का प्रमुख विरोधी और कथा का खल नायक है। लेकिन उसका रेखाचित्र दिया गया है, साढ़े तीन सौ पृष्ठों के बाद !

उपन्यास का हीरो है जित्तन। "जमींदारी खत्म हो गई। सेमल-वनो पर सरकार का कब्जा हो गया है।" फिर भी—"इस गाँव के सामने फैली विशाल परती की डेढ़ हजार बीघे जमीन का मालिक अकेला वही है।" यह परिकथा इसी जमींदार की जमीन की है। जित्तन इस परती को वृक्षों से, खेतों से हराभरा देखना चाहता है। गाँव वाले ऐसे मूर्ख हैं कि उसका व्यर्थ विरोध करते हैं और एक बार उसे ढेले तक मारते हैं। जित्तन बड़ा अकेलापन महसूस करता है। नट-वाला ताजमनी कालीमाई की बड़ी पूजा करती है लेकिन इलियट के वेस्ट लैण्ड के मछुआ राजा की तरह उसका पुरुषत्व सोता ही रहता है। "मैला आँचल" के प्रशान्त की तरह उसका प्रेम सफल नहीं होता। असल में जित्तन अब भी अपनी मां के आँचल से बँधा हुआ है। "श्यामा पूजा के दिन मां की देह से मनोहारी गन्ध निकलती ! रह-रह कर तीव्र हो उटती।…मतवारा करे, आत्महारा मोरे—तोहर ऽ वदन ऽ सुरभि

मागो ! जितेन्द्रनाथ हठात अपनी माँ का आँचल पकड़कर हठ करता—थोड़ी देर आँचल सूँघने दो अपना। माँ !" फ्रायड-चिकित्सालय के आउट-डोर पेशेंट जित्तन को "इलियट की 'कॉकटेल पार्टी' की कुछ पंक्तियाँ स्मरण" हैं और उनके बाग में "एक नयी जाति का नागफणी उग आया है।" "रेयर कैक्टस !" "काली नागफणी"। सभी प्रतीकों से लैस है वेस्टलैंड का विफल-मनोरथ मछुवा राजा। राजनीति के सन्दर्भ में सार्थक बात कहते हैं राजा कामरूप नारायण, "मुझे क्या मालूम कि एक हिंजड़े से मिलने जा रहा हूँ। परती की तरह निपट्ट निकले तुम !" परती बाहर ही नहीं, जित्तन के भीतर भी है। उसकी सिंचाई में सिर्फ तीन सौ रुपये माहवार खर्च होता है—"तीन सौ रुपये प्रति मास शराब के लिए देना पड़ता है, शाह कम्पनी वालों को।"

इलियट की तरह जित्तन भी अपना इलाज न कराके धरती के साथ समाज को भी वीरान समझ बैठता है। "विचारशील नौजवानों के मन में इरावती और जितेन्द्र की बातें घर कर गई हैं।" वे महत्वपूर्ण बातें कौन सी हैं ? "प्राण नहीं, अनुभूति नहीं ? अब मनुष्य को यंत्र चला रहा है। [एक ट्रैक्टर है जित्तन के पास; एक मूवी कैमरा और टेपरेकार्डर उसके दो मित्रों के पास। यदि ये तीनों अपने मालिकों को चलाते तो कथा का गठन कुछ-कुछ वैसा ही होता जैसा इस परिकथा में है।]···टेकनॉलोजी के युग में हम लोग जीवन उपयोग का मूल तकनीक ही खो बैठे हैं ! हज़ारों हजार जनता के बीच भी हरेक आदमी विच्छिन्न है, अकेला है। हँसी-खुशी, उत्तेजना, अवसाद, आनन्द-उल्लास सभी यांत्रिक !" यहाँ तक कि रेणु जैसे कलाकार लोकगीतों और लोकनृत्य का वर्णन करते हैं तो वह भी यांत्रिक लगता है ! इस यांत्रिकता से बचने का उपाय क्या है ? "समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक बनाना ही मुक्ति का एकमात्र पंथ है !"

मानवीय समाज के मुक्ति-पंथी सामाजिक मानव जित्तन की डेढ़ हजार बीघा जमीन का क्या होगा ? इस तरह के प्रश्न अप्रासंगिक हैं। झगड़ा न तो किसान ज़मींदार का है, न मजदूर-पूँजीपति का, झगड़ा है हर आदमी का दूसरे से, अपने से, क्योंकि हरेक आदमी विच्छिन्न है, अकेला है ! डेढ़ हजार बीघे का प्रश्न राजनीतिक है। राजनीति से समाज को न तो मानवीय बनाया

जा सकता है, न मानव को सामाजिक। इरावती को देखिये। देश के बँटवारे के बाद से खानाबदोश है। "बिहार में एक राजनीतिक पार्टी में काम करने लगी।...दस महीने में ही उसने तीन राजनीतिक पार्टियों से अपना रिश्ता जोड़ा और तोड़ा। कहीं भी चैन नहीं! किसी पर विश्वास नहीं!...उसका विश्वासहीन मन धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्व को लील रहा है। कुण्डली मार कर बैठा हुआ साँप।" वैसे सारा दोष राजनीतिक पार्टियों को ही नहीं दिया जा सकता। इरावती ने बहुत प्रयत्न किया कि जित्तन से सम्बन्ध जुड़े किन्तु असफल हुई। जित्तन निकला पूरा कैक्टस। "जितेन्द्र अकेलेपन के अन्धकार से बाहर निकलना चाहता है।" किन्तु अन्धकार दिखाई देता है उसे राजनीति में। "सांस्कृतिक जीवन पर राजनीतिक प्रभाव अवश्य पड़े हैं। किन्तु, उसकी काली प्रतिच्छाया सर्वग्रास नहीं कर सकी है, अभी भी!...जितेन्द्र हिंजड़ा नहीं! [आमीन! आमीन!] वह अपनी शक्ति पर फिर से विश्वास करने लगा है।"

राजनीति की शकल कितनी भद्दी है, मानों यह दिखाने के लिये ही विधाता ने कुबेरसिंह की मुखाकृति रची थी। अवकाश के क्षणों में वह "अपने चेहरे पर जामुन की तरह उभरे व्रणों से रस या कील निकालता!" जम्बूफलधारी आकृति के ये सज्जन कौन हैं? "प्रगतिशील समाजवादी पार्टी का प्रधान संस्थापक श्री कुबेरसिंह!" जम्बूफलों के बावजूद "अनिमा आठवीं लड़की थी जिसको कुबेरसिंह ने प्यार से पुचकार कर लव का सिगनल दिखलाया था।" जितेन्द्र ने नयी पार्टी बनाने में बड़ी मदद दी। लेकिन अपने षड्यंत्र से कुबेरसिंह जित्तन को पार्टी से निकलवा देता है। जहाँ तक कम्युनिस्टों का सम्बन्ध है, वे कुबेरसिंह से बहुत ज्यादा खूबसूरत नहीं हैं। पीताम्बर झा ने अपना नाम रखा है—मकबूल। नुकीली दाढ़ी रखाई है क्योंकि लेनिन के भी ऐसी ही दाढ़ी थी। "मकबूल खुद कैंची रेजर से तराशता है, लेनिन की फोटो सामने रखकर, उससे एकदम मिलाकर।" फैशन में काफी पिछड़ा हुआ है मकबूल। स्तालिन की मूँछों के बदले लेनिन की दाढ़ी की नकल करता है? उर्दू बोलने की धुन में भरसक हर अक्षर के नीचे नुक्ता लगाता है। "क़म्युनिस्ट", 'क़ौन' "लिख़ेगा" यहाँ तक कि "ज़य

ज़नता"। हास्य रस की सृष्टि करने में रेणुजी थोड़ा स्वयं हास्यास्पद हो गये हैं।

जम्बूफल और नुकीली दाढ़ी वाले इन चेहरों से कितना भिन्न है श्री जितेन्द्रनाथ उर्फ जित्तन का मुख-मंडल। इरावती सोचती है, "शक्ति की सुन्दरता से आलोकित मुखमंडल, मानवप्रीति से भरपूर स्वस्थ आत्मा।" उसका विरोधी लुत्तो उसके मुखाकर्पण से डरता है, "जित्तन को एकबार नजदीक से देख लेने के बाद लोगों को न जाने क्या हो जाता है।" राजनीति के लिये उसने क्या-क्या नहीं सहा। "अगस्त आन्दोलन में अंडरग्राउण्ड पार्टियों से नाता जोड़ने की चेष्टा में तीन बार पिस्तौल के मुँह से बचा!··· १६४३ में गिरफ्तार होकर जब जेल गया!····तीन साल तक वह पुराने सेल में पड़ा खाँसता रहा, किसी ने उसकी खोज भी नहीं की!····पाँच वर्षों तक पटने में डटा रहा जितेन्द्र। छद्मनाम से लेख लिखता—राजनीतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक!"

"परती परिकथा" के आवरण पृष्ठ पर रेणुजी के परिचय में लिखा है कि "सोशलिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में" राजनीतिक कार्य किया, फिर बीमार रहे, "१६५३ में आरोग्य लाभ के बाद राजनीति को पूर्ण रूप से तिलांजलि देकर लेखन-कार्य में प्रवृत्त हुए।"

जित्तन गाँव लौट आया लेकिन "गाँव के लोग पहचानते ही नहीं, मानो।" कैसे पहचानें अपने हीरो को? लोग ठहरे कायर, वह ठहरा हीरो! लोगों ने उसका ट्रैक्टर घेरा लेकिन दिलबहादुर के खुकरी निकालते ही "लोग एक दो कर भागने लगे और लुत्तों को भागते देखकर उसकी 'जन्ता' उससे पहले भागकर पाट के खेत में जा छिपी।" जित्तन जंगल लगाता है, परती में वृन्दावन सजा देता है, नाटक की तैयारी करता है लेकिन गाँव के अधिकांश लोग उदासीन, तटस्थ और शंकालु होकर देख रहे हैं कि जित्तन नाटक तमाशा करने जा रहा है। असल में जनता को सुख देने वाले उच्च वर्गों के लोग हैं और मूढ़ जनता इतना भी नहीं जानती कि कौन उसकी भलाई करता है और कौन उसे ठगता है। "बेचारी जनता का क्या दोष? ऊपर से थोपे हुए सुख को वह क्या समझे? मन की परती ज्यों की त्यों पड़ी हुई

है। वीरान होती जा रही है। लगता है मन को छूने वाला मंत्र ही हम भूल गये हैं।" प्रेमचन्द की जनता से यह जनता कितनी भिन्न है? स्वयं अपनी भलाई कर नहीं सकती, दूसरे करें तो उसे पहचानने की बुद्धि भी नहीं है। जित्तन पर लोग ढेले फेंकते हैं लेकिन बहुत जल्दी अपनी गलती महसूस कर लेते हैं। जित्तन नाटक की तैयारी से ही मन की परती को छू लेता है। हरिजन कन्या मलारी के वर्ण-विरोधी प्रेम के कारण लोग नाराज थे लेकिन "मलारी रेवड़ी बाँट रही है। किसी के मन में अभी मैल नहीं। सभी उसके मुँह की ओर देखते हैं।" छित्तन बाबू ने पुस्तकालय की किताबें झाड़ ली थीं, "माफी माँगकर बची-खुची किताबें वापस दे दी हैं।" एक महाशय ने गाँव का रेडियो हथिया लिया था। उन्होंने कीमत देने का वचन दिया। और "आसन्नप्रसवा परती हँसकर करवट लेती है।" जमींदार जित्तन और कुछ सरकारी अफसरों के प्रयास से यह क्रांति हो जाती है! राजनीतिक पार्टियों का काम है कि वे इस क्रान्ति में रोड़े न अटकायें! जनता का काम है कि वह ऊपर से सुख की वर्षा करने वालों के प्रति कृतज्ञ हो!

"मैला आँचल" तक प्रेमचन्द की परम्परा के कुछ निशान बाकी थे; "परती परिकथा" तक आकर वे मिट जाते हैं और रह जाता है इलियट का शुद्ध प्रयोगवादी वेस्टलैंड!

आस्था की समस्या : बूँद और समुद्र

'बूँद और समुद्र' अमृतलाल नागर का नया और महान् उपन्यास है—महान्, आकार की दृष्टि से और विषयवस्तु की दृष्टि से भी। अमृतलाल नागर ने लगभग बीस वर्ष पहले तस्लीम लखनवी के नाम से लखनऊ के विगड़े नवाबों, उनके अर्ध-सर्वहारा मुसाहबों के चित्र खींचकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। स्वर्गीय बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' के कविता-संग्रह 'चकल्लस' के नाम पर उन्होंने हास्यरस का अभूतपूर्व साप्ताहिक 'चकल्लस' निकाला था। उसमें 'नवाबी मनसद' नाम के स्तम्भ में धारावाहिक रूप से नवाब साहब और उनके आसपास के लोगों के सजीव रेखाचित्र निकलते रहते थे। इन रेखाचित्रों में नागर जी ने लखनऊ के चौक मुहल्ले अर्थात् पुराने लखनऊ के साधारण जनों की बोली-बानी का ऐसा सजीव और रोचक उपयोग किया था जैसा 'फ़सान-ए-आज़ाद' के अतिरिक्त हिन्दी-उर्दू में अन्यत्र दुर्लभ था। आगे चलकर उन्होंने आगरा के व्यापारियों की बोली को आधार बनाकर सेठ बाँकेमल का चित्रण किया और एक नष्ट होती हुई पीढ़ी और उसकी संस्कृति को अपने साहित्य से अमर कर दिया। उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें 'मरघट के कुत्ते' और 'गोरखधन्धा' विशेष उल्लेखनीय हैं। जीवन के सबसे निचले स्तर तक पैठने और अप्रत्याशित वीभत्सता का उद्-घाटन करने में वह अद्वितीय हैं। साथ ही वह हास्यरस के जाने-माने लेखक हैं। हास्य के लिए वे आसपास के सामाजिक जीवन से आलम्बन ही नहीं चुनते, पौराणिक गाथाओं और भटियारिनों के किस्से-कहानियों का भी सहारा लेते हैं। आदमी हिम्मत के हैं, निर्भीकता से सामाजिक समस्याओं पर लिखते हैं। 'आदमी, नहीं ! नहीं !!', 'पाँचवाँ दस्ता' और 'गोलवलकर, ढोलवलकर, पोलवलकर' उनकी ऐसी ही सोद्देश्य रचनाएँ हैं। इस सबके साथ ही उन्हें पुरातत्त्व और प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास से भी बहुत दिल-चस्पी है। लखनऊ के लक्ष्मण टीले की खुदाई कराने के लिए उन्होंने जमीन-

आसमान एक कर दिया है। कला—विशेषकर चित्रकला—से उन्हें प्रेम है और उनके अनुज मदनलाल नागर हमारे प्रदेश के सुविख्यात चित्रकार हैं। 'निराला', 'प्रसाद', 'पन्त', शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, 'पढ़ीस' आदि ख्यातनामा साहित्यकारों के साथ रहकर उन्होंने सात्विक और नाना प्रकार के संस्कार अर्जित किये हैं। कुछ वर्ष तक रेडियो में काम किया है। रेडियो के लिए नाटक लिखे हैं। 'महाकाल' नाम से बंगाल के अकाल पर उपन्यास लिखा है। जन-नाट्य संघ के साथ लखनऊ में नाटकों का निर्देशन कर चुके हैं। बहुत से लेखों के साथ चेखोव, मोपासां, फ्लाबेयर आदि की रचनाओं के अनुवाद भी किये हैं। इन सबके अतिरिक्त उन्हीं के शब्दों में "१८ फिल्मों की मेहनत रेत पर खींची गई लकीरों की तरह मिट गई।" विचारधारा में वह गांधीवादी हैं अथवा यों कहें कि वह गांधीजी के भक्त हैं, लेकिन आदमी वह खास चौक लखनऊ के हैं। नागरजी की कला और व्यक्तित्व के ये सभी उपकरण 'बूँद और समुद्र' में एक साथ लहलहा उठे हैं।

लेखक ने कथा-क्षेत्र के लिए लखनऊ चुना है और उसमें भी विशेष रूप से चौक के गली-कूँचों को। कुछ समय के लिए वह मथुरा-वृन्दावन की सैर भी करता है। चौक के बाहर के स्थान गौण हैं; मुख्यतः चित्रण चौक का है। यह मुहल्ला एक बूँद की तरह है जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जीवन के दर्शन होते हैं। शहर के विभिन्न स्तरों का जीवन कैसा है, इसका पता तो उपन्यास से लगता ही है; गाँवों में भी जनता के संस्कार कैसे हैं, इसका परिचय बहुत-कुछ इस कथा से मिल जाता है। उपन्यास के नाम की यही सार्थकता है; एक मुहल्ले के चित्र में लेखक ने भारतीय समाज के बहुत से रूपों के दर्शन करा दिए हैं। वैसे तो भारतीय समाज हिन्दमहासागर है और उसका चित्रण करने के लिए यह समुद्र भी छोटा है।

'बूँद और समुद्र' पुरानी समाज-व्यवस्था के बनते-बिगड़ते और बदलते हुए भारतीय परिवार का महाकाव्य है। इस परिवार की धुरी है नारी। कितनी तरह की देवियाँ हैं इस उपन्यास में? ताई, जिसे पति ने छोड़ दिया है, जादू-टोनों में विश्वास करने वाली, मुहल्ले-भर के लड़कों और बड़े-बूढ़ों के भी कौतुक का केन्द्र, कृष्ण की अनन्य भक्त, हिंसा और मानव-प्रेम (अथवा

जीवमात्र से प्रेम) का अद्भुत सम्मिश्रण; नन्दो, जो घर में ही कुटनी का काम करती है; अमृत प्रेम से पीड़ित 'बड़ी'; नये फैशन और नई शिक्षा में दीक्षित पत्नियाँ; दमन की शिकार हिस्टीरिया से पीड़ित युवतियाँ; पुराने चाल की निष्ठावान किन्तु रूढ़िवादी कल्याणी; मुहल्ले की गन्दगी में सबेरे की हवा के झोंके जैसी स्वावलम्बिनी वनकन्या। कहीं लाले की घरवाली "एटम बम की तरह बीच चौक में फूटकर भभूती के घर को हिरोशिमा बना" देती है, कहीं नन्दो 'रणक्षेत्र में आकर गाण्डीव' टंकारती है। सिनेमा जाती हुई देवियाँ, किसका कोट किस फैशन का है, इस पर टीका-टिप्पणी करती हैं और "बेशुमार हतभागिनें किसी सन् के चलन का कोट नहीं पहने थीं।" वनकन्या की माँ और ताई में सौत का रिश्ता चलता है। उसकी भाभी 'नई' है, "प्रकृति का एक मज़ाक! ऐसी औरत ज़ाहिर में औरत लगकर भी असल में बेमानी होती है।" कहीं गर्भवती विधवा शरीर में आग लगाकर जल मरती है। एक जगह युवती की लाश को कुत्ते घसीटते हुए दिखाई देते हैं। मन्दिर के अन्दर अच्छे-खासे मर्द देवियों का अभिनय करते हैं। इन सबकी बोली-बानी अलग, सबकी चरित्रगत शैली अलग। इनके साथ पुरुषों का वर्ग अपनी विशिष्ट मर्दानी संस्कृति के साथ चित्रित किया गया है। पीपल के नीचे का चबूतरा, हुक्के, नीम की दातुनें, अखबार, गजक और मूँगफली बेचने वाले, मक्खन की तारीफ़ कोन पर पाँच-पाँच रुपये रख दो और भाग न दबे, कुल्फ़ी की तारीफ़ गोल दरवाज़े में खरीदो और रानी कटरे में जाकर खाओ और तारीफ़ ये कि जरा भी न गले; तीतरों को चुगाता हुआ परसोतम, सेक्रेटेरियट के बाबू गुलाबचन्द, लखनऊ की खास गाली को उपनाम की तरह अपने वाक्यों में जड़ने वाले लाला मुकुन्दीमल, मुहल्ले से लेकर विश्व तक की समस्याओं पर वाद-विवाद, कथा बाँचते हुए पण्डितजी, राजा, डॉक्टर, लेखक, चित्रकार, साधू—उपन्यास में रेखाचित्रों की ऐसी समृद्धि है जैसी प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के दस उपन्यासों में न मिलेगी।

रेखाचित्रों की सजीवता अपने-आप एक बहुत बड़ा आकर्षण है। चित्रकला में पशु, मानव, वनस्पति या निर्जीव पदार्थों की सजीव छवि देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं। सजीव अनुकरण सरस होता ही है; फिर वस्तुओं के

चयन में लेखक अपने उद्देश्य और रुचि का परिचय भी देता है। पात्रों की संख्या, उनकी विविधता, अनुकरण अथवा प्रतिच्छवि की सजीवता के विचार से अमृतलाल नागर हमें ऐसे जीते-जागते और कोलाहलमय संसार में ला खड़ा करते हैं जिसकी समृद्धि की तुलना बाल्ज़ाक की रचनाओं से ही हो सकती है। लेखक के पास ऐयारी की ऐसी झोली है जिसमें पात्रों की सैकड़ों मूर्तियाँ भरी हुई हैं और वह सन्तुलन का भी विचार न करके उन्हें सानन्द एक के बाद एक निकालता चला जाता है, फिर भी झोली खाली नहीं होती। पात्र अकेले नहीं आते; वे अपने साथ अपना पूरा वातावरण लाते हैं—पुरानी हवेली, पीपल के नीचे का चबूतरा, नदी का किनारा, इत्यादि। अनेक स्थानों के वर्णन में कवि-सुलभ सरसता है। "कटी-फटी पतंगों, मकड़ी के जालों, घोंसलों, चिड़ियों, गिलहरियों और पीपली के दानों से लदा, अन-गनित इंसानों के चंचल मन-समूह-सा हरहराता हुआ घना पीपल कई सदियों से मुहल्ले का साथी है। आज के बड़े-बूढ़ों के बचपन तक यह पेड़ गंगे भूरिये के भाड़ का पीपल कहलाता था। मगर वह दीवाल जो किसी समय किसी गंगे भूरिये का वैभव थी, अब बाबू छेदालाल इंश्योरेंस-एजेण्ट की मिल्कियत है। म्युनिसिपैलिटी के रजिस्टर के अनुसार उस मकान का नम्बर इस समय ४२० है जो सही तौर पर बाबू छेदालाल की ख्याति में चार चाँद लगाता है।" वातावरण के छोटे-बड़े तथ्य, जो मनुष्य की दुःखपूर्ण या मनोरंजक स्थिति की ओर संकेत करते हैं, लेखक की निगाह से बच नहीं पाते। वह वास्तव में शहर के गली-कूचों का कवि है।

वह इन गली-कूचों में बरसों रहा और घूमा है। उसने चारों ओर के जीवन को देखा ही नहीं, उसका रंग-बिरंगा कोलाहल सुना भी है। यहाँ एक शैली और एक व्याकरण का प्रयोग करने वाले पात्र नहीं हैं; प्रायः जितने पात्र हैं, उतनी तरह की शैलियाँ और उनके अपने-अपने व्याकरण हैं। लखनऊ में विभिन्न जनपदों से सिमटकर जनता एकत्र होती रही है। उसने अपनी बोली-बानी एक हद तक सुरक्षित रखी है, एक हद तक दूसरों की भाषा से, यहाँ तक कि अंग्रेजी से भी, प्रभावित हुई है। अमृतलाल नागर द्वारा किया हुआ एक मुहल्ले का यह 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाषा-विज्ञान की

सामग्री का अद्भुत पिटारा है। अभी तक एक नगर की इतनी बोली-ठोलियों का निदर्शन करने वाला उपन्यास देखते में नहीं आया। इन शैलियों में भाषाओं और समाज का इतिहास बोलता है। इसके अतिरिक्त कला की दृष्टि से व्यक्ति का चरित्र कम-से-कम पचास फीसदी शैली से प्रकट होता है। जहाँ तक हास्यरस का सम्बन्ध है—केवल शुद्ध हास्य नहीं, विनोद, मनो-रंजन, वक्रोक्ति, व्यंग्य, सभी-कुछ—उसकी निष्पत्ति सौ फीसदी इस बोली-ठोली और शैली पर निर्भर है। पुरानी चाल की माताजी की आउत-जाउत मिश्रित खड़ी बोली—"जो जिसकी-जिसकी समझ में आउत है वही करत हैंगे। कल को हमरे शंकर एमे पास करके अपसर होयेंगे. उनकी बहुरिया पुरानी चाल से चलै तो किरकिरी न होय?" हाथरस की ताई की ब्रज का पुट लिये हुए खड़ी बोली—"निगोड़ी सबकी-सब मेरी छाती पे ही मूँग दलने आमें हैंगी। सात जलम की दुस्मन मरी, गली-गली घूमकर मेरे घर बच्चे पटकने आई रंडो। अरे तन-तन में कीड़े पड़ेंगे, सरदी की रात में दौड़ा मारा।" लखनऊ के पुलिसमैन की अंग्रेजी-अवधी मिश्रित हिन्दुस्तानी—"कोतवाली को वैरलेस कर दिया हुजूर! मिरजाजी अटेण्ड कर रहे थे हुजूर, तौन उन्होंने मिसेज दिया कि अस्पताल की गाड़ी भिजवाते हैं हुजूर।" जगह-जगह घूमे हुए अवध के साधु की हिन्दी—"पूर्व आश्रम में हम मोटर मिकैनिक रहे! अन्त में मालिक की चाकरी से छूटकर विंध्याचल में रम गए। त्रिकुटी में ध्यान साधा, निर्जल, निराहार रहे—जाने क्या-क्या अन्ट-सन्ट किया। वहाँ एक महात्मा के दर्शन हुए। तौन उन्होंने कहा कि ड्यूटी बजाना छोड़कर यहाँ का ढोंग करता है—जा सेवा कर। फिर हम क्या करते रामजी? जिसको गुरु माना उसकी आज्ञा भी तो माननी पड़ेगी। तो कहने का सारांश यह है कि अपनी ड्यूटी का पायबन्द हुए बिना कोई अपना स्वामी बन ही नहीं सकता।" कथा बाँचने वाले पण्डितजी की भाषा—"सूतजी बोलेम् कि हे जिजमान सुनौ, एक समय जो है सो नारदजी बैकुण्ठ लोक के बीच में लक्ष्मी-पति बिस्नू भगवान् के पास जाय के कहत भएम् कि....।" इस तरह की दो-चार नहीं बीसों भाषा-शैलियाँ हैं जिनके अत्यन्त रोचक उदाहरण 'बूँद और समुद्र' में मिलेंगे। सरसता की कितनी सामग्री हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी

है ! भाषा-शैली की इस विविधता से जनसाधारण भी अपना मनोरंजन करते हैं। अमृतलाल नागर के हास्यरस का दृढ़ आधार यही यथार्थ जीवन है। उनके मनोरंजक संवाद हास्य की सृष्टि करने के अतिरिक्त चित्रण की सजीवता की छाप मन पर छोड़ते हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि इस उपन्यास में लेखक के वर्षों के सामाजिक अनुभव का संग्रह है। इस तरह के संग्रह-मात्र के लिए ह 'सुदीर्घ साधना और परिश्रम अपेक्षित हैं। कला-प्रेमियों के अलावा भाषा-विज्ञान और समाज-शास्त्र के पण्डितों के लिए भी यहाँ दुर्लभ सामग्री एकत्र की गई है। उपन्यास में स्त्रियों के जो गीत दिये गए हैं, वे अपने में अलग सांस्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण निधि हैं। "कलजुग तो आया बड़ी धूम से, बहुएँ हो गईं ददिया सास", "राजा तुम गए कॉलेज पढ़ने मेरी उमर गुजर गई पीहर में", "जब से चला है किलिप लगाना, कदर बेंदी की गई मेरी जान" आदि खड़ी बोली के गीत नारी-समाज की वह झाँकी देते हैं जो अधिकांश उपन्यासकारों के कल्पना-रंजित चित्रों से बिलकुल भिन्न है।

उपन्यास की धुरी हैं ताई। लखनऊ की एक रईस की छोड़ी हुई पहली पत्नी हैं। जीवन की परिस्थितियों ने उनके मन में विचित्र ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर दी हैं। अब वह जादू-टोने से मानव-मात्र का संसार करने पर तुली हुई-सी दीखती हैं। भारतीय समाज का सारा अन्धविश्वास और मनुष्य से घृणा करने वालों की सारी हिंसा मानो सिमटकर ताई में केन्द्रित हो गई है। बच्चे, बूढ़े, जवान, सब उन्हें चिढ़ाते हैं और अब ताई के पास आशीर्वाद का एक शब्द भी नहीं रह गया, वह केवल कोसना जानती हैं। भारतीय समाज में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि की चर्चा के साथ पलंग की पाटी में सेन्दुर मलने, तकिये में काला डोरा पिरोकर सुई खोंसने, आटे के पुतले बना बर मारणमन्त्र चलाने आदि की जो क्रियाएँ होती रही हैं, उनकी सूत्रधार ताई हैं। उनकी हिंसा इतनी तीव्र है कि पति के अपराध के लिए वह जादू द्वारा उसके नाती के प्राण लेने का प्रयत्न करती हैं।

ताई के घर में एक दिन बिल्लियों का युद्ध होता है। लालटेन जलाकर देखती हैं कि बिल्ली का एक बच्चा पड़ा हुआ है, जिसका सिर ग़ायब है।

वह सिरकटी लाश पड़ोस में गर्भवती तारा के दरवाजे पर रख आती हैं, इन शब्दों के साथ—"राँड बहुत पेट लिये घूमती है। ऐसे ही कटकर गिर पड़ेगा।" हिंसा की मूर्ति ताई बिल्ली के शेष तीन बच्चों को आँचल में डाल कर बाहर फेंकने जाती हैं। "ठण्ड से सिकुड़ बन्द आँखों वाले तीन बच्चे आँचल में गठरी-सी बनकर उनके पेट से लग गए।" ताई को सहसा अपनी बिटिया की याद आई और वह वापस लौट आईं। उस दिन से ताई के परिवार में वे बच्चे भी शामिल हो गए, अथवा यों कहें, उस दिन से ताई ने नये सिरे से पारिवारिक जीवन बिताना शुरू किया।

हिंसा और अन्धविश्वास की पुतली ताई में भी प्रेम का बीज मिटने से रह गया था। मानवेतर जीव के संस्पर्श से वह बीज सहसा अंकुरित हो उठा। इस बीज को मिटाने में रईस पति और ताई के मुहल्ले वालों ने कुछ उठा न रखा था। मनुष्य ने उसे मिटाया; पशु-जीवन ने उसे फिर अंकुरित कर दिया। इसका श्रेय पशु-जीवन से अधिक ताई को है जो अपने अन्तस्तल में कहीं अब तक वह प्रेम का का बीज छिपाये हुए थीं।

एक भारतीय लेखक के लिए ताई में यह परिवर्तन देखना बहुत स्वाभाविक है। जिस देश के आदि कवि ने एक पक्षी के क्रन्दन से द्रवित होकर एक नया छन्द ही रच डाला था, उस देश के आधुनिक लेखक के मन पर अब भी वैसे संस्कार बने हों तो आश्चर्य क्या? तब क्या वर्तमान युग में भारतीय लेखक के लिए आस्था का प्रश्न ऐसा कुछ उलझा हुआ है कि उसे हल करना बहुत ही कठिन हो गया है।

ताई को बिल्ली के बच्चे बहुत परेशान करते हैं, लेकिन ताई उनका मोह छोड़ नहीं सकतीं। एक बच्चे की आँखों में देखते हुए उन्हें लगता है कि भीतर से बालमुकुन्द झाँक रहे हैं। जब ताई में यह परिवर्तन होता है, तभी कुछ लोग आकर उनके मुँह में कपड़ा ठूँस देते हैं, बिल्ली के बच्चों को उठाकर फेंक देते हैं, ताई के मुँह पर काजल और सिन्दूर पोत देते हैं और रुपये लेकर चल देते हैं। कलाकार सज्जन जब उन्हें देखता है तो उसे वह उचित ही "आदिम समाज की पुरोहितानी" जैसी लगती हैं। ताई के बंधन खुलते ही वह सबसे पहले बिल्ली के बच्चों के लिए दूध मँगवाती हैं। कला-

कार "सज्जन सोचने लगा, पत्थर भी पिघलना जानता है।" बिल्ली के बच्चों के बाद ताई को सज्जन से स्नेह है। 'कन्नोमल के पोते' कहकर वह बड़े प्यार से उसे बुलाती हैं। लेकिन कलाकार सज्जन ऐसा उच्चकोटि का बुद्धिजीवी है कि पत्थर को पिघलता देखकर भी वह आस्था के प्रश्न से उलझा रहता है।

कलाकार की कोठरी पर मुहल्ले के लोग हमला करते हैं। मुहल्ले में कवि विरहेश और 'बड़ी' के प्रेमकाण्ड के पकड़े जाने पर रूढ़िवादियों ने क्रोध उतारा सज्जन की कला पर। "उत्तेजित भीड़ ने कमरे का ताला तोड़ डाला। सज्जन की बनाई तस्वीरें चिन्दी-चिन्दी कर डालीं। रंगों के ट्यूब्स फेंके, जूते के नीचे दबाकर फ़र्श पर मसल दिये।....स्टोव का तेल गद्दे और तकियों पर छिड़का। उनमें दियासलाई लगाई गई। सारा कमरा टूटे काँच, टूटे प्याले, फटी तस्वीरों और चादर की चिन्दियों से भर गया।" अहिंसा-वादी समाज का रूढ़िवाद कितना बर्बर हो सकता है, उसका यह निदर्शन है। इन रूढ़िवादियों ने बड़ी को निर्ममता से पिटते देखा था; पीटने वालों के प्रति उनकी सक्रिय सहानुभूति थी। वही लोग चरित्र और संस्कृति की रक्षा के लिए सज्जन के चित्रों का नाश कर देते हैं। अवश्य ही वे बड़ी के वेश्यागामी पति से कुछ नहीं कहते। इस तरह के फासिस्ट आक्रमणों के वर्णन हमने विदेशी उपन्यासों में पढ़े हैं। भारतीय रूढ़िवाद के आधार पर यहाँ भी कला और कलाकारों पर फासिस्ट आक्रमण हो सकते हैं, इस उपन्यास से यह चेतावनी मिलती है। एक तरह की हिंसा यह है, दूसरी तरह की हिंसा उपन्यासकार महिपाल की है। असहाय स्त्री को पिटते देखकर उसे क्रोध आ जाता है। वह बचाने जाता है तो वेश्यागामी पति उसे भी अपनी पत्नी का यार कहकर व्यंग्य करता है। इस पर "महिपाल का वो कड़ाकेदार हाथ पड़ा कि गाल और कनपटी सुन्न हो गई।" इन दोनों तरह की हिंसा में कौनसी उचित है और कौनसी अनुचित, या दोनों ही उचित अथवा अनुचित हैं! साधारण पाठक की सहानुभूति महिपाल के प्रति होगी और निर्दय पति को दण्ड मिलता देखकर उसकी न्याय की आकांक्षा तृप्त होगी। हिंसा और अहिंसा के सैद्धान्तिक संघर्ष की वास्तविकता क्या है, इसका उत्तर उपर्युक्त घटना से मिलता है।

सज्जन की कोठरी पर आक्रमण होने के बाद कला की रक्षा करने के लिए सबसे पहले ताई आगे आती हैं। वह मन्त्र पढ़कर सब पर सिन्दूर फेंकना शुरू करती हैं। "थोड़ी देर में ताई कायर भीड़ पर विजयिनी हुई।" चरित्र और संस्कृति की रक्षा के नाम पर चित्रों में आग लगाने वाली भीड़ कायर ही होगी। इन कायरों से कला की रक्षा कौन करेगा? "उस दिन ताई बड़ी रात तक लालटेन के उजाले मे सज्जन—कन्नोमल के पोते—की तस्वीरों के टुकड़े बटोर-बटोरकर सहेजती रहीं।" कलाकार किसमें आस्था रखे, इस प्रश्न का उत्तर फिर यहाँ मिलता है।

सज्जन के आक्रमण से गर्भवती तारा अस्वस्थ हो जाती है। रात में मुहल्ले वालों की सहानुभूति खोया हुआ उसका पति ताई को अँधेरे में प्रेत समझकर बेहोश हो जाता है। ताई अपनी हिंसा भूलकर तारा को प्रजनन कराने में लग जाती हैं। यह उपन्यास का सबसे मार्मिक चित्र है। टॉल्स्टाय वे 'अन्ना करेनिना' में उस उद्विग्न पति का चित्र खींचा है जो शीघ्र ही पिता बनने वाला है। यहाँ सारी उद्विग्नता ताई में केन्द्रित है, जिसके माँ बनने का अब कोई भी अवसर नहीं है। "ज़रा सी हींग देखकर ताई और झुँझलाईं; आप सौरी में थीं, इसलिए वर्मा को ही अपने घर के मसालेदान का पता बतलाया; अपने ठाकुरजी की कोठरी में टाँड पर रखे हुए कुल्हड़ सकोरों का पता बतलाया; मुट्ठी-भर हींग और एक सकोरा लाने की आज्ञा दी। ताई ने बच्चे की नाल गाड़ी और पलंग के निकट आकर बच्चे को झुककर भर नज़र देखती रहीं।" यह चित्र आँककर अमृतलाल नागर ने हिन्दी-उपन्यास को उच्चतम स्तर तक उठाया है। जिसे ताई की इस निगाह में आस्था न दिखे, उसे जन्मान्ध ही कहना चाहिए।

पुरुष पात्रों में सज्जन और महिपाल दोनों कलाकार हैं। एक चित्रकार है एक दूसरा उपन्यासकार है। दोनों रईस घरानों के हैं। अन्तर केवल इतना है कि सज्जन की सम्पति बची हुई है और महिपाल अपने वर्ग से अलग होकर एक हद तक मध्यवर्ग का सदस्य बन गया है। सज्जन की अपनी कोठी है; मुहल्ला-जीवन का अध्ययन करने के लिए वह ताई के पड़ोस में

कोठरी लेकर रहता है। लेखक ने दोनों का ही चित्रण बड़ी बारीकी से किया है। बुद्धि-जीवियों और मध्यवर्ग के शिक्षित जनों की अधिकांश समस्याएँ दोनों को परेशान करती हैं। दोनों में बहुत ही समानताएँ भी हैं। दोनों कलाकार होने के अलावा सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की समस्याओं से बहुत दिलचस्पी रखते हैं। दोनों का ही घरेलू जीवन अनियमित-सा है। शराब का चस्का दोनों को है। महिपाल विवाहित है; ठेठ अवधी बोलने वाली उसकी पत्नी कल्याणी निष्ठा की मूर्ति, पतिव्रता देवी है, किन्तु अपने कलाकार पति का मूल्य बिलकुल नहीं पहचानती। उसके संस्कार बहुत ही रूढ़िवादी हैं और ब्राह्मणों में ऊँच-नीच का भेद-भाव, कुलीनता-अकुलीनता के विचार उसके संस्कारों की आधारशिला हैं, जिनके टकराकर उपन्यासकार के सारे प्रगतिशील विचार वापस चले आते हैं। महिपाल का स्वभाव बहुत ही उग्र है। धीरता, दृढ़ इच्छाशक्ति, सहनशीलता आदि गुणों का उसमें अभाव है। यद्यपि वह बातें समाजवाद की करता है, फिर भी उसके संस्कार अराजकतावादी के हैं। वह अपनी पत्नी के रूढ़िवाद से परेशान है, लेकिन 'इज़्ज़त का सवाल' जितना उसे परेशान करता है, उतना कल्याणी को नहीं। कल्याणी ने अपने भाई से कुछ रुपये मँगाये थे। महिपाल के अन्दर का बर्बर रूढ़िवादी तुरन्त जाग उठता है। "हरामज़ादी, तूने मेरी इज़्ज़त ख़ाक में मिला दी।" यह एक कलाकार की भाषा थी जो वह अपने उपन्यासों में न लिखता था, लेकिन खानदानी इज़्ज़त की रक्षा के लिए उसका उपयोग करने में न हिचकता था। इतना ही नहीं, 'बड़ी' के वेश्यागामी पति की तरह वह भी लात-घूँसों और थप्पड़ों के प्रयोग से बाज़ नहीं आता। कमरे के अन्दर यह काण्ड होता है; बाहर उसकी लड़की खड़ी-खड़ी सब सुनती है, "दबी चीखें, साँसें घसीट-घसीटकर रोना, पिता की अस्पष्ट गालियाँ, घुड़कियाँ-मुक्की, पटकनों, घूँसों के धमाके।" लड़की के दरवाज़ा पीटने पर वह बाहर आता है और पत्नी के पैर छूकर और सबसे क्षमा माँगकर बाहर चला जाता है। आस्था की समस्या महिपाल के लिए उठ खड़ी होती है। "अपनी पत्नी को मारकर महिपाल आस्थाविहीन हो गया है।" बिगड़े रईस महिपाल ने समाजवाद का चोगा ओढ़ रखा था; इज़्ज़त का सवाल आने पर

वह एक ही झटके में नीचे गिर पड़ता है। सज्जन से उसे ईर्ष्या भी होती है। अपने मित्र के विरुद्ध वह प्रचार करता है कि सज्जन छिपे-छिपे कम्युनिज़्म फैला रहा है। एक बार महिपाल की डींग सुनकर उसका एक पूँजीपति मित्र यह रहस्य प्रकट कर देता है कि ननिहाल मे डाका पड़ने पर महिपाल ने बहुत से गहने चुरा लिये थे और कह दिया था कि उन्हें डाकू ले गए। चोरी पकड़े जाने पर आत्म-हत्या के सिवा उसे कोई मार्ग नहीं सूझता। एक पत्र में अपना कच्चा चिट्ठा लिखकर संसार से विदा हो जाता है। महिपाल की आत्म हत्या यह दिखलाती है कि उसके आगे कोई रास्ता नहीं रह गया था। समाजवाद से उसे बौद्धिक सहानुभूति है; अपने जीवन में वह असन्तुलित अराजकतावादी है। वह अच्छा पिता और पति नहीं बन पाता। डॉ० शीला से उसे प्रेम है और शीला को छोड़ने के बाद वह भीतर से टूट जाता है। किन्तु उसकी ट्रैजेडी घरेलू जीवन तक सीमित नहीं है। शिवभक्त महिपाल समाज को बदलने का कोई रास्ता नहीं देखता। उसकी कहानी उस बुद्धिजीवी की कहानी है जो समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट तो है, लेकिन उसके बदलने के लिए जन-शक्ति को संगठित करने का धैर्य और दृढ़ मनोबल जिसमें नहीं है।

दूसरी ओर चित्रकार सज्जन है। रूढ़ियों के विरुद्ध है, लेकिन वृन्दावन में जाकर रहस्यवादी बन जाता है। टेलीपैथी आदि चमत्कारों में उसे विश्वास है। वृन्दावन में वनकन्या के प्रति प्रेम विज्ञापित करने के बाद लखनऊ आते ही अपनी प्रेमिका चित्रा राजदान के साथ सरस समय बिताता है। रईसी ठाठ में नौकरों पर हाथ भी चला देता है, उन्हें बर्खास्त कर देता है। वनकन्या से विवाह होने पर जहाँ कोठी में उसके साले साहब आते हैं, उस पर इज़्ज़त का भूत सवार होता है और उसे सबसे पहले यह भय होता है कि नौकरों ने देख लिया तो क्या कहेंगे। ईर्ष्या का शिकार वह भी है, लेकिन साधु की कृपा से उसकी मति बदल जाती है और वह सम्पत्ति-दान करने के लिए तैयार हो जाता है। महिपाल और सज्जन में महिपाल अधिक सजीव है। उसका मानसिक द्वन्द्व ज़्यादा तीखा और नाटकीय है। अपनी कमज़ोरियों के बावजूद वह पाठक की करुणा अपनी ओर खींचता है।

सज्जन की कठिनाइयाँ उसकी अपनी गढ़ी हुई हैं; वह परिस्थितियों से महिपाल की तरह नहीं जूझता। उसका चित्रकार भी बहुत कमज़ोर है। चित्रकार से अधिक वह मुहल्ले के जीवन का अध्ययन करने वाला समाज-शास्त्री है और यहाँ उसका व्यक्तित्व उपन्यासकार महिपाल की ही प्रतिच्छवि है। उसके सम्पत्ति-दान में ऐसी गरिमा नहीं है जो पाठक को आन्दोलित करे। 'प्रेमा-श्रम' और 'जहाज़ का पंछी' के काल्पनिक समाधान की छाप उपन्यास को कमज़ोर बनाती है।

पुरुष पात्रों में ताई से मिलते-जुलते पात्र हैं कर्नल और रामजी साधू। कर्नल उच्च मध्यवर्ग के दूकानदार हैं। अपने मित्रों में नगीनचन्द जैन कर्नल नाम से विख्यात हैं। बुद्धिजीवियों की समस्याएँ उनकी समझ में नहीं आतीं लेकिन जहाँ भी मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है, नगीनचन्द उसकी सहायता को तुरन्त पहुँच जाते हैं। वनकन्या को अपने अत्याचारी कुटुम्बियों के यहाँ जब आश्रय नहीं मिलता, तब नगीनचन्द उन्हें अपने यहाँ बहन की तरह रखते हैं। इस मानव-प्रेम के कारण उन्हें रूढ़िवादियों का कोपभाजन बनना पड़ता है लेकिन वह चतुराई और दृढ़ता से उनका सामना करते हैं। कलाकार सज्जन को जब उसके वर्ग के रईस अपनी उँगलियों पर नचाते हैं तब नगीन-चन्द कलाकार की ईमानदारी के लिए लड़ते हैं। कलाकार सज्जन के लिए एक बार वह अपने सच्चे उद्‌गार प्रकट करते हुए कहते हैं—"क्या बताऊँ ये सज्जन ससरा इस वक्त ऐसा लेंडी निकला कि।" सज्जन वास्तव में कायर है; वीर कर्मठ पुरुष हैं नगीनचन्द। रूढ़िवादियों और राजनीतिक दलों से असन्तुष्ट होकर वह कहते हैं—"इनकी हर चाल पलटकर इस बार अपनी अलग पार्टी—इंसानी दल कायम न किया तो कुछ काम न किया। अब हम एक नहीं सब पॉलिटिकल पार्टियों को चुनौती देकर कसौटी पर कसेंगे। हम जनता में रहेंगे। जनता के अधिकारों के साथ रहेंगे। अब चाहे सरकार हो, ये बड़े-बड़े कैपिटलिस्ट हों या पॉलिटिकल पार्टियाँ हों—हम सबसे अपने अधिकारों के लिए सावधान रहेंगे।" यह उस नागरिक की आवाज़ है जिसे जनता से प्रेम है, जिसके हृदय का निःस्वार्थ प्रेम उसके आये दिन के कार्यों से प्रकट होता रहता है, जो बाधाओं और कुण्ठाओं से त्रस्त होकर मानसिक

उधेड़-बुन का स्वाँग रचकर 'हाय आस्था, हाय आस्था' कहकर नहीं चिल्लाता। नगीनचन्द का चरित्र यह दिखलाता है कि पुरानी व्यवस्था को बदलने और रूढ़िवाद को निर्मूल करने के लिए जिस निष्ठा और धैर्य की आवश्यकता है, वह समाज में विद्यमान है।

नगीनचन्द से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व रामजी बाबा का है। पुराने सन्तों की परम्परा के वह साकार जीवित रूप हैं। उपन्यास के अनेक पात्रों की तरह लेखक ने उन्हें यथार्थ जगत् से ही लिया है। सज्जन और महिपाल की तरह ज़मीन-आसमान के कुलाबे न मिलाकर वह सेवा को कर्त्तव्य मानकर समाज के बहिष्कृत पागलों की सेवा करते हैं। उनकी सेवा-भावना के आगे बुद्धिजीवियों की कुण्ठाग्रस्त शंकाएँ सूखे पत्तों की तरह उड़ जाती हैं। उनकी तुलना में सज्जन को अपनी कमजोरी का पता चलता है—"वह सेवा के आदर्श को इत्र की तरह सूँघ कर आनन्दित भले ही हो ले·······।" वास्तविक सेवा से वह बहुत दूर है। जब महिपाल कहता है कि आज का मनुष्य जंगली हो गया है, तब रामजी साधु कहते हैं—"मनुष्य इस समय अपने मन के महल की सफाई कर रहा है। जब पूरी हुइ जायगी तब देखियेगा।" महिपाल केवल उपन्यासकार है; अस्सी साल के नौजवान रामजी बाबा सेवा-कार्य में युवकों को मात करते हैं। मनुष्य के भविष्य में उनकी यह सहज अडिग आस्था उनके कर्मठ जीवन से उत्पन्न होती है। उसका आधार हवाई उधेड़बुन नहीं है। वास्तव में साधु शब्द के प्रचलित अर्थ में वह संसार-त्यागी महात्मा हैं ही नहीं। वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उन भक्तों में से हैं जो इस गोचर जगत् में ब्रह्म के दर्शन करके मनुष्य की सेवा करते हैं। विज्ञान ने इतनी प्रगति की है; क्या उससे मानवता का नाश न हो जायगा? बाबा रामजी की आस्था डिगने के बदले वैज्ञानिक प्रगति से और दृढ़ होती है। कहते हैं—"विज्ञान के जो अनुपम रत्न निकल रहे हैं, मानवतावाद का व्यापक प्रचार हुइ के चेतना का जो अमृत निकलेगा वह समस्त लोक को मिलेगा और जौन ये स्वार्थपरता, अनाचार का कालकूट निकल रहा है तौन नीलकंठ परम सेवक हैं वो अपनी ड्यूटी बजाने से कभी नहीं

चूकते।" इस दृढ़ आस्था के सामने कुण्ठा की पीड़ा से कराहने वालों को शर्म आनी चाहिए।

वनकन्या अपने चारों ओर के वातावरण से तिलमिला उठती है, लेकिन महिपाल की तरह वह घुटने नहीं टेकती। सभी परिस्थितियों में धैर्य से काम लेते हुए वह रूढ़िवाद से टक्कर लेती है और साथ ही अपने प्रेमी कलाकार सज्जन के ढुलमुल मन को भी सँभालती है। नारी और विवाह के सम्बन्ध में सज्जन के विचार 'चक्करक्लब' और 'मनुष्य के रूप' के लेखक से मिलते-जुलते हैं। वनकन्या सिद्ध कर देती है कि स्वच्छन्द प्रेम के ये विचार क्रान्तिकारी न होकर वास्तव में अभिजात-वर्ग के संस्कार हैं। अनैतिकता के वातावरण में दृढ़ इच्छा-शक्ति वाली सच्चरित्र वनकन्या पाठक की आस्था को दृढ़ करती है।

आस्था के इतने प्रतीकों के होते हुए भी उपन्यास के अन्त में सज्जन को लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। महिपाल की आत्महत्या के बाद उसे विशेष रूप से आस्था का प्रश्न क्षुब्ध करता है। वह अपने लिए ठीक सोचता है कि महिपाल की-सी परिस्थितियों में यदि उसका जीवन बीता होता तो शायद उसका भी अन्त यों ही हुआ होता। आखिर वह महिपाल के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू ही तो है। वह आत्महत्या से कैसे बचता? लेकिन अपने विनाश की सम्भावना में उसे देश मिटता दिखाई दे रहा है। वह देश के बारे में सोचता है—"जिस देश में कर्मयोग का सिद्धान्त है, वेद, उपनिषद, साहित्य, शास्त्र हैं, व्यास, वाल्मीकि जैसे युग-प्रवर्तक महर्षि हैं, इतना रसज्ञान है, अजन्ता, एलूर, कोणार्क, दक्षिण भारत—सारे भारत में व्याप्त अनुपम शिल्प है, सुनीतियाँ हैं; जिस देश का इतिहास इतना महिमामय है, वह देश जड़ता और गन्दगी में रहना पसन्द करते हुए आज की भयंकर अगति के रूप में आत्महत्या क्यों कर रहा है?"

सज्जन ने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास में जो कुछ देखा, वह सब सत्य है। लेकिन सत्य उतना ही नहीं है। भारतीय जनता का इतिहास उसके संघर्षों का इतिहास भी है। उसकी संस्कृति जनता के इस संघर्षमय इतिहास से दूर रखकर नहीं समझी जा सकती। सज्जन न तो पुराने

इतिहास में और न वर्तमान काल में जनता को कहीं संघर्ष करते देखता है। स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए जनता ने जो संघर्ष किया, उसकी छाप भी कहीं उसके मन पर पड़ती नहीं दिखाई देती। अपने चारों ओर आस्थावान पात्रों के होते हुए भी उसे लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। इसका एक कारण यह है कि निष्ठावान पात्र अपने व्यक्तिगत जीवन में तो महान् हैं, किन्तु लोक-कल्याण के लिए उनमें सामूहिक प्रयत्न का अभाव है। स्वयं सज्जन ने सम्पत्ति-दान किया है और अपने ढंग से समाज-सेवा की ओर बढ़ भी रहा है। स्पष्ट है कि इस सबसे उसे सन्तोष नहीं है। कुछ धनी व्यक्तियों का सम्पत्ति-दान समाज की मूल समस्या हल नहीं कर सकता। आस्थावान पात्र सामूहिक प्रयत्न से दूर हैं, इसलिए उनकी आस्था भी अधूरी है। स्वयं सज्जन व्यक्तिगत श्रम से दूर है, इसलिए वास्तव में वह महिपाल से भी अधिक आस्थाहीन है।

उपन्यास की भूमिका में लेखक ने "देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण-दोषभरा चित्र" खींचने की बात कही है। उपन्यास में मध्यवर्गीय नागरिक भी हैं। फिर भी उपन्यास के मुख्य पात्र सज्जन, महिपाल, वनकन्या, ताई, कर्नल और शीला हैं। रामजी बाबा सज्जन से पूछते हैं कि वह कितना दान कर सकता है? सज्जन उत्तर देता है—तीन लाख। वह लखपती का बेटा ही नहीं, स्वयं भी लखपती है। भारत के मध्यवर्ग में तीन-तीन लाख की सम्पत्ति का दान देने लायक सदस्य हो जायँ तो कहना ही क्या? ताई राधा-कृष्ण का विवाह करती है। "जिन्हें सुबह-शाम छेड़कर बच्चे, बूढ़े, जवान सभी सुख पाते हैं, वह ताई पचास हजार की सपत्ति लुटाकर उत्सव मना रही हैं।" महिपाल की प्रेमिका "शीला के पास लाख-डेढ़ लाख रुपया है।" लाला नगीनचन्द उर्फ कर्नल "लखनऊ की एक पुरानी और प्रसिद्ध अंग्रेजी दवाओं की दुकान के मालिक हैं। सामाजिक कामों के लिए जी खोलकर चन्दा देने वालों में उनका नाम शहर के गिने-चुने लोगों के साथ लिया जाता है।" रह गए महिपाल और वनकन्या। वे परिस्थितियों से जूझते हैं, लेकिन हैं वे भी रईस घराने के। महिपाल ननिहाल में पला था और "उसकी ननिहाल का घराना ताल्लुकेदारों का था।" वहाँ डाका पड़ा तो महिपाल

के अनुसार "डेढ़ लाख रुपये की ज्वेलरी गई।" आगे यह रहस्य खुलता है कि डाकू को मारकर महिपाल ने स्वयं चोरी का जेवर हड़प लिया था। सेठ रूपरतन कहते हैं कि उन्होंने गहने बिकवाने के नाम पर महिपाल के लिए चालीस हजार की रकम खड़ी कर दी। महिपाल उपन्यासकार है और अपनी पत्नी से उसे सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह उसके कलाकार का महत्त्व नहीं समझती। लेकिन "महीनों हो गए, उसने एक अक्षर नहीं लिखा, केवल अपने घर में, अपने चारों ओर हर तरफ लक्ष्मी का आडम्बर सजाने में ही उसके दिन अधिकतर चले जाते हैं।" वह अपने मन में थका हुआ अनुभव करता है और "उस थकान में उसे बैंक में जमा अपने अड़तीस हजार रुपये याद आए।" "वह किसी हद तक विलासिता का शिकार है।" वह अपने अन्तिम पत्र में लिखता है, "ताल्लुकेदारी वातावरण में पल कर मेरे संस्कार भी राजसी हो गये थे।" पैसा मिलते ही उसके राजसी संस्कार लहलहा उठते हैं। एक दिन की बात है—"महिपाल आज पूर्ण रियासती भाव में था—बढ़िया चप्पल, उम्दा चुन्नटदार धोती, रेशमी कुर्ता, रेशमी जवाहर जैकेट, फावरल्यूबा की घडी, शेफर्स की सुनहरी कलम, हाथ में पुखराज की अँगूठी।" परिस्थितियों से जूझने के वावजूद महिपाल मध्यवर्ग का प्रतिनिधि नागरिक नहीं माना जा सकता। वनकन्या भी एक तबाह रईस घराने की लड़की है। "रईस मेरे बाबा-परबाबा भी थे।" कन्या कहती है—"उनके किस्से मैंने भी सुने हैं। यह बात दूसरी है कि अपने होश से ही मैंने अपने मायके में फिजूलखर्ची और कंगाली ही बराबर बढ़ती देखी।" रईस या बिगड़े हुए रईस—उपन्यास के प्रमुख पात्र इस तरह के हैं। इस तरह के लोगों का अपने वर्ग-संस्कार छोड़ना और श्रमिक जनता के दुःख-सुख में घुल-मिल जाना एक कठिन प्रक्रिया है। यदि वे सामूहिक प्रयत्न द्वारा समाज-व्यवस्था को बदलने का रास्ता नहीं देख पाते तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सज्जन को किसी भी राजनीतिक पार्टी में आस्था नहीं है। "सब अधिकाश में एक-से-एक बढ़कर बेईमान, क्षुद्र आकांक्षाओं वाले, जालसाज़, दम्भी और मग़रूरों द्वारा अनुशासित हैं; आदर्श और सिद्धान्त तो महज़ शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियाँ हैं। इनका आपसी संघर्ष अधिकतर

व्यक्तिगत है।" यदि सज्जन राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेकर इस परिणाम पर पहुँचता, यदि उपन्यासकार विभिन्न पार्टियों की राजनीतिक कार्यवाही का सजीव चित्र देकर ऊपर की स्थापना हमारे सामने लाता तो वास्तव में चिन्ता की बात होती और पाठक उस तक आते-आते तिलमिला उठता। लेकिन उपन्यास में क्षीण मनोबल वाले बिगड़े रईस या सम्पत्ति-दान से भारत का उद्धार करने वाले कलाकार ऐसी बातें करें तो इसे उन्हीं का वर्गगत दम्भ समझना चाहिए। जालसाज़ी जैसी चीज़ महिपाल के चरित्र में है; क्षुद्र आकांक्षाओं की कमी सज्जन में नहीं। फिर भी वह धर्मोपदेशक बनकर कहता है—"आत्मविश्वास ही नये युग का धर्म है।" उसे "जन-जीवन अन्धविश्वासों और भ्रान्तियों से जकड़ा हुआ।" दिखाई देता है। वास्तव में जितने अन्धविश्वास और भ्रान्तियाँ सज्जन में हैं, उतने अन्ध-विश्वास और भ्रान्तियाँ अशिक्षित और निर्धन जनता में नहीं हैं। वह अपनी समझ में बड़ा मार्मिक प्रश्न करता है—"क्या किसी को भी आज अपने देश से प्यार नहीं?" यदि सज्जन की आँखें उसके वर्ग-संस्कारों ने बन्द न कर दी होतीं तो वह समाज में अपने को अकेला देशभक्त न पाता। उसकी समझ में भारत का मनुष्य "अधिकांश में भारतीय नहीं, मानव भी—?—नहीं।" अन्त में, "दोनों पति-पत्नी अपनी आस्था पर डटे रहेंगे।" इति, शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः !

क्या इस उपन्यास में ही सज्जन से अधिक आस्थावान व्यक्ति नहीं हैं? क्या ताई द्वारा तारा के प्रजनन में सहायता, रामजी साधु द्वारा पागलों की सेवा, नगीनचन्द द्वारा वनकन्या की सहायता, महिपाल द्वारा बड़ी के पति की पूजा, महिपाल के लिए शीला का प्रेम सज्जन के चरित्र और उसके किसी भी कृत्य से अधिक महान् नहीं हैं? सज्जन ने उपन्यास में ज़रूरत से ज़्यादा जगह घेरी है। पूर्वार्द्ध में वह उतनी जगह नहीं घेरता, जितनी उत्त-रार्द्ध में। इसलिए उपन्यास का उत्तरार्द्ध अपेक्षाकृत निर्बल हो गया है। विशेष रूप से उसका अन्त काफ़ी कमज़ोर है। महिपाल की आत्महत्या पाठक को व्यथित अवश्य करती है, किन्तु वह क्षोभ भी उत्पन्न करती है। किसी कारण दूसरों के मन की बात जानने वाले रामजी बाबा महिपाल

के मन की बात बिलकुल नहीं जान पाते कि वह आत्महत्या करेगा। वह अपनी शक्ति से सज्जन की जितनी सहायता करते हैं, उसकी शतांश कृपा भी वह महिपाल पर नहीं करते। लेखक के साथ वह भी सज्जन का पक्षपात करते हैं। लाला नगीनचन्द बहुत ही व्यवहारकुशल व्यक्ति हैं, लेकिन मित्रों में भेद खुल जाने पर अपमानित होकर जब महिपाल घर से निकलकर चल देता है, तब भी वह उसके पीछे नहीं चलते, न उसकी खोज-खबर लेते हैं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध की यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना कलात्मक दृष्टि से सत्य नहीं उतरी।

कथावस्तु को कमज़ोर करने वाला एक दूसरा दोष आदिम समाज का हवाला देने का रोग है। सज्जन और महिपाल दोनों समाज-शास्त्री हैं। कहीं मोहेंजोदड़ो, कहीं वैदिक सभ्यता, कहीं प्रस्तर मूर्तियाँ, कहीं आर्य-अनार्य संघर्ष, और एक जगह नहीं पचीसों बार, नाक में दम कर देते हैं। आधुनिक उपन्यासों के पात्रों को आत्मचिन्तन और आत्मविश्लेषण का रोग होता ही है। पन्ने-के-पन्ने आत्मचिन्तन से रँगे हुए हैं। इनसे कथावस्तु में शिथिलता अवश्य आती है; चरित्र की गहराई का पता तो दो वाक्यों से ही लग जाता है।

कथा कहने में एक दोष यह भी है कि जिन पात्रों से पाठक काफ़ी पहले परिचित हो चुका है, उनके विस्तृत रेखाचित्र अथवा संक्षिप्त जीवन-चरित्र बाद में दिये गए हैं। इससे कथा-प्रवाह में बार-बार ठहराव पैदा हो जाता है। एकाध दोष असावधानी से उत्पन्न हो गया है। कर्नल खासी हिन्दी बोल लेता है, लेकिन ६६वें अध्याय में उस पर 'है' की जगह 'हैगा' कहने का खब्त सवार हो जाता है। उपन्यास में कुछ यथार्थ जगत् के पात्र हैं, जैसे अमृतलाल नागर, यशपाल, ज्ञानचन्द जैन, भगवतीचरण वर्मा इत्यादि। लेखक ने इनके रेखाचित्र भी नहीं दिए; उसने यह मान लिया है कि पाठक तो इन्हें जानता ही होगा। पाठक साहित्यकार के रूप में उन्हें जान भी सकता है, लेकिन साहित्यकार होने से ही कोई उपन्यास का पात्र नहीं हो जाता। लेखक इनमें पात्रता उत्पन्न नहीं कर पाया।

इन सब दोषों के होते हुए भी 'बूँद और समुद्र' एक सुन्दर उपन्यास

है। भारतीय समाज के ऊपर से आत्मसन्तोष का पर्दा खींचकर लेखक ने उसके भीतर की बीभत्सता सबके सामने प्रकट कर दी है। नारी के साथ जो पाशविक अत्याचार किये जाते हैं, उसके हृदयविदारक दृश्य उसने हमें दिखलाये हैं। संभ्रान्त परिवारों में जो गुप्त रूप से व्यभिचार चलते हैं, उसकी नारकीयता से युद्ध करने के लिए उसने ललकारा है। न्याय, धर्म और कला किस तरह सम्पत्तिशाली वर्ग के हाथों बिकते हैं, इसके सजीव चित्र उसने आँके हैं। प्रेमचन्द के बाद किसी ने न्याय-व्यवस्था की वास्तविकता पर ऐसा व्यंग्य नहीं किया जैसा अमृतलाल नागर ने। उपन्यास में सभी रस हैं। भयानक, अद्भुत और बीभत्स के चित्रण में नागरजी का सानी नहीं है। कल्याणी, वनकन्या, बड़ी, महिपाल की व्यथा पाठक को बुरी तरह झकझोरती हैं। चित्रण और सम्वादों में हास्यरस का उद्रेक नागर जी की शैली की विशेषता है। चित्रा राजदान और कवि विरहेश जैसे पात्र थोड़ी देर के लिए भी उपन्यास में आते हैं तो पाठक को अपनी सजीवता से मुग्ध कर देते हैं। रामजी बाबा के पागलों का वर्णन विक्टर ह्यूगो की गम्भीर मानवतावादी क्षमता की याद दिलाता है। दुश्चरित्र पिता—महिपाल—अपने पाप से परिचित सन्तान का सामना करने में जिस आत्म-ग्लानि का अनुभव करता है, उसका चित्रण लेखक ने अपूर्व तन्मयता से किया है। विभिन्न स्वभाव के पात्र, उनके स्वभावों की टक्कर, एक ही व्यक्ति की प्रकृति में उत्थान-पतन और नये मोड़, ऐसे पात्र जिनसे पाठक को बेहद प्रेम हो जाता है और ऐसे पात्र जिन पर कभी दया आती है, कभी क्रोध आता है, संस्कृति के विभिन्न स्तर, समाजवादी चेतना, पुराने सन्तों का सेवाभाव, कलाकार का अहंकार, जादू-टोने की दुनिया, क्लिप और बिन्दी में रमने वाला मन, सहज मानवप्रेम और भाईचारा—इन सबके चित्र देखकर मन कह उठता है, कैसा विचित्र देश है अपना और यह प्रिय विचित्र देश अब करवट बदलकर उठ रहा है। कर्नल ही इन्सानी दल बनाकर जनता के अधिकारों के लिए लड़ने की बात नहीं सोचता। अशिक्षिता देवियाँ भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रही हैं। स्वाधीन भारत का पहला चुनाव है। "बूढ़े, बीमार, अपाहिज तक वोट डालने आ रहे थे।

स्त्रियों में तो अपार जोश था ।" एक महाशय पत्नी से जनसंघ को वोट देने के लिए कहते हैं । पत्नी कांग्रेस को वोट देना चाहती है । पत्नी बोलीं, "देखौ, आज हम ज़िन्दगी में पहली बार ओट डालन आये हैंगे । जिसे हमरा मन आयेगा उसे देंगे । औ' तुम्हें अब कसम है, हमरा मरा मूँ देखौ जो अब की टोकाटाकी करौ ।" यदि यह क्रान्ति नहीं है तो क्रान्ति शब्द को निरर्थक ही समझना चाहिए ।

अमृतलाल नागर के पास अपनी विभिन्न शैलियों में भाव-विचार प्रकट करने वाले पात्रों का अक्षय भण्डार है । उनकी कला में यह शक्ति है कि इन पात्रों को वह उनके सामाजिक परिवेश के साथ सजीव कर देते हैं । ऐसी संजीवनी कला बहुत कम लेखकों के पास है । उनसे बहुत कम पूँजी वाले लेखक महान् कलाकार बन चुके हैं । 'बूँद और समुद्र' में जितना सामाजिक अनुभव संचित है, वह उसे अपने ढंग का विश्वकोश बना देता है । उसे एक बार नहीं, बार-बार पढ़ने को मन करेगा । कुछ स्थल ऐसे हैं जिन्हें बार-बार पढ़ने पर भी मन न भरेगा । निस्सन्देह स्वाधीन भारत का यह श्रेष्ठ उपन्यास है ।

हिन्दी उपन्यास : आस्था के नये संकेत

इधर अमृतलाल नागर, नागार्जुन, इलाचन्द्र जोशी, राजेन्द्र यादव आदि लेखकों के जो नये उपन्यास निकले हैं, वे उस नयी दिशा की ओर संकेत करते हैं जिस ओर प्रेमचन्द के बाद व्यक्तिवाद और अतृप्ति की मरु-भूमि पार करके हिन्दी कथा-साहित्य को लोक-कल्याण के लिये आगे बढ़ना चाहिये और वह बढ़ रहा है। "सुनीता" से चोली-चीर उतारने और कभी-कभी प्रगतिशीलता के नाम उच्छृङ्खलता प्रदर्शन की प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी, वह अब क्षीण होकर समाप्त हो रही है। इलाचन्द्र जी के "जहाज़ का पंछी" में एक शिक्षित युवक की कहानी है, जिसे कलकत्ते जैसे विशाल नगर में दरदर बेकार भटकना पड़ता है। सम्पत्तिशाली वर्गों की हृदयहीनता तथा शान्ति और व्यवस्था के रक्षकों की अन्यायप्रियता का मार्मिक चित्रण यहाँ मिलता है। युवक को जो सहानुभूति नगर के भद्र लोगों में नहीं मिलती, वह उसे मजीद जैसे गिरहकटों में मिलती है। चकलों में जर्जर शरीर वाली वेश्याओं से उसे वह सहानुभूति मिलती है, जो भद्र महिलाओं में नहीं मिलती। सामाजिक जीवन के विभिन्न चित्र अपनी पूर्ण विषमता के साथ उभार कर यहाँ आँके गये हैं। वेश्याओं, भिखारियों, गिरहकटों, हृदयहीन शिक्षितों और संपत्तिशाली जनों का यह संसार देखकर मन कहने लगता है—क्या मनुष्य ने शताब्दियों के संघर्षों के बाद यही प्रगति की है ?

जोशीजी ने मनुष्य की कठिनाइयों और मुसीबतों का मूल कारण उनके अन्तर्मन की गुत्थियों में न खोजकर समाज-व्यवस्था और प्रचलित मानव सम्बन्धों में खोजा है जिनका आधार व्यक्तिगत अर्थसंचय और शोषण हैं। पूँजीवादी प्रचारक व्यक्ति की जिस स्वाधीनता के गीत गाते नहीं अघाते, उसकी वास्तविकता कई जगह उपन्यास में प्रकट होकर पाठक को बतलाती है कि उसका आधार बड़े पैमाने पर अर्थ-संचय और शोषण है। पार्क में बैठे हुए दो लड़के बातें कर रहे हैं। एक कहता है; "कहीं स्वतंत्रता छिपे

तौर पर, बदले हुए भेष में टिकी न रह जाय, इस आशंका से उसे डराने और भगाने के लिये सभी प्रयत्न किये जा रहे हैं। हाइड्रोजन बम के परीक्षणों द्वारा उसे आतंकित किया जा रहा है। कहीं पृथ्वी के उस पार किसी ग्रह से उड़ कर मुक्ति पृथ्वी का आश्रम ग्रहण न करले, इस भय से सभी महासागरों के चारों ओर कड़ी निगरानी रखी जा रही है।"

बीसवीं सदी की दुनिया यातायात के नये साधनों और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के अदृश्य सूत्रों से बँधी हुई है। आज संसार के किसी भी हिस्से में पूँजीवादी अर्थ-संचय की व्यवस्था को धक्का लगता है, तो अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के ये तार झनझना उठते हैं। बीसवीं सदी की हर राष्ट्रीय क्रान्ति अपनी सीमाएँ तोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय रूप लेती रही है। रूस की राज्यक्रान्ति विदेशी हस्तक्षेप के कारण लम्बे गृहयुद्ध में बदल गई है। अमरीकी हस्तक्षेप के कारण वही हाल चीन की क्रान्ति का हुआ। हिन्दचीन, मिश्र, भारत (कश्मीर को लेकर) आदि देशों में तरह-तरह से राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलनों को साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का सामना करना पड़ता रहा है। यही कारण है कि "जहाज़ का पंछी" जहाँ स्वाधीनता का प्रश्न उठाता है, वहाँ हाइड्रोजन बम और हथियारबन्दी की समस्याएँ खिंची चली आती हैं।

स्वाधीनता के बारे में पहले युवक की यह व्याख्या सुनकर दूसरा बोल उठता है "तुम्हारा यह व्यंग्य साफ़ ही अमरीका के प्रति है।" ऐसा लगता है कि "जहाज़ का पंछी" का नायक कलकत्ते में भटकता हुआ अमरीका की एक झलक हिन्दुस्तान में ही पा लेता है। कहता है, "कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' में मनुष्य ने मनुष्य को मनुष्य न रहने देने की कसम खा रखी है।" पूँजी के सूत्रों ने मनुष्य को ऐसा जकड़ रखा है कि उसका दम घुट रहा है। वह इस वातावरण से निकलना चाहता है लेकिन 'फ्री वर्ल्ड' की आलोचना करते ही उस पर कम्युनिस्ट होने का आरोप लगा दिया जाता है। चकले के लड़कियों को गुलाम बनाकर वेश्या-वृत्ति करानेवाली एक सम्पत्तिशाली राक्षसी का समर्थन करने वाले पुलिस ऑफिसर से उपन्यास का नायक कहता है "और आप लोग शान्ति, व्यवस्था और सामाजिक न्याय के रखवाले हैं। यह है आज के 'फ्री वर्ल्ड' की न्याय-

नीति। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में वही नीति आज 'फ्री वर्ल्ड' के सभी राष्ट्रों में विभिन्न रूपों में बरती जा रही है। पर अब समय आ रहा है—बल्कि आ गया है—जब आप लोगों की इस संगठित झुठाई, इस सामूहिक भ्रष्टाचार और अत्याचार के विरोध में धरती का एक छोटे से छोटा छिद्र चीख उठेगा और एक-एक कुचली हुई दूब गला फाड़-फाड़कर चिल्ला उठेगी...."

न्याय और व्यवस्था का रक्षक 'फ्री वर्ल्ड' की यह आलोचना बर्दाश्त नहीं कर सकता। वह कहता है, "मैं इस मकान के एक-एक कमरे की तलाशी लूँगा। किसी कम्युनिस्ट के वक्तव्य से डरकर भाग जाने वाला आदमी मैं नहीं हूँ।" और युवक उत्तर देता है, "यही तो आप लोगों का ब्रह्मास्त्र है।"

इस वार्तालाप में संगठित झुठाई, सामूहिक भ्रष्टाचार और अत्याचार पर ज़ोर दिया गया है। अन्तर्मन की गुत्थियों के कारण सामाजिक उत्पीड़न नहीं है। उसका सम्बन्ध एक व्यवस्था से है जिसकी रक्षा के लिये पुलिस और न्यायालय हैं। यह स्पष्ट है कि संगठित झुठाई और सामूहिक अत्याचार का अन्त करने के लिये सामूहिक प्रयत्न और जनता की संगठित शक्ति आवश्यक हैं। उपन्यास का नायक एक हद तक इस बात से परिचित है कि संगठित प्रयत्न हो रहा है और होना चाहिये। इसी बात को वह अपनी आलंकारिक शैली में कुचली हुई दूब आदि का हवाला देकर प्रकट करता है। वह स्वयं इस तरह के प्रयत्न से दूर है। उपन्यास के अन्त में एक धनी सुसंस्कृत महिला से उसका विवाह हो जाता है। "प्रेमाश्रम" का-सा यह काल्पनिक समाधान उपन्यास को कमज़ोर बनाता है। उस कमज़ोरी की जड़ नायक का सीमित अनुभव और उसकी चरित्रगत विशेषता है जो उसे अभी कर्मक्षेत्र से दूर रखे है। लेकिन जनसंगठनों से दूर रहने वाले एक दुखी और मुसीबत के मारे नौजवान पर भी कितनी आसानी से कम्युनिस्ट होने का अभियोग लगा दिया जाता है! इसका अर्थ यह है कि 'फ्री वर्ल्ड' में स्वाधीन होने का सपना देखना भी पाप है; 'फ्री वर्ल्ड' के रखवालों की न्याय-व्यवस्था का शाब्दिक विरोध करने पर भी कम्युनिस्ट का बिल्ला लग जाता है। कम्यु-

निज़्म कितना बड़ा पाप है और कम्युनिस्ट होना कितना बड़ा देशद्रोह और मानवद्रोह है, इसका प्रचार करने के लिये देश-विदेश में कितना धन और शक्ति नहीं व्यय की गयी ? लेकिन पुलिस ऑफीसर के आरोप से विचलित न होकर युवक उत्तर देता है, "यही तो आपका ब्रह्मास्त्र है।" इससे स्पष्ट है कि किसी को कम्युनिस्ट कहकर मुँह बन्द करने की कोशिश संगठित झुठाई और सामूहिक अत्याचार की रक्षा करने की ही कोशिश है।

कम्युनिज़्म का भय दिखाकर जनता को आतंकित करनेवालों में पूँजीपति ही नहीं, पुरानी समाज-व्यवस्था में ऊँच-नीच के भेदभाव से लाभ उठाने वाले रूढ़िवादी लोग भी हैं। इन्हीं के प्रतीक रूप में "जहाज़ का पंछी" में एक बाबा जी हैं जिनका पुरानपंथियों में बड़ा आदर है लेकिन जिन्हें नयी पीढ़ी तंग करती है। बाबाजी के लिये वर्तमान युग शूद्रयुग है; अत्याचारों से पृथ्वी भारग्रस्त हो रही है। मन्दिरों में हरिजन-प्रवेश शूद्रों के मदोन्मत्त होने का लक्षण है। "गो जाति का जो विविध प्रकार से निबेतिन हो रहा है उसके मूल में यही शूद्र हैं।.......सारे संसार में आज जो कमऊनसम का मत फैलने जा रहा है........" एक लड़का बाबा जी की बात काटकर उनका आशय स्पष्ट करने के लिये पूछता है, "आपका आशय क्या कम्युनिज़्म से है?" बाबाजी उबल पड़ते हैं "यह कमऊनसम शूद्रों के मत के सिवा और क्या है?" सतयुग से पतित होते-होते कलियुग में शूद्रों के राज की कल्पना से त्रस्त होकर भारतीय संस्कृति के महान रक्षक बाबाजी पुकार उठते हैं; "शूद्रहन्ता कृष्ण ! जल्दी अवतार प्रभो !"

एक युवक शूद्र विदुर के यहाँ कृष्ण के भोजन करने की बात कहता है, तो बाबाजी कुछ हताश होकर कहते हैं, "मैं जानता हूँ, तुम लोग सब कमउन-नष्ट हो गए हो। हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण ! क्या समय आया है। न जाने इन अभिशप्त आँखों को अभी क्या-क्या देखना बाकी है!" समाज के रूढ़िवादी, ऊँच-नीच का भेदभाव करनेवाले, अपने वर्ग-स्वार्थों के अनुकूल पुरानी संस्कृति की व्याख्या करनेवाले और धार्मिक अन्धविश्वासों के बल पर मुफ्त की मौज मारनेवाले लोग पूँजीपतियों और न्याय-व्यवस्था की रक्षा करने वालों के साथ कम्युनिज़्म का भय दिखाकर हर प्रगतिशील विकार को

दबा देने की कोशिश करते हैं। भारतीय समाज में वर्ग-संघर्ष का यह एक रूप है। इस संघर्ष में सही रास्ता न पहचान कर अनेक युवक कुंठावाद को जीवन का महान् सत्य कहकर उस सामाजिक सच्चाई पर पर्दा डालना चाहते हैं, जो "जहाज़ का पंछी" में इतनी तीव्रता से प्रकट हुई है।

न्यायालय में उपन्यास का नायक पुलिस के अत्याचारों के बारे में कहता है, "ऐसा समाज जिसमे पुलिस वालों को इस बात की खुली छूट दे दी गई हो कि किसी भी आदमी को—विशेषकर किसी अव्यवस्थित और निःसंबल आदमी को—जिस हद तक भी चाहे परेशान कर सके और दो जाली गवाहों को खड़ा करके उसे चोर या खूनी तक साबित कर सके........।" हमारी न्याय-व्यवस्था की हकीकत यह है। वर्ग-स्वार्थों की रक्षा करने के लिये यह न्याय-व्यवस्था हर तरह के आतंक से काम लेने के लिये तैयार रहती है। उसकी आलोचना और उसके आतंक के विरोध को कम्युनिज़्म कहकर दबाया जाता है। जहाँ तक मनुष्य को काम करके रोटी-कपड़ा जुटाने की सुविधा देने का प्रश्न है :—

"वह युग और वह समाज जो किसी आदमी को इतनी भी सुविधा दे सकने में असमर्थ हों कि वह ईमानदारी से अपनी योग्यतानुसार काम करके अपने लिए दो रूखी-रोटी सुबह और दो रूखी-रोटी शाम को प्रबन्ध कर सके और एक कोना रात में आराम करने के लिए पा सके........।" एक ओर विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति और धनी वर्गों के हाथ में सुख-सुविधा के अपार साधन हैं, दूसरी ओर सोने के लिये एक कोने और पेट भरने के लिये दो रूखी रोटियों का अभाव है। ऐसी विषमता हमारी समाज-व्यवस्था में विद्यमान है। समाज में अनाचार का मूल कारण यह विषमता है। उपन्यास का नायक इस सही नतीजे पर पहुँचता है, "समाज में प्रति दिन जो अपराधों और दुष्कर्मों की संख्याएँ बढ़ती चली जा रही हैं, उसका प्रधान कारण आज के युग की यही सहानुभूति-रहित, समवेदना शून्य प्रवृत्तियाँ, विषम सामाजिक परिस्थितियाँ और सामूहिक भ्रष्टाचार ही हैं।"

उपन्यास में एक बहुत ही प्रभावशाली और आकर्षक पात्र करीम चाचा है। वह भारत की उस साधारण मानवता के प्रतीक हैं जिसका हृदय कभी

करुणा से रिक्त नहीं हुआ, मनुष्य के भाईचारे में जिस की आस्था कभी नहीं डिगी ? प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यासों में मुसलमान पात्रों का ऐसा सफल चित्रण बहुत कम देखने को मिलेगा। लेखक ने साधारण हिन्दुओं और मुसलमानों में मानवतावाद की एक ही अन्तर्धारा प्रवाहित होते देखी है। करीम चाचा को देख कर मनुष्य की क्षमता में आस्था दृढ़ होती है। उपन्यास के नायक के जीवन में और व्यक्ति भी आते हैं। जीवन की घिनौनी वीभत्सता के बीच होकर उसे आगे बढ़ना होता है किन्तु उसकी आस्था और भी सशक्त होती है। अनास्था और कुंठा से पराजित युवकों को मानों ललकारता हुआ वह कहता है, "देशव्यापी भ्रष्टाचार और सामूहिक हाहाकार के प्रति जो घोर जड़ता-भरी उदासीनता आज के समर्थ वर्गों में पाई जाती है उसका कहीं भी अन्त या सीमा न देख कर और असमर्थ पीड़ित वर्गों की विद्रोही चेतना को निरन्तर निर्दयता से कुचले जाते देखकर, मेरे मानसिक वातावरण के चारों ओर जो घने अन्धकार के बादल तह-पर-तह छाये हुए थे, वे आज जैसे फट पड़े। मुझे लगा कि युग के सामूहिक सामाजिक सत्य का गला विश्व की संगठित शक्तियाँ भी नहीं घोंट सकेंगी और जितना ही अधिक उसे कुचला जायगा, उतनी ही प्रबलता के साथ वह उल्टे-सीधे चक्करों से जन-मन पर अधिकार करता चला जायगा और फिर एक दिन वह आयेगा कि जन-मन को रौंदने वालों के मनों पर भी वह जादू की तरह चढ़कर बोलेगा। बोलेगा क्यों, बोलने लगा है........।" उपन्यास का नायक स्वयं उल्टे-सीधे चक्करों से होकर इस विश्वास तक पहुँचा है। यह सत्य उसके जीवन की कठिन परिस्थितियों से ही उत्पन्न हुआ है। इसीलिये वह इतने प्रभावशाली ढँग से व्यक्त हुआ है। उपन्यासकार ने इस सत्य को गणित की समस्या की तरह हल न करके उसे अनुभवों की धरती से उगता हुआ सजीव और कलात्मक ढंग से चित्रित किया है। इसीलिये "जहाज़ का पंछी" हिन्दी कथा-साहित्य की प्रगति का महत्वपूर्ण मार्ग-चिह्न है और वह हिन्दी उपन्यासों के विकास की नयी दिशा की ओर संकेत करता है।

"जहाज़ का पंछी" में एक जगह पागलों का चित्रण है। एक स्वामी जो इन पागलों के बारे में उपन्यास के नायक से कहते हैं,

"जहाँ स्त्री रोगिणियाँ अधिकतर दाम्पत्य-जीवन-सम्बन्धी कारणों से मानसिक संतुलन खोए बैठी हैं, वहाँ पुरुष रोगी अधिकांशतः आर्थिक कारणों से दिमाग की बीमारी से पीड़ित दिखाई देते हैं।" अमृतलाल नागर का उपन्यास "बूँद और समुद्र" मानो इसे सत्य की विस्तृत व्याख्या करता है। व्यक्तिगत संपत्ति पर आधारित समाजव्यवस्था इतनी गल गई है कि उसकी सड़ाँध में मनुष्य का पागल हो जाना मानों स्वाभाविक क्रिया हो गई है। "बूँद और समुद्र" में दाम्पत्य जीवन के असन्तुलन से उत्पन्न होने वाली कुंठाओं का सजीव चित्रण है। हिस्टीरिया से पीड़ित युवतियाँ और पागल युवकों की झलक इस उपन्यास में भी देखने को मिलती है। स्वामी जी की तरह रामजी बाबा पागलों की सेवा करते हैं। स्वामी जी की तरह उन्हें भी मनुष्य के भविष्य में दृढ़ विश्वास है।"बूँद और समुद्र" के पात्र अपनी आस्था के लिये भारतीय संस्कृति के मानवतावादी सूत्र खोजते हैं। भारतीय संस्कृति के नाम पर अन्धविश्वासों की पूजा करने वाले दोनों उपन्यासों में है। दोनों ही उपन्यासों में भारतीय संस्कृति का मूल सूत्र मनुष्य की सेवा के रूप में सामने आता है। भारतीय संस्कृति के इस तत्व को अपने जीवन में चरितार्थ करने वाला व्यक्ति आस्थाहीन और निराश कैसे हो सकता है? "जहाज़ का पंछी" के स्वामी जी अदम्य तेज और अडिग विश्वास से कहते हैं, "वह दिन दूर नहीं है जब इस देश की जनता संकीर्ण धार्मिक उलझनों और सामाजिक विषमताओं से मुक्त होकर भौतिक उन्नति और आर्थिक समस्थिति प्राप्त कर लेने के बाद सारे संसार को अपने महान् आदर्श की छत्रछाया में खींचकर पीड़ित विश्व-मानवता के अन्तिम उद्धार का बीड़ा उठाएगी। आज संसार में सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जितने भी महत्वपूर्ण और परस्पर-विरोधी लगने वाले 'वाद' फैले हुए हैं, वे इस देश की महासंस्कृति के मूल सूत्र में गुँथ कर एक दिन एक महावाद की समग्र मानवता को सामूहिक रूप से, समान उद्देश्य से, आगे बढ़ाने में समर्थ होंगे, यह ज्वलन्त सत्य कल आने वाले प्रभात की तरह निश्चित है।"

मानवता सामूहिक रूप से आगे बढ़े, उसका उद्देश्य समानता हो, पीड़ित विश्व-मानवता का उद्धार हो—यह आशा और फिर इस आशा के चरितार्थ

होने में विश्वास जिस व्यक्ति में नहीं है वह भारतीय संस्कृति के नाम पर शव-साधना ही करता है।

"बूँद और समुद्र" का एक प्रमुख पात्र सज्जन "जहाज़ का पंछी" की धनी महिला लीला की तरह संपत्ति-दान करके समाज-सेवा का व्रत लेता है। व्यक्तिगत प्रयत्न महत्वपूर्ण है किन्तु वह जनता के संगठन और उसके सामूहिक प्रयत्नों की जगह नहीं ले सकता। सम्पत्तिदानियों की भारत में कभी कमी नहीं रही; फिर भी समाज से अनाचार और उत्पीड़न मिटा नहीं। स्पष्ट ही लीला या सज्जन का रास्ता कम्युनिज़्म का रास्ता नहीं है, फिर भी "बूँद और समुद्र" की आलोचना करते हुए श्री भगवतीचरण वर्मा ने उसे कम्युनिज़्म का प्रचारक माना है। इसका एक ही कारण समझ में आता है, अमृतलाल नागर ने व्यक्तिगत संपत्ति के संसार की जिस वीभत्सता का उद्‌घाटन किया है, उस अप्रिय सत्य को देखने की शक्ति रूढ़िवाद के प्रेमियों में नहीं है।

उपन्यास के अंदर भी कम्युनिज़्म का प्रश्न बार-बार और बड़े दिलचस्प ढंग से उठता है। मास्टर जगदंबासहाय के पाप से उनके भतीजे की विधवा पत्नी जल मरती है। लड़की कम्युनिस्ट समझी जाती है यद्यपि उसका संपर्क जन-नाट्य संघ से ही रहा है। लेखक के शब्दों में "लड़की के कम्युनिस्ट होने के शक को लेकर घर की तलाशी भी लगे-हाथ पुलिस ने कर डाली थी।" घरेलू अत्याचार की छानबीन करते हुए न्याय-व्यवस्था की रक्षक पुलिस अपना राजनीतिक कर्त्तव्य नहीं भूलती। जहाँ तक उस जली हुई स्त्री से सहानुभूति का संबंध है, दरोगा साहब सिपाही से कहते हैं "ज़रा यार देखो तो जा के अन्दर—वो साली मरी कि नहीं।"

कम्युनिस्ट होने के शक पर घर की तलाशी लेने वाली न्याय-रक्षक संस्था का मानवतावादी रूप यह है। इसके साथ समाज के रूढ़िवादी हैं। जगदंबा सहाय की हरकतों पर पर्दा डालते हुए और उनके लिये उल्टे कम्युनिस्टों को दोषी ठहराते हुए ऐसे लोगों पर पर्चा निकाला गया है। उसकी शुरुआत यों होती है "रहस्योद्‌घाटन! रूस के एजेण्टों की काली करतूत! जनता कम्युनिस्टों से सावधान रहे!...विदेशी सभ्यता की हवा में

पले हुए, ईश्वर, धर्म-कर्म, पाप-पुण्य का विवेक न रखने वाले आंग्ल शूद्र कम्युनिस्ट अपने स्वार्थ के लिए नीच से नीच काम तक कर सकते हैं।" रूढ़िवादी स्वार्थों की रक्षा के लिये कोई भी अस्त्र अन्यायपूर्ण नहीं है! घटिया से घटिया स्तर पर महा असत्य का सहारा लेकर वे ईश्वर, धर्म और भारतीय संस्कृति की रक्षा करते हैं!

महिपाल चुनाव के हुल्लड़ से परेशान है। वह समाज में आमूल परिवर्तन चाहता है। कहता है, "जब तक समाज में यही सब पापाचार होता रहेगा तब तक आपके ये एलेक्शन और पार्टियाँ सब बेकार हैं।" महिपाल यह नहीं जानता कि समाज-व्यवस्था बदलने के लिये—या उसकी रक्षा करने के लिये—ही पर्टियाँ बनती हैं। फिर भी समाज-व्यवस्था के प्रति उसका असन्तोष मूल्यवान है। उपन्यास में उसका चित्रण देखकर पाठक के मन में व्यवस्था को बदलने का संकल्प उत्पन्न होता है। एक रूढ़िवादी सज्जन को समाज के न बदलने में वैसी ही आस्था है जैसी महिपाल में उसे बदलने की उत्कट अभिलाषा। कहते हैं, "जिसकी लाठी उसकी भैंस। राज सदा ऐसे ही होगा चाहे कोई पार्टी आय; और परजा भी ऐसी ही बनी रहेगी, पाप भी रहेगा, पुन्य भी रहेगा—ये तो सब भगवान् के बनाये खेल हैं। इन्हें कौन बदल सकता है? इत्ते-इत्ते बड़े रिशी-मुनी हुइ गये, रामचंद जी और सिरीकिशन जी ऐसे-ऐसे औतार भये, तब भी दुनिया न बदली साली—अब क्या बदलैगी?" रूढ़िवाद के इस स्वर को चुनौती देते हुए नवयुवक राधेश्याम कहता है, "बदलेगी लाला। अब कम्युनिस्ट आकर बदलेंगे। ये पूँजीवादी खेल अब नहीं चलेगा जादा दिन।" लाला गुलाब चंद तुरन्त अपना ब्रह्मास्त्र सँभालते हैं। कहते हैं, "यार, तुम तौ दिन पर दिन कामरेड स्टालिन हुए जाते हो। अमाँ, अपने बाल-बच्चों, नौकरी का भी ध्यान रक्खो यार—ये कांग्रेस गवर्मेन्ट है।" राम और कृष्ण के उपासक नौकरी जाने का भय दिखाकर राधेश्याम को चुप करने का प्रयत्न करते हैं, उनकी धमकी का जवाब महिपाल यों देता है, "कोई गवर्मेन्ट हो, बाबू गुलाब चन्द, दिलजले की आह किसी के रोके से नहीं रुक सकती। मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ, पर आप विश्वास मानिये जब यह सुनता हूँ कि रूस में

बिल्कुल बेकारी नहीं है, हर आदमी काम और रोटी पाता है तो मेरा भी जी चाहता है कि हिन्दुस्तान में कम्युनिज़्म आ जाय।" रूस एक तरह से उस भविष्य का प्रतीक बन गया है जिसकी आशा लेकर ग़रीबी और भुख-मरी में आदमी संघर्ष करता और जीता है।

समाजवाद में व्यक्ति की स्वाधीनता का सवाल उठता है। महिपाल जवाब देता है कि पूँजीपतियों की सरकारें सारी दुनिया को भूखा मार रही हैं; "इन्होंने ही व्यक्ति को कौन-सी स्वतंत्रता दे रक्खी है? जिस डिमाक्रेसी की ये बात करते हैं, वह कहाँ है?" स्वाधीनता और जनतंत्र का अर्थ चुनाव में हल्ला मचाना नहीं है। जनता का आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर ऊँचा करना और उसे अपने सामाजिक जीवन के संचालन के योग्य बनाना, स्वाधीनता को चरितार्थ करना है। जनतंत्र हमारे आये दिन के व्यवहार में प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिये। जनता से अलग शासनतंत्र की सत्ता वर्गयुक्त समाज के राज्यतंत्र की विशेषता है।

सज्जन को दृढ़ विश्वास है कि "कम्युनिस्ट कभी जिम्मेदार आदमी नहीं होते।"वनकन्या सीधा उत्तर देती है, "आपकी लॉजिक भ्रान्त है?" लेकिन वनकन्या आगे कहती है कि कम्युनिस्ट पार्टी ने भी उसकी भाभी के जलने की दुर्घटना को राजनीतिक रूप से ही इस्तेमाल किया। उसे इस बात का मलाल है कि "हमारी नज़र अब सिर्फ़ पोलिटिकल रह गई है।" यहाँ वन-कन्या इस बात की ओर संकेत करती दिखाई देती है कि सामाजिक पुनरुत्थान के लिये राजनीतिक कार्यवाही काफ़ी नहीं है; विभिन्न राजनीतिक पार्टियों को—विशेष कर कम्युनिस्ट पार्टी को—सामाजिक जीवन की समस्याओं को हल करने की कोशिश करना चाहिये। वनकन्या की यह आकांक्षा दुरुस्त है। लेकिन वह और उसके अन्य साथी राजनीतिक कार्यवाही को एक-दम निरर्थक मान बैठते हैं, यह भी ठीक नहीं। वह कहती है, "जिस व्यक्ति की पीड़ाओं का सामूहिक रूप में दर्शन कर ये राजनीतिक सिद्धान्त बने हैं, उसकी अनुभूति, उसकी तड़प भी अब हमारे मन से निकल गई है।" प्रश्न व्यक्ति की पीड़ाओं का नहीं है, उनका अपना सापेक्ष महत्व है। "बूँद और समुद्र" में जिस पीड़ा और वीभत्सता का चित्र खींचा गया है, उसका कारण

समाज-व्यवस्था है। उस व्यवस्था को बदलने के लिये सामूहिक प्रयास और राजनीतिक कार्यवाही आवश्यक है।

वनकन्या अपने पिता को गिरफ़्तार करा देती है। सज्जन को उसके धनी मित्र भड़काते हैं। उसके वर्ग-संस्कार जागते हैं। वनकन्या को अपने पिता के अन्याय के खिलाफ़ लड़ता देखकर सज्जन को लगता है कि उसकी नज़र केवल राजनीतिक रह गई है। पिता-पुत्री का संबंध भूलकर वह सारी समस्या पर केवल राजनीतिक दृष्टि से विचार करने लगी है। वनकन्या के ही तर्क से उसे परास्त करते हुए वह कहता है, "तुम पोलिटिकल खेल खेल रही हो। तुम कम्युनिस्ट पार्टी को फ़ायदा—।" वनकन्या अपनी सफाई देती है, "मैं अपने केस को पॉलिटिक्स से बचाने के लिये शुरू से ही कितनी कोशिश कर रही हूँ।" सज्जन चुप रहता है पर वनकन्या की बात का विश्वास नहीं करता। वर्ग-हितों और वर्ग-संस्कारों को धक्का लगते ही वह अपनी प्रेमिका पर भी कम्युनिस्ट पार्टी को फायदा पहुँचाने का आरोप लगा देता है। और सज्जन चित्रकार है, मोहल्ले के जीवन का अध्ययन करने के लिये खास तौर से कोठी छोड़कर बस्ती जाता है। यहाँ भी वर्ग-हितों में विरोध उठ खड़ा होता है।

चुनाव-चर्चा के दौर में वनकन्या कहती है, "स्त्रियों के साथ अन्याय करना मानवता के प्रति घोर गद्दारी है।" भला स्त्रियों का मानवता से क्या संबंध? वनकन्या की बात सुनते ही "एकमात्र राष्ट्रीय संस्था" के ठेकेदार बोल उठते हैं, "तो आप शायद कम्युनिस्ट पार्टी—।" लाला नगीनचंद वनकन्या का समर्थन करते हैं, तो उन्हें भी सुनने को मिलता है, "तुम भी अब पक्के कम्युनिस्ट हो गए हो, कर्नल!" शताब्दियों से सामन्ती व्यवस्था में सतायी जाती हुई नारी के प्रति न्याय करने का सवाल कम्युनिज़्म की हिमायत का सवाल बन जाता है! और क्यों न बने? मनुष्य के समूचे सांस्कृतिक विकास का परिणाम है कम्युनिज़्म, वह व्यवस्था जिसमें वर्गगत और परिवारगत अन्याय और उत्पीड़न का अन्त हो जायगा। इसलिये प्रगति की ओर बढ़ा हुआ हर क़दम कम्युनिज़्म लाने में सहायक होता है और ऐसे हर क़दम में प्रतिक्रियावादियों को आसन्न मृत्यु के दर्शन होते हैं।

एक जगह वनकन्या और सज्जन में बहस होती है। वनकन्या का विचार है, "पूँजीवाद का नाश करने के लिये व्यक्तिगत धन-संग्रह और उत्तराधिकार की भावना को नष्ट करना होगा।" सज्जन कम्युनिस्टों की आलोचना करता है कि उन्होंने कुछ नहीं किया। वनकन्या गांधीजी के चेलों की आलोचना करती है कि वे भी मखमली कुर्सियों पर अपने वादे भूल गये। सज्जन की राय में कम्युनिज़्म का आदर्श जनता को अपनी ओर खींच नहीं सका। वनकन्या कहती है, "आज एक ज़बर्दस्त परिवर्तन तो मैं यहीं पाती हूँ कि हर आमो खास की ज़बान पर यह बात चढ़ गई है कि इस मुनाफ़ाखोरी का अन्त करने के लिए कम्युनिज़्म आयगा—" सज्जन इसका श्रेय रूस और चीन को देता है और कहता है, "पार्टी का कोई भी आन्दोलन अब तक कम-से-कम उत्तर भारत में तो अपना प्रभाव डाल नहीं सका।" इन दोनों बातों में सत्य का अंश है। रूस और चीन का गहरा असर भारतीय जनता के मन पर पड़ा है। साथ ही कम्युनिज़्म के प्रति जनता में जो उत्सुकता पैदा हुई है उसका श्रेय यहाँ के कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को भी है। मेरठ षडयंत्र, सन् ४६ का शक्तिशाली आन्दोलन, स्वाधीन भारत में मज़दूर वर्ग और जनता के अन्य हिस्सों के संघर्ष आदि कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका के बिना समझे नहीं जा सकते। हिन्दी-भाषी प्रदेश सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ इलाका है। यहाँ कम्युनिज़्म का व्यापक प्रभाव नहीं फैला, तो इसके ऐतिहासिक कारण हैं। फिर भी यहाँ के लोग उसी मिट्टी के बने हैं जिसके अन्य भारतवासी बने हैं। केरल, आन्ध्र और बंगाल, रूस और चीन नहीं है। वहाँ की जनता के काफी बड़े हिस्से की चेतना पर समाजवादी विचारधारा का असर पड़ चुका है। जो आज वहाँ हुआ है, वह कल यहाँ कभी होगा। इसमें निराश होने की बात क्या है? "आज का समय ही बौनों का है—" 'अज्ञेय' की तरह सज्जन का यह तर्क उस जैसे पात्रों के लिये ही उपयुक्त है।

लाला मुसद्दीमल की राय दूसरी है। सज्जन को जहाँ कम्युनिज़्म का असर ग़ायब दिखाई देता है, वहाँ मुसद्दीमल को ज़माना ही कम्युनिज़्म का दिखाई देता है। सोशलिस्ट राधेश्याम पैसेवालों की काली करतूत की बात करता है तो कुंजीलाल मुनीम चिढ़ जाते हैं। उन्हें रोकते हुए मुसद्दीमल

कहते हैं, "किसके मुँह लगते हो कुंजीलाल! आजकल कमनिस्टी जमाना हैगा।" वास्तव में जनता की चेतना तेज़ी से बदल रही है। पुरान-पंथी लोग इस नयी चेतना को कम्युनिज़्म कहते हैं। लेकिन इस चेतना के अनुरूप कम्युनिज़्म अभी एक संगठित आन्दोलन नहीं बन पाया, यह ठीक है।

"बूँद और समुद्र" में सड़ती हुई सामन्ती समाज-व्यवस्था का यथार्थ चित्रण किया गया है। नारी के उत्पीड़न के चित्र देखकर पाठक का मन क्रोध और ग्लानि से भर जाता है। सज्जन या उपन्यास के अन्य पात्र चाहे जो समाधान रखें, पाठक के मन पर यही छाप पड़ती है, यह व्यवस्था ख़त्म होनी चाहिये। उपन्यास में जहाँ-तहाँ कम्युनिज़्म को लेकर जो बहस सुनाई देती है, वह उस वर्ग-संघर्ष की हल्की-सी आवाज़ है, जो समाज के दस पर्तों के नीचे भीतर-भीतर चल रहा है।

"बूँद और समुद्र" का परिवेश अधिक विस्तृत है। उसमें कुछ समय के लिए भी आनेवाले पात्र अपनी सजीवता से पाठक को मुग्ध कर देते हैं। उनकी बोली-बानी द्वारा उनकी चरित्रगत विशेषताएँ प्रकट करते हुए हास्य रस की निष्पत्ति में "बूँद और समुद्र" के लेखक ने हिन्दी के सभी कलाकारों को पीछे छोड़ दिया है। समाज की वीभत्सता को उद्घाटित करने में और पाठक के मन को झकझोरने में उसका सानी नहीं है। राजेन्द्र यादव का क्षेत्र अधिक सीमित है किन्तु उपन्यास की दिशा वही है। नारी के उत्पीड़न और उच्चवर्गों, विशेषकर "देशभक्त" पूँजीपतियों की संस्कृति की वास्तविकता चित्रित करने में राजेन्द्र यादव अमृतलाल नागर के साथ हैं। कुल मिलाकर उनका हीरो शरद सज्जन से अधिक मूर्ख है, लेकिन उपन्यास के अन्त में उससे अधिक चतुर सिद्ध होता है। जया वनकन्या की तरह उग्र विचारों की न होते हुए भी उससे अधिक सहृदय और दृढ़ विचारों वाली है। "बूँद और समुद्र" में रईस या बिगड़े हुए रईस दया और दान के आदर्श से आगे नहीं बढ़ पाते। इसके विपरीत राजेन्द्र यादव के उखड़े हुए लोग अपने वर्ग—मध्यवर्ग से उखड़कर सीधे मज़दूर वर्ग से ही टकराते हैं—उससे संघर्ष करने के लिए नहीं, नये भाईचारे के लिए। "बूँद और समुद्र" में लाला नगीनचंद सब से सहृदय पात्र हैं। अन्य पात्रों के उत्थान पतन के बीच वह

अपनी सहृदयता में प्रसन्न स्थलपद्म की तरह खिले रहते हैं। "उखड़े हुए लोग" का सज्जन इनका जोड़ीदार है। आरंभ में वह आधा सहृदय और आधा "सिनिक"—'यह तो संसार है, अपने काम से काम रक्खो,' इस दर्शन का हामी दिखाई देता है। उपन्यास के अन्त तक उसका यह सिनिकपन छूट जाता है और उसकी सहृदयता सप्तमी के चाँद से बढ़ते-बढ़ते पूनों का चाँद बन जाती है। सज्जन उस दिशा की ओर संकेत करता है जिस ओर मध्यवर्ग के उखड़े हुए लोगों को अन्त में चलना है।

राजेन्द्र यादव के उपन्यास की यह विशेषता है कि इसके अधिकांश पात्रों को जैसा हम आरंभ में पाते हैं, अन्त में उन्हें वैसा ही नहीं छोड़ते। शरद ने अपने मन में देशबन्धु जैसे नरपिशाचों की सभ्यता के बारे में जो भ्रम पाले थे, वे निर्मल हो जाते हैं। उसके चरित्र में जोश, ढुलमुलपन और धनी व्यक्तियों की शिष्टता से आतंकित होने की प्रवृत्ति है, वह भी दूर हो जाती है। जया की परनिर्भरता कम होती है और उसका आत्म-विश्वास दृढ़ होता है। दो व्यक्तियों के संपर्क में आकर सूरज उन्हीं को प्रभावित नहीं करता, वह स्वयं भी उनसे प्रभावित होता है। सूरज के कारण शरद उन आदमियों को पहचानना सीखता है जो धनी वर्ग की शिष्टता के दायरे से बाहर हैं। उसे मनुष्य पहचानना आता है। साथ ही शरद के साहसपूर्ण प्रेम का चित्र देखकर सज्जन को अपने असफल प्रेम की याद आती है। जीवन में असफलता और निराशा से भिन्न सफल प्रेम भी संभव है, यह यथार्थ उसके सिनिकपन को धक्का देता है। वह जिस समझौते की राह पर चल रहा था, उससे उसे घृणा होती है। किसी समय का अर्ध-सर्वहारा सूरज—गिरहकटी, किताब बेचने और पत्र का संपादन करने के बहुमूल्य अनुभवों वाला सूरज—मज़दूरवर्ग के साथ क़दम मिलाकर समाज-व्यवस्था को बदलने की नयी दिशा की ओर बढ़ता है।

वीभत्सता "उखड़े हुए लोग" में भी है। यहाँ भी नारी के साथ हर तरह का अनाचार करने वाले देशबन्धु नाम के एक सज्जन हैं। उनका ऊपरी व्यवहार विशुद्ध अहिंसावादी वैष्णव का है, जो बीसवीं सदी में राष्ट्रीय नेता भी बन गया है। आरम्भ में वह काफ़ी आकर्षक लगते हैं। कुछ समय

के परिचय के बाद उनके बारे में मन में शंकाएँ उठने लगती हैं। धीरे-धीरे माया के पर्दे उठते जाते हैं और अन्त में वह साक्षात् प्रकट होकर सभी भ्रम दूर कर देते हैं। पूँजीवादी संस्कृति का निरावरण करने की कला में देशबन्धु का चित्रण "गोदान" के राय साहब के पगचिह्नों पर चला है। देशबन्धु स्वाधीन भारत के सफल देशभक्त हैं। उनका चरित्र राय साहब से ज्यादा पेचीदा—कुछ-कुछ "प्रेमाश्रम" के ज्ञान-शंकर का सा है। लेखक ने छोटी-छोटी घटनाओं को जोड़कर बड़े सहज भाव से देशबन्धु के चरित्र की आन्तरिक वास्तविकता तक पाठक को पहुँचा दिया है। उपन्यास के अध्याय "बातें ? बातें !! बातें !!!" में शिष्ट, धनी, शिक्षित किन्तु दूसरों के परिश्रम पर जीने वाले वर्ग की बातों की झड़ी लगा दी गई है। इस वर्ग के विभिन्न स्तरों की संस्कृति कितनी असंस्कृत, उसकी शिष्टता कितनी अशिष्ट और समाज के लिये वह कितनी घातक है, इसका रोचक और जीवंत चित्र आँका गया है। अनेक छोटी-बड़ी घटनाएँ कथासूत्र को कहीं भी भंग किये बिना पाठक के अविश्वास को परास्त करती हुई उस क्लाइमैक्स की ओर बढ़ती हैं जिसमें कि पन्ना की आत्महत्या उस समय वीभत्सता की परम परिणति बनकर मन को क्षोभ और विद्रोह से भर देती है।

मायादेवी की बुढ़भस, कपिल के परिवार का रूढ़िवाद (महिपाल की पत्नी कल्याणी से मिलती-जुलती कपिल की देवी जी हैं), शरद और जया द्वारा नयी दिशा की खोज, मिल मालिकों, "राष्ट्रीय" नेताओं और पुलिस का एका, वन्दन, अभिनन्दन और असहाय क्रन्दन का संसार—"उखड़े हुए लोग" के सीमित दायरे में भी काफ़ी विविधता है। इस विविधता में कला का भविष्य क्या है—और उसका वर्तमान क्या है—यह समस्या राजेन्द्र यादव और अमृतलाल नागर दोनों लेखकों के सामने है। "बूँद और समुद्र" के 'विरहेश' जी तथा पूँजीपतियों के भोज की शोभा बढ़ाने वाले कवियों की तरह यहाँ 'चंपक' जी हैं, जिन्होंने चाँदी के सिक्कों के लिये अपना ईमान और उसके साथ अपनी कला बेच दी है। पत्रकार सूरज पूँजीपति की गुलामी करता है, लेकिन जिस दिन वह सच कहने पर तुल जाता है, उसे तुरन्त नौकरी से अलग किये जाने का नोटिस मिल जाता है। "आपकी सेवाओं

की 'बिगुल' को अब आवश्यकता नहीं है। कृपया सुबह सात बजे से पहले 'क्वार्टर' खाली कर दें।—देश बन्धु !" स्वाधीन भारत में पत्रकार की स्वाधीनता का वास्तविक रूप यह है !

पूँजीपतियों के राष्ट्र-प्रेम, संस्कृति-प्रेम और त्याग का मार्मिक चित्रण करने वाले इस उपन्यास में कम्युनिज़्म का सवाल उठना अनिवार्य था। सूरज पहले आधा सहृदय और आधा सिनिक है। ढोंग और फ़रेब से उसकी नफ़रत को कुछ लोग कम्युनिज़्म कहते हैं। "बिगुल" में पूँजीपति देशबन्धु का कीर्ति-गान करने वाला पत्रकार भी कम्युनिस्ट कहलाता है, उसी आधी सहृदयता के कारण ! वह कपिल की आलोचना सुनकर कहता है, "जैसे आपने मुझे पलायनवादी भाग्यवादी और अवसरवादी कहा न, ठीक वैसे ही कुछ लोग कम्युनिस्ट होने का फ़तवा सूरत पर चिपका देते हैं, तो क्या करें ? मुझसे पूछें तो मैं कोई वादी नहीं हूँ। मैं अनारकिस्ट था और 'निहलिस्ट' यानी शून्यवादी हो गया हूँ। ज़्यादा प्रतिक्रिया हुई तो शायद 'फासिस्ट' हो जाऊँ।" सूरज की इस बात में अत्युक्ति नहीं है। उसने काफ़ी ठोकरें खाई हैं; अब अपने ईमान को दाँव पर लगा कर वह अपना पेट भर रहा है। मनोबल टूटने पर ऐसे लोग फासिस्ट भी हो सकते हैं। लेकिन सूरज की आधी सहृदयता अभी उसे रोके हुए है। इस भूतपूर्व अनारकिस्ट और वर्तमान निहिलिस्ट को भी लोग कम्युनिस्ट कहते हैं, उसके बचे हुए ईमान के कारण जिसे भी ढोंग और फ़रेब बर्दाश्त न हो, उसे कम्युनिस्ट की संज्ञा देने मे पूँजीपति नहीं हिचकते !

हर तरह के अनाचार के दोषी देशबन्धु शरद को समझाते हैं कि कम्युनिस्ट अपनी नेतागिरी के लिये मज़दूरों को भड़काते हैं जिससे हड़ताल हो, गोली चले, मज़दूर मारे जायँ और वे नेता हो जायँ। कहते हैं, "सवाल तो, जैसा मैंने एक बार तुमसे शायद कहा भी था, नेतागिरी का है। लोग दस मरें या बीस, बस हमें नेता मान लिया जाय। अब बताइये इस मनोवृत्ति को आप कैसे सहेंगे ? बड़ी मोटी-सी मिसाल लोग देते हैं न, इन नेताओं के बारे में—अगर रूस में पानी बरसने लगे तो यह लोग यहाँ छाता लगायें। अपनी परिस्थितियाँ, अपना देश तो कुछ नहीं; बस जो वहाँ होता हो, सो

यहाँ कर डालने की धुन ! मैं कहता हूँ, आप लाख कोशिश कीजिये, जिन्दगी भर कोशिश कीजिये, हिन्दुस्तान रूस नहीं होगा, नहीं होगा। रूस में होते तो अब तक गोली से उड़ा दिये जाते।" भारतीय संस्कृति के इस समर्थन का उद्देश्य यह है कि मज़दूर हड़ताल न करें और देशबन्धु का वर्गशोषण बदस्तूर कायम रहे ! शरद विरोध करना चाहता है, लेकिन बेचारा "सुसंस्कृत" व्यक्ति है, "शिष्टता" को कैसे हाथ से जाने दे ? उसे चुप हो जाना पड़ा, इसलिये कि "कहीं व्यर्थ ही रूस की तरफदारी करने में देशबन्धु जी का आइडिया न बिगड़ जाय और उसके न चाहने पर भी 'रूसी एजेण्ट' की मुहर न लग जाय। यह एक ऐसी ट्रंप चाल है जिसे आपका विरोधी किसी समम चल कर आपको चकित-विमूढ़ कर देगा, कोई नहीं जानता।" शिष्टता का आर्थिक आधार यह है ! "मालिक" कहीं उसे रूसी एजेण्ट न कह दें ! पूँजी के स्वामी ने, मज़दूरों के श्रम से अर्जित अतिरिक्त मूल्य का संचय करने वाले ने, अपने पास यह ट्रंपचाल रख छोड़ी है—तुम कम्यूनिस्ट हो, तुम रूस के एजेण्ट हो ! कम्युनिस्ट-विरोध का यही रहस्य है।

इसीलिए "मज़दूर भाइयों" को सावधान करने वाले पर्चे में लिखा गया है—

"मज़दूरों को कम्युनिस्टों के चक्कर से बचना चाहिये, ऐसे पेशेवर उत्पातियों को पहचनवाओ और जल्दी पकड़वाओ। यह तुम्हारे बीच में कीड़े हैं, जो ज़हर फैला रहे हैं। ये इस बात की तनखा पाते हैं। तुम्हें भड़कायेंगे, लड़ायेंगे और मुसीबतों में डालेंगे—इनसे बचना हमारा फ़र्ज़ है। मज़दूर और मालिक का संबन्ध राज़ी और इच्छा का सबन्ध है, किसी से लड़कर आप कुछ नहीं ले सकते। उसके बनकर—उसके हृदय को जीतकर, उसके मन में घर करके आप जो चाहेंगे पायेंगे—यह सही रास्ता है। यही मार्ग हमारी भारतीय संस्कृति का मार्ग है और बापू जी का बताया मार्ग है। तोड़-फोड़ करनेवालों को कुचल दो।...." भारतीय संस्कृति का उपयोग पूँजी-पतियों के हितों की रक्षा के लिये इस तरह होता है।

उपन्यास में कम्युनिस्ट पार्टी से निकाले हुए एक सज्जन हैं। किताबों की दूकान खोलने के नाम पर पार्टी के एक हमदर्द का पैसा खा जाते हैं।

इस पर उन्हें पार्टी से निकाल दिया गया है। देशबन्धु को कम्युनिज्म की जीती जागती मिसाल मिल जाती है। "देखो, यह है कम्यूनिज्म !" कहते हुए वह उछल पड़ते हैं। शरद सोचता है "यही तो वे लोग हैं जो कम्यूनिज्म के नाम पर कलंक हैं।" लेकिन देशबन्धु को ऐसे कलंक की ही जरूरत है। उस व्यक्ति के पतन की कहानी से पहले उसे नीचा दिखाकर वह उसे अपनी ओर कर लेते हैं। उनकी प्रसन्नता का कारण बतलाते हुए शरद कहता है, "उन्होंने अपने सबसे बड़े विपक्षी एक कॉमरेड को फोड़ लिया था !" "दि गाड दैट फेल्ड" के "कम्युनिस्ट" इसी श्रेणी के लोग हैं। देशबन्धु ऐसे लोगों के हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझते। हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता वहाँ पड़ती है जहाँ उनके मुनाफे पर आँच आने को होती है। "आप साम्यवाद, साम्यवाद चिल्लाते हैं लेकिन मुझे बताइये, दो आदमियों की बाहरी सम्पत्ति आपने बराबर-बराबर बाँट दी—कल उनसे जो शक्तिशाली होगा, वही छीन लेगा। इसके लिये क्या इलाज है ? जब तक आप उसके मन और आत्मा को नहीं बदलते, इस ऊपरी उलट-फेर से फ़ायदा क्या है ? और जहाँ आपने मन बदल दिया, वहाँ ऊपरी परिवर्तन तो सब हो ही जायँगे। तो दुनिया में मन बदलने वाली सिर्फ़ एक किताब है—वह है गीता।" देशबन्धु गीता का उपयोग उस व्यक्ति का हृदय बदलने के लिये नहीं करते, जो दूसरे की जमा मार बैठा है। उसकी यह कमजोरी उनके लिये बहुत फ़ायदेमन्द साबित होती है। इसी तरह एक कवि महाशय जब अपना आत्म-सम्मान बेचते हैं, तब भी उसके ख़रीददार देशबन्धु गीता की बात नहीं सोचते।

पूँजीपतियों के हाथ में कला की क्या दशा होती है, यह समस्या अमृतलाल नागर और राजेन्द्र यादव दोनों लेखकों ने उठाई है। पूँजीपति चित्रकार सज्जन की कला से फ़ायदा उठाना चाहते हैं। कला की परख उन्हें खाक नहीं है लेकिन उसे राजनीतिक दाँव पर चढ़ाने के लिये वे तैयार हैं। चित्रों की प्रदर्शिनी हो रही है। "जिस समय हर एक्सीलेन्सी की गाड़ी सड़क पर रुकी उस समय राजा साहब के नेनृत्व में अनेक पैसे-वाले स्वयं-प्रतिष्ठित, अपने को बड़ा आदमी समझने वाले दस-बारह चुग़द खीसें निपोरते खड़े हुए थे।" प्रदर्शिनी में चित्रों की सजावट देखकर कलाकार को काठ मार

गया। "पचास तस्वीरें एक ही दीवार के पक्खे पर ऊपर से नीचे तक टाँग दी गई थीं। मूर्तियों का महत्व लाला लोगों की समझ में अधिक नहीं आया था, फिर भी एक मेज़ पर उन्हें भी रख दिया गया था। कमरे में सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने वाली एक ही चीज़ थी—राजा साहब की महफ़िल में फाटक पर बिजली के बल्बों की भारत-माता, जिनके हाथ के तिरंगे झंडे में घूमता हुआ चक्र चल रहा था।"

कलाकार लोग बहुत असन्तुष्ट हुए। "हर एक्सीलेन्सी, राजासाहब, दो चार तोंदियल ढपलू रईस और अफ़सर लोग एक नज़र डालकर कमरे से चलने लगे।" सम्पत्तिशाली वर्ग के हाथों कला की जो दशा होती है, उसका भव्य चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है। "ऐसा लगता था, मानों बिजली का तिरंगा झंडा दिखलाने के लिये ही इतनी कलाकृतियों को गुलाम बना कर उस कमरे में क़ैद किया गया है। तिरंगे झंडे की गुलामी करने से किसी कलाकार को तनिक भी आपत्ति नहीं हो सकती थी, बात तो यह थी कि भारतमाता और तिरंगे का उपयोग इस समय शिखंडी के रूप में हो रहा था। इसकी आड़ में चार धनी-धोरी कला को अपना ग़ुलाम—ग़ुलाम दर ग़ुलाम बना रहे थे।"

सज्जन इसके लिए रईसों का, जो लाट साहब की लिस्ट में प्रतिष्ठित नागरिक कहलाते हैं, एजेण्ट बन कर अपने कलाकार बन्धुओं का गला कटवा रहा है, इस प्रकार का रिमार्क भी कसा गया। निदान कलाकार विद्रोह कर बैठते हैं। अपनी तस्वीरें उतारकर वे दूसरी जगह प्रदर्शिनी का प्रबन्ध करते हैं। अलग प्रदर्शिनी करना आसान नहीं है। नगीनचन्द को ख़बर मिलती है, "तुम लोगों के खिलाफ़ ये इल्ज़ाम लगाया गया है कि चाल-चलन ठीक नहीं और किसी कम्युनिस्ट लड़की को तुम लोगों ने रख छोड़ा है। तुम लोग कम्युनिस्ट पार्टी से मिल गये हो। इसलिये कल जिस बखत तुम्हारी नुमाइश होगी उसी बखत लाला जानकीसरन के चबूतरे पर लाउडस्पीकर लगाकर, बाकायदा चार जाने-माने लोगों की बैठक करके तुम लोगों की बदचलनी का ऐलान किया जायगा।" कला इन्हें कितनी प्रिय है, कलाकारों की

स्वाधीनता इन्हें कितनी प्रिय है ! हाथ से कलाकारों के निकलते ही वे कम्युनिस्ट-विरोध का कीचड़ लेकर दौड़ पड़ते हैं ।

देशबन्धु अपने वर्ग के इन कला-प्रेमियों से अधिक चतुर हैं । चंपकजी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं, "इनकी कविताओं में जो एक शाश्वत-सत्य की खोज, और उसे प्राप्त करने की आकुलता है, और जिस आध्यात्मिक क्रान्ति की मूल चेतना है, वह उन्हें अमर बना देगी, क्योंकि वह भारतीय संस्कृति की असली चीज़ है । आप सोच सकते हैं, यह चीज़ें उसने लिखी हैं जिसे पता नहीं कि सन्ध्या को खायेगा क्या ? घर में एक दाना नाज का नहीं, लेकिन पठ्ठा मस्त है और लिख रहा है—क्या मजाल जो ज़रा भी तलखी आ जाय ? यह हमारे ऋषियों की परम्परा है, यह एकनिष्ठ एकाग्रता आज मिलती कहाँ है ?" देशबन्धु को वही सज्जन मिला होता, तो वह उसे चित्रप्रदर्शिनी समेत ख़रीद लेते । पूँजीपति हमेशा उतने मूर्ख नहीं होते, जितना लखनऊ के चौक के रईसों को अमृतलाल नागर ने दिखलाया है।

देशबन्धु जी की प्रशंसा सुनकर चम्पकजी आत्मविभोर हो उठते हैं। शुरू से ही वह इतने पतित नहीं रहे । देशबन्धु उन्हें याद दिला देते हैं, "वैसे बीच में एक दफ़ा यह बहक भी गये थे । इन कामरेड लोगों के चक्कर में आकर कुछ इधर-उधर की बातें लिखने लगे थे !" अब वह शाश्वत सत्य की खोज करने लगे हैं । उनकी साहित्यगोष्ठी में एक कमेटी बनाई गई है । उसके संयोजक चम्पकजी हैं । उद्देश्य है, "आपको किसी अवसर पर अभिनन्दन ग्रंथ देना चाहते हैं ।" आपको यानी देशबन्धु को !

कम्युनिस्ट पार्टी से निकाले हुए सज्जन के प्रति चम्पकजी की करुणा उमड़ आती है । "यह गैस्टापो लोगों के गुप्त संगठन जैसा रहस्य कब तक चलता रहेगा ?" वह जोश में पूछते हैं । और "शरद को लगता है जैसे चम्पकजी के भीतर से देशबन्धु जी की आवाज़ बोलने लगी है ।" कला यों बिकती है । देशबन्धु के यहाँ मंत्री जी की पार्टी होती है । वहाँ अपनी कविता सुनाने के पहले भूमिका बाँधते हुए चम्पकजी कहते हैं, "कविता का शीर्षक है 'रामराज्य' । इसमें मैंने बताने की चेष्टा की है कि पूज्य बापू का 'रामराज्य' कैसे राम के वास्तविक राज्य से श्रेष्ठ है—उसमें सीता को वन-

वास दिया गया, हम किसी सीता को बनवास नहीं होने देंगे, हम अपनी शोभा—श्री और सीता के विरुद्ध असम्माननीय बातें फैलाने वाले धोबियों, ग़द्दारों और देशद्रोहियों को चाणक्य की तरह समूल उखाड़कर उनकी जड़ों को मट्ठे से जला देंगे।" यह है कलाकार के दृष्टिकोण का वर्ग-आधार।

देशबन्धु और उनका वर्ग काफ़ी शक्तिशाली है। अमृतलाल नागर की तरह राजेन्द्र यादव ने भी दिखलाया है कि न्याय और शान्ति के रक्षक, एक वर्ग विशेष के रक्षक हैं। लेकिन राजेन्द्रयादव के उपन्यास में मज़दूर वर्ग की भी झलक मिलती है, उस वर्ग की, जो देशबन्धु के हाथ से समाज की बागडोर छीन लेने की तैयारी कर रहा है। लेबर आफ़िसर उनका मददगार है। पुलिस और मंत्री उनके साथ हैं। मज़दूरों को संस्कृति के नाम पर देने के लिये "कल्याण" और "अमेरिकन रिपोर्टर" हैं। फिर भी मज़दूर वर्ग को बरगलाने की कोशिशें बेकार होती हैं। न धमकियाँ कारगर होती हैं, न फ़ुसलाने की बातें। उनके पर्चों को खुरच-खुरच कर छुड़ाया जाता है, फिर भी ये अक्षर खुरचने से मिटते नहीं, मानों मज़दूरों के हृदय पर लिख दिये गये हों "मज़दूर-एकता ज़िन्दाबाद ! दुनिया के मज़दूरो एक हो !"

मज़दूरों की एकता देखकर उखड़े हुए लोगों के पैर भी जमते हैं। शरद सोचता है, "मज़ा तो आ जाय अगर मज़दूर जमे रहे ज़रा। सारी नेतागिरी और उपदेश भूल जायें।" शरद को दबाने वाले वही हैं, जो मज़दूरों पर दमन-चक्र चलाते हैं। मजदूर वर्ग की एकता से दिलचस्पी होना उसके लिये स्वाभाविक है।

उसे ख़ुद मज़दूरों से एका क़ायम करना चाहिये, यह सत्य उसके सामने तुरन्त स्पष्ट नहीं होता। उसके ढुलमुल मन का सुन्दर चित्रण करते हुए राजेन्द्र यादव ने उसके मन की कमजोरियाँ कुशलता से दिखलाई हैं। देश-बन्धु के साथ कार पर चलता हुआ वह सोचता है, "काश, इस समय इसके परिचितों में से कोई उसके रोब को देखता !" कई मज़दूर मारे गये हैं। उन्हें देखने के लिये देशबन्धु को जाते देखकर उसके मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। मज़दूरों का रुख दूसरा है, "बँधे शेर की भूखी निगाहों से वे उन्हें घूर

रहे थे।" लाशों पर से कपड़ा हटा दिया गया। मज़दूरों की निगाहें शरद और देशबन्धु पर पड़ीं। उस समय उसे अपनी वर्ग-स्थिति का पता चलता है। उसे किसके साथ खड़ा होना चाहिये, मज़दूरों के साथ या देशबन्धु के साथ? "सैकड़ों दृष्टियों के तीखे-तेज़ स्पर्श शरद को अपनी खाल पर महसूस हो रहे थे। अनजाने वह भी उन निगाहों का केन्द्र बन गया था!—जैसे देश-बन्धु जी के साथ वह भी इस अपराध में शामिल हो। उसकी आत्मा के बहुत भीतर से जैसे कोई बोला—'उसे कहाँ खड़ा होना चाहिये था—और वह कहाँ खड़ा है।" "बूँद और समुद्र" के सज्जन और महिपाल उस मंज़िल तक नहीं पहुँचे, जहाँ वे अपने से यह साफ प्रश्न करते और उसका साफ़ उत्तर देते। लेकिन कभी न कभी तो उन्हें या उन जैसों को इस प्रश्न का सामना करना ही होगा।

राजेन्द्र यादव ने दिखलाया है कि मज़दूर अपने साथियों को किस तरह प्यार करते हैं, उनमें घृणा की आग किस तरह जलती है, उनमें वह कौन-सी शक्ति पैदा हो रही है जो देशबन्धु और उनकी व्यवस्था को निर्मूल करने में समर्थ है। "एकबार हृदय की सारी घृणा, सारी नफ़रत को दृष्टि में भर कर उसने तीखी निगाह से देश-बन्धु जी को देखा, फिर सिर नीचे लटका लिया। जैसे वह निगाह बिजली की तरह कौंधती चली गई। अचानक कुर्ते का आगे का हिस्सा आँखों से लगा कर वह फूट-फूट कर रो पड़ा।"

देशबन्धु ने मज़दूरों के सामने बहुत ही प्रभावशाली भाषण दिया, लेकिन जब वह कार पर बैठकर चले, तब "मज़दूरों ने एक साथ हल्ला किया—भागा!" भाषण-कला बेकार साबित हुई—भागा!

शरद जया से कहता है, "लोग घुटते हैं, गलते हैं, छटपटाते हैं लेकिन ज़रा-सी हिम्मत नहीं कर पाते?" मज़दूरों की एकता का वह दृश्य याद करके कहता है, "मैंने तो आज तीन लाशें देखीं, बेहोश होते-होते बच गया, और वहाँ एक कोई और था जिसने लाशों से कपड़ा उठा दिया—उफ़ कैसी कड़क थी आवाज़ में। जब हज़ारों लोगों की आवाज़ समो कर आदमी बोलता है तो कैसी भाले-सी नुकीली और फ़ौलाद-सी ठोस आवाज़ हो

जाती है।" यह भारत की नयी अदम्य जन-शक्ति है जिसकी एक झलक शरद ने देखी है। देशबन्धु के काले कारनामे देखकर वह जया के साथ कलकत्ते से चल देता है। आगे वह क्या करेगा, पता नहीं। लोग घुटते हैं, छटपटाते हैं, ज़रा-सी हिम्मत नहीं कर पाते! उसकी हिम्मत देशबन्धु का साथ छोड़ने भर में है। सूरज उससे बहुत आगे बढ़कर भारत की उस नयी अदम्य शक्ति से नाता जोड़ता है। जिस समय मिल-मज़दूरों पर गोली चलती है, वह तै कर लेता है, उसे किसका साथ देना है। जया ठीक कहती है, "आज सूरजजी का सोया हुआ व्यक्तित्व जाग पड़ा है।"

सूरज आस्था का प्रश्न कैसे हल करता है? बहुत ठोकरें खाई हैं, बहुत ऊँच-नीच देखा है और मज़दूरों और पूँजीपतियों की टक्कर भी देखी है। शरद से कहता है, "सूरज जी की आँखों के सामने बिल्कुल साफ़ होता जा रहा है। होगा और ज़रूर होगा। फिर एक महाभारत होगा। कौरवों और पांडवों के दावे का अन्तिम निर्णय होने को है। पाप का घड़ा गले तक भर चुका है, और एक सौ एकवीं गाली पर जनता का सुदर्शन-चक्र इन शिशुपालों की गर्दन पर होगा।"

"बूँद और समुद्र" का महिपाल आत्महत्या करता है; सज्जन संपत्तिदान करके स्त्रियों के उद्धार का बीड़ा उठाता है। "जहाज का पंछी" का नायक संपत्ति-दान करने वाली धनी महिला से विवाह करता है। सूरज ने आस्था की समस्या दूसरे ढंग से हल की है। उससे सारी जनता की समस्या को अपनी समस्या बना लिया है। उसका समाधान है—शिशुपालवाद का खात्मा। वह पत्र का संपादक रह चुका है। वह पत्र उससे छिन गया है। वह फिर "बिगुल" निकालने की बात सोचता है। शरद टोकता है—बिगुल तो देशबन्धु का है, उसे सूरज कैसे निकालेगा? सूरज को सन बयालीस के दिन याद आते हैं। कहता है, "हमने फ़रारी और पाबंदी के दिनों में 'बिगुल बुलेटिन' निकाले थे—अब क्या वे हाथ बदल गये हैं? 'बिगुल' क्रान्ति की आवाज़ थी और रहेगी। 'बिगुल' हम निकालेंगे हम।" यह कहकर "सूरज जी ने छाती ठोंकी। शरद की याद में सूरज जी ने प्रथम

पुरुष सर्वनाम का पहली बार इतने शक्तिशाली ढँग से प्रयोग किया और वह विभोर देखता रहा।"

भारतीय समाज की यह नयी दिशा है, प्रगतिशील लेखकों की यह नयी दिशा है। हिन्दी कथा-साहित्य प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, निराला और प्रसाद की बनायी राह पर कुंठावाद के खाई-खन्दक पार करके उस मंज़िल तक पहुँचा है, जहाँ वह जनता में नयी चेतना और नया आत्म-विश्वास जगाता है। उपर्युक्त तीन उपन्यास उन तमाम लेखकों के लिये चुनौती हैं जो धर्मवीरता के नाम पर दर असल धुरीहीनता के शिकार हैं। बहुत कला को बचाया सामाजिक उथल-पुथल की लपेट से, बहुत बन्द किया उसे कुंठा-वादी दायरे में, बहुत बन्द किया प्रगतिशीलता के नाम पर एक प्रेमी और दस प्रेमिकाओं को अनाचार-प्रदर्शन में। हिन्दी की उपन्यास-कला इस कुहासे को भेदकर नयी शक्ति से उदय हो रही है। इस कला का आधार एक व्यापक सामाजिक सत्य है। अंग्रेजी राज में देश को आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा रखने की नीति के कारण यहाँ का प्राचीन रूढ़ि-वाद खत्म न हुआ। वरन् दिन पर दिन सड़ता हुआ वह सारे सामाजिक वातावरण को विषाक्त करता रहा। उपर्युक्त तीनों उपन्यासों में इन सड़े-गले रूढ़िवादी संबन्धों की तीव्र आलोचना की गई है। ये सम्बन्ध हमारे सामा-जिक जीवन के लिये कितने घातक हैं, इसका रोमांचकारी चित्रण "बूँद और समुद्र" में है। इन सामन्ती सम्बन्धों के रक्षक के रूप में देशबन्धु जैसे पूँजीपति हैं, जो अपनी दुरंगी नीति से कुछ समय तक जनता को भरमाने में सफल होते हैं पूँजीपतियों और मज़दूरों के सम्बन्धों का तनाव बढ़ रहा है। शासक वर्ग मुनाफ़ाखोरी नियन्त्रित करने के बदले न्याय और शान्ति-व्यवस्था के रक्षकों को मज़दूरों को दबाने और पूँजीपतियों के हितों की रक्षा के लिये इस्तेमाल करता है। यह वर्ग कला और कलाकारों का उपयोग भी भिन्न स्वार्थों के लिये करना चाहता है। जहाँ भी इस परिस्थिति के विरोध में कोई उठ खड़ा होता है, या उसके विरुद्ध मुँह भी खोलता है, उसे कम्युनिस्ट कह कर दबाने की कोशिश की जाती है। इस परिस्थिति को बदलने का सही रास्ता जन-साधारण की एकता और अपने अधिकारों के लिये उनका संघर्ष

है। इसकी ओर राजेन्द्र यादव ने "उखड़े हुए लोग" में संकेत किया है।

यह भी भारतीय संस्कृति है, यह भी सत्य और मानव-प्रेम की प्रतिष्ठा है। वे लेखक अभिनन्दनीय हैं, जो अपनी कला से हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते हुए मानव-मुक्ति के उस महान् उद्देश्य को भी चरितार्थ करने में सहायक होते हैं जिसकी ओर भारत की जनता क्रमशः बढ़ रही है। इस नयी दिशा की ओर हिन्दी का उपन्यास-साहित्य समर्थ गति से बढ़ेगा, इसकी आशा करना उचित है।

●

आदर्श साहित्य साधना : वृन्दावन लाल वर्मा

६ जनवरी १६५६ को गढ़ कुंडार, विराटा की पद्मिनी और झाँसी की रानी के लेखक का सत्तरवाँ जन्मदिवस है। हिन्दी के लिये यह एक महान् उत्सव का दिन है; हमारे लिये आनन्द और गर्व का दिन है। इस अवसर पर हम वर्मा जी का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं; भविष्य में और भी सफल श्रम के लिये शुभ कामनाएँ प्रकट करते हैं।

१६०८ में वर्मा जी का नाटक सेनापति ऊदल प्रकाशित हुआ था। १६५८ के समाप्त होने पर उनकी अनवरत और निःस्वार्थ साहित्य-साधना को पूरी अर्ध शताब्दी हो गई। बहुत कम साहित्यकारों के जीवन में ऐसी अर्ध-शताब्दी आती है जिसमें उनकी रचनात्मक प्रतिभा उद्दाम वेगवाली गंभीर सरिता की तरह ऊँची-नीची भूमि और ढूहों-चट्टानों को काटती-बहाती हुई सत्तर वर्ष की आयु में भी पूर्व के आत्मविश्वास और गंभीरता से प्रवाहित रहे। इसका बहुत कुछ श्रेय वर्मा जी के चरित्र की नींव डालने वाली उनकी माता जी को है।

जिन दिनों अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिये वह पाँच रुपये महीने की ट्यूशन करते थे और अपने शारीरिक गठन के लिये मंगलू उस्ताद के अखाड़े में कुश्ती लड़ते थे, उन दिनों पिता की डाट-फटकार सहकर अनबूझ राह पर आगे बढ़ने में उनकी माता ही उनका संबल थीं। बीस वर्ष के होने से पहले ही दुनिया के ऊँच-नीच का बहुत कुछ अनुभव उन्हें हो गया था। एक सब-इंस्पेक्टर के लड़के की ट्यूशन की; तीन हफ्ते पढ़ाया लेकिन मिला कुछ नहीं। तीन हफ्ते तक मुहर्रिर रहे। फिर पिता को नाराज करके उम्मीद-वारी से इस्तीफा दे दिया। पाँच-छः महीने जंगलात के मोहकमे में पच्चीस रुपये माहवार पर नौकरी की। यह नौकरी भी छोड़ी और पढ़ने का विचार किया। माँ ने अपने गहने और कुछ जुगो कर रखी हुई मोहरें बेचकर उन्हें पढ़ाने का आश्वासन दिया। झाँसी की प्रसिद्ध शिक्षा-संस्था मैकडनल हाई

स्कूल (अब बिपिन बिहारी इंटर कालेज) के अलावा वर्मा जी ने ग्वालियर और आगरे में शिक्षा पायी। वह अब भी आगरे के स्वर्गीय हनुमन्तसिंह रघुवंशी को कृतज्ञता के साथ याद करते हैं जिन्होंने उनके लिये ट्यूशन आदि का प्रबंध कर के उनकी सहायता की थी।

वर्मा जी ने किन परिस्थितियों में अपना अध्ययन जारी रखा होगा, इसका अनुमान इसी बात से हो सकता है कि १९१६ में वकालत शुरू करने से पहले तक उन्होंने कभी ऊनी कपड़े न पहने थे।

साहित्य और कला, विशेषकर नाट्यकला की ओर उनकी रुचि बचपन से थी। १९०३ में उन्होंने अनूठे देवेश नाम का एक सामाजिक उपन्यास लिखा। फिर बुद्धिमानी से उसे फाड़ कर फेंक दिया। १९०४ में उन्होंने नरान्तक वध नाम का पौराणिक नाटक लिखा। इस समय वह परम वैष्णव थे। आगे चलकर वह आर्य-समाजी हुए और संभवतः पोपलीला के प्रति भूतपूर्व प्रेम से असन्तुष्ट होकर १९१६ में वह नाटक फाड़ कर पानी में सड़ा दिया। १९०५ में अपने चाचा बिहारीलाल का अधूरा लिखा हुआ राम वनवास नाम का नाटक पूरा किया। इस वर्ष उन्होंने और चार नाटक भी लिखे। इनमें से तीन इंडियन प्रेस को छपने के लिये भेजे। वहाँ से पचास रुपये का पुरस्कार भी आ गया जिसे अपने साथियों को मलाई-रबड़ी खिला-कर उन्होंने बहुत जल्दी समाप्त कर दिया। छपा उनमें से एक भी नहीं; न बाद में प्रयत्न करने पर एक भी फिर प्राप्त हुआ।

नाटक लिखने और खेलने से उन्हें बचपन से ही प्रेम था। १९०२-०३ में धोतियाँ बाँध कर वह रामलीला किया करते थे और उसमें हनुमान जी का पार्ट करते थे। उन दिनों गरौठा में एक महाराष्ट्र नाटक-मंडली आयी थी। उस मण्डली में स्त्रियाँ भी अभिनय करती थीं। उसके अभिनय से वह बहुत प्रभावित हुए थे। आगे भी वर्मा जी रंगमंच पर आये; पन्ना दायी और स्वर्गीय बदरीनाथ भट्ट के चुङ्गी की उम्मीदवारों आदि नाटकों में उन्होंने अभिनय किया। तीस वर्ष की आयु के बाद उन्होंने रंगमंच छोड़ दिया लेकिन नाटक लिखने और देखने में दिलचस्पी बराबर बनी रही। अभी भी

वह उत्तर प्रदेश के जन नाट्यसंघ तथा उसकी झाँसी वाली शाखा दोनों के सक्रिय सभापति हैं।

१६०५ के आसपास उनका झुकाव क्रान्तिकारी विचारधारा की ओर हुआ। कांग्रेस की सुधारवादी नीति से भिन्न उनका स्वाभाविक रुझान सशस्त्र क्रान्ति की ओर था। उस समय के सशस्त्र क्रान्तिकारियों की लगन और संघर्ष से वह प्रभावित हुए। इसी प्रभाव में उन्होंने १६०७ में सेनापति ऊदल लिखा जिसमें उन्होंने देश द्रोहियों के वध को उचित ठहराया। इन्हीं दिनों प्रेमचन्द ने "सोज़े-वतन" लिखा था और अंग्रेजी सरकार ने इसकी प्रतियाँ जलाकर साहित्य-क्षेत्र में नवाबराय का स्वागत किया था। १६०८ में नवलकिशोर प्रेस से सेनापति ऊदल प्रकाशित हुआ और अंग्रेज सरकार ने उसे जब्त कर लिया। वर्मा जी ने महोबा संग्राम नाम का दूसरा नाटक लिखा था जिसमें जनता की वीरता का चित्रण था। नवलकिशोर प्रेस ने उसे न छापा; न फिर उस नाटक का पता चला।

पढ़ने का चाव भी बचपन से नहीं तो लड़कपन से था। अठारह-उन्नीस साल की अवस्था से उन्होंने विधिवत्—जहाँ तक उन जैसे व्यक्ति के लिये विधि संभव थी—अध्ययन शुरू किया। १६०८ में उन्होंने स्कॉट के अधिकांश उपन्यास पढ़ डाले! फिर उन्होंने लौखार्ट कृत स्कॉट की जीवनी पढ़ी। वह इस बात से प्रभावित हुए कि स्थानों का वर्णन करने के लिये स्कॉट ने कितनी यात्रा की थी। उन्हें एक बात पर सन्देह था कि स्कॉट के सभी नायक सुन्दर क्यों होते हैं। आखिर असुन्दरों ने क्या अपराध किया है? उन दिनों वे जंगलात के मोहकमे में नौकरी करते थे। एक दिन वसन्त ऋतु में कोयल की कुहू ध्वनि से प्रसन्न होकर उन्होंने अध्ययन करने की प्रतिज्ञा की! पढ़े-लिखे कवि शहर छोड़कर प्रकृति की ओर भागते हैं, वर्माजी प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर शहर की ओर आये—अपनी ज्ञान-पिपासा मिटाने के लिये। फिर भी जंगल उनका चिर सहचर रहा है और वह जितने नागरिक हैं, उतने ही वनचारी भी!

लेकिन इन दिनों वह कवि भी थे। गद्य-काव्य नहीं, सफा पद्य लिखते थे। वर्मा जी से (और पाठकों से भी) क्षमा-याचना करते हुए—क्योंकि

कविता कुछ यों ही है !—हम १९०८ की उनकी "विनोद" नामक पद्य-रचना यहाँ प्रस्तुत करते हैं :

है विनोद बिन जीवन भार।
है विनोद बिन जड़ संसार।
है विनोद बिन बुद्धि असार।
है विनोद बिन देह पहार ॥ १ ॥

जो जन जग-विनोद नहिं जानें।
जगत् स्वाद बिन कंकड़ छानें।
जिनमें नहिं विनोद थोड़ा है ॥ २ ॥

गूँगापन है किसे सुहाता ?
जड़वत् रहना किसको भाता ?
जो जन रहते सदा उदास,
जो रहते हैं बने निराश
वे जीते हैं मरे समान,
उनसे बचौ सदा धर ध्यान,
जिसके मुँख पर हँसी न आवे,
जो अपने को निरस जतावे,
उसे न भूले भी पतियाओ,
प्रेमभाव मत कभी दिखाओ।
प्रायः इस स्वभाव ही के जन,
पाप-वृत्ति-रत होते तन मन,
है विनोद से बुद्धि विकास,
ज्ञान-तन्तुओं का परकाश,
शक्ति कवित्व इसी से निकली,
ईश भावना इससे उजली।
हर्ष, हँसी से भोजन पचता
हृदय-कमल भी इससे खिलता।

पर मत इतना हर्ष कमाओ।
जिससे अपना समय गँवाओ।

इस रचना का काव्येतर महत्व यह है कि इससे स्वर्गीय बदरीनाथजी भट्ट और वर्मा जी की मैत्री के आधार का पता चलता है। लगता है, भारतेन्दु और बालमुकुन्द गुप्त की परम्परा से जुड़े हुए वर्मा जी साहित्य-क्षेत्र में पाँव रखते हैं। और इससे यह विदित होता है कि अपनी कृति में उन्होंने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसे अपने जीवन में बराबर चरितार्थ करते आये हैं। इसी के फलस्वरूप उन्होंने भोजन भी खूब पचाया है (दर्जनों अण्डे और पसेरियों दूध !) और ज्ञानतन्तुओं का प्रकाश भी किया (कविता लिखना छोड़कर मुख्यतः गद्य की ओर ध्यान दिया !)।

कालेज के पुस्तकालय से यथेच्छ पुस्तकें लेकर उन्होंने घनघोर अध्ययन किया। उनकी प्रतिभा के समान उनकी रुचि भी बहुमुखी थी। उन्होंने नृतत्वशास्त्र (ऐन्थ्रोपौलोजी) पढ़ा, डारविन की औरिजिन ऑव स्पिशीज़ पढ़ी, फेबियन सोसायटी (इंगलैण्ड की एक समाजवादी संस्था) के "पेपर्स" पढ़े, डारविन के साथ वैज्ञानिक मेंडेल की पुस्तकें पढ़ीं। इनके अलावा उन्होंने विशेष रूप से इतिहास का अध्ययन किया। बकल की हिस्ट्री ऑव सिविलाइंजेशन से वह विशेष प्रभावित हुए। फिर फ्रूड (Froude) को पढ़ा। वामन दास वसु की राइज़ ऑव क्रिश्चियन पावर इन इंडिया पढ़ी। इनके साथ उन्होंने मार्क्स की कैपिटल भी पढ़ी। १९१० के लगभग मार्क्स और डारविन का अध्ययन करनेवाले भारतीय विद्वान् इने-गिने ही थे। इनमें इतिहास को नये दृष्टिकोण से देखने वाले वर्मा जी भी थे। कोई आश्चर्य नहीं कि भारतीय इतिहास का अध्ययन करते हुए उनकी दृष्टि हमारे समाज के अन्तर्विरोधों की ओर गयी; उन्होंने सामन्ती युद्धों से जनता की क्षति की ओर भी ध्यान दिया और उन्होंने इतिहास के निर्माण में जनता की भूमिका को पहचाना, अपने उपन्यासों में उसकी वीरता को चित्रित किया।

अंग्रेज़ी अनुवाद लेकर उन्होंने ऋग्वेद पढ़ा। यूरोप के नव जागरण युग (Renaissance) का अध्ययन करते हुए उन्होंने भारतीय समाज के तुलनात्मक विकास को पहचानने का प्रयत्न किया। इतिहास के अलावा साहित्य

का अध्ययन उनका काफ़ी समय लेता था। इटली के लेखक बोकाच्चियो का डिकैमरौन उन्हें बहुत प्रिय था और उसे उन्होंने चार-पाँच बार पढ़ा। रसिक बोकाच्चियो के विपरीत असीसी के सेंट फ्रान्सिस के प्रभाव से उन्होंने आगे चलकर सेवा-समिति में काम किया। कवियों में तुलसीदास उनके सर्वाधिक प्रिय रहे।

१६०८ में सैंत हिलैर और डौड्स की पुस्तकों के आधार पर उन्होंने महात्मा बुद्ध का जीवन-चरित लिखा। यह आगरे से "कुंवर हनुमन्तसिंह रघुवंशी अध्यक्ष राजपूत ऐंग्लो ओरियण्टल प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित" हुआ था। इसकी भूमिका में लेखक ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि गौतम बुद्ध का "कोई विस्तृत जीवन-चरित्र अब तक भारत की भावी राष्ट्रीय भाषा हिन्दी में नहीं प्रकाशित हुआ।" पाठकों को "यदि यह रुचिकर हुआ तो बहुत शीघ्र बुद्ध का विस्तृत जीवन-चरित्र प्रकाशित करूँगा।"—यह आश्वासन भी दिया गया है। पुस्तक में इस बात का उल्लेख भी है कि "यूरोपीय घमण्डी विद्वान्" ब्राह्मणों के रचे हुए भारतीय शास्त्रों का खण्डन करते हैं। उन्नीस वर्ष के युवक लेखक का स्वदेशाभिमान उसे यूरोपियन विद्वानों को चुनौती देने की प्रेरणा देता था। साथ ही उसे दुःखवाद से उतनी ही विरक्ति थी जितनी कामायनी के लेखक को। पुस्तक के "उपसंहार" में बौद्धधर्म और दर्शन पर लिखे उनके निम्न वाक्य उनके जीवन-दर्शन के परिचायक हैं :—

"बुद्ध की युक्ति बड़ी प्रबल होती थीं, उनकी बुद्धि-कुशाग्रता अपूर्व थी, उनके ज्ञान के सामने बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि चकरा जाती थी, वे बहुत-सी बातों के जानने वाले थे, उनके बराबर करुणा किसी में न रही होगी, वह सच्चे दिल से मानव जाति का उद्धार करना चाहते थे, वह जो कुछ कहते और करते थे, अपने अन्तःकरण से कहते और करते थे, परन्तु उनके विचारों की, उनके सिद्धान्तों की जड़ कच्ची थी। जिस नींव पर अपना धर्म खड़ा करना चाहते थे, वह नींव ही कच्ची थी। उन्होंने संसार को अत्यन्त विरक्त भाव में देखा है। उन्हें संसार में दुःख के महा ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों के सिवाय और कुछ भी न दिखायी दिया। उनका सिद्धान्त था, कि दुनिया में सिवाय

दुःख के सुख रत्ती भर क्या, परमाणु भर भी नहीं। यह उनकी बड़ी भारी भूल थी। निःसन्देह संसार में दुःख है, परन्तु जहाँ दुःख है, वहाँ सुख जरूर है। यदि ईश्वर ने संसार को केवल दुःखमय और पीड़ापूरित ही बनाया होता तो इसका बनाना और न बनाना दोनों बराबर था। दुःख है परन्तु सुख भी है। यदि संसार में दुःख है, तो उसे दूर करो, उससे डटकर और निराश होकर भागना कायरता का काम है।"

वर्मा जी वैष्णव रहे, आर्यसमाजी हुए, कुछ दिन तक नास्तिकता का रस भी लिया और अब राम जाने किसी वैज्ञानिक धर्म में विश्वास करते हैं। ये परिवर्तन बौद्धिक स्तर पर होते रहे हैं किन्तु मूलतः जीवन में उनकी आस्था अडिग रही है। वह मानव प्रयत्नों द्वारा संसार को सुन्दर बनाने में विश्वास करते हैं और उनका सारा साहित्य इस साध्य के लिये साधन है। उनके विचार भले बदल गये हों, उन्होंने तारुण्य के जिस सहज उत्साह से उपर्युक्त वाक्य लिखे थे, वह आज तक उनमें विद्यमान है। यह भी ध्यान देने की बात है कि दुःखवाद के प्रति प्रसाद जी और आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण भी यही था। जीवन की स्वीकृति का यह दृष्टिकोण आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है।

१९०९ में वर्मा जी की पहली कहानी राखीबन्द भाई सरस्वती में प्रकाशित हुई। उसी वर्ष उसी पत्रिका में उनकी राजपूत की तलवार भी प्रकाशित हुई। वर्मा जी के शब्दों में "द्विवेदी जी की बड़ी कृपा थी।" १९१० में उनकी कहानी सफ्रेजिस्ट की पत्नी भी सरस्वती में छपी। इस कहानी को लिखने का कारण वर्मा जी के अनुसार यह था कि वह पश्चिम के नारी मताधिकार (सफ्रेजिस्ट) आन्दोलन के समान एक आन्दोलन यहाँ के समाज में भी चाहते थे। नारी की स्वाधीनता और सम्मान को लेकर कथाएँ रचने की प्रवृत्ति उनमें पुरानी है। इसका श्रेय भी वह अपनी माताजी को देते हैं। भारत के सामन्ती समाज में नारी के उत्पीड़न को याद करके वह अब भी तिलमिला उठते हैं और उनके मुँह से इस तरह के शब्द निकल पड़ते हैं: "हमने नारी को जितना जलाया है, उतना बचाया नहीं है।" एक बार उनके पिताजी ने उपदेश दिया था, "चाल चलन सुधारे रहो।" माता को

लगा कि उनके पुत्र को इस तरह का उपदेश देना उसमें अविश्वास प्रकट करना है। उन्होंने पति को आड़े हाथों लिया और बोलीं, "वह हमारा लड़का है।" १९१४ में यह प्रेरणास्रोत समाप्त हो गया; स्नेहमयी जननी की सजीव स्मृति ही बनी रही।

१९१६ में उन्होंने वकालत शुरू की। काफ़ी कठिनाई से "कैरेक्टर सर्टिफिकेट" प्राप्त किया। वकीलों को भय था कि इन्हें सच्चरित्रता का सार्टिफिकेट देने से अंग्रेज़ सरकार नाराज हो जायगी! उर्दू न जानते हुए भी उर्दू की जानकारी का सार्टिफिकेट आसानी से मिल गया! वर्मा जी की साहित्य-सर्जन की प्रक्रिया कुछ-कुछ भौतिक विज्ञान के क्वाण्टम सिद्धान्त के अनुसार होती है। आकस्मिक ढंग से, रुक-रुककर विस्फोट करती हुई, द्रुतगति से। प्रेमचन्द के समान निश्चित अनवरुद्ध गति से उन्होंने साहित्य-रचना नहीं की। वास्तव में कहानियाँ-नाटक लिखने के अलावा उपन्यास-क्षेत्र में उन्होंने अपनी क्षमता को विलम्ब से पहचाना। इसका इलहाम उन्हें शिकार खेलते हुआ। अपने संस्मरणों में उन्होंने इस घटना का हृदयग्राही वर्णन किया है। "१६ अप्रैल १९२७ की बात है। सन्ध्या के पहले ही बेतवा-किनारे के एक गढ़े में जा बैठा। उस गढ़े के पास से सुअर और तेंदुये के निकलने का समाचार मिला था। मैं अकेला था। गढ़े में बिस्तर बिछाकर बैठ गया। बन्दूक एक तरफ रख ली। रात लगते ही नदी के पक्षियों और दूरी से जंगली जानवरों की पुकारें सुनाई पड़ने लगीं। तारे छिटक गये और दमक उठे। ठंडी हवा चल पड़ी। मेरे मन में उमंग कलोल करने लगी। मेरा ध्यान उस पार के पहाड़ों की ओर गया। पहाड़ों की श्रेणियाँ एक दूसरे के पीछे कुहासे में थीं। सोती-सी जान पड़ीं। उनके पीछे एक और शिखर पर कुण्डार का गढ़ ऊँघता-सा लगा।....इतिहास और परम्परा, पात्र और घटना चक्र, कला और उद्देश्य का तूफान दिमाग में उठ खड़ा हुआ। आँधी धीरे-धीरे कम हुई और वस्तुस्थिति ने स्पष्टता पकड़ी। घड़ी में देखा तो चार बज गये थे। एक पल के लिये भी नहीं सोया। कपड़ों पर पैर फैलाने की सिलवटें मात्र थीं। बन्दूक जहाँ की तहाँ टिकी थी। जानवर आये गये बने रहे होंगे। शिकार न खेलने से ही बहुत आनन्द प्राप्त हुआ। बिल्कुल न

सोने पर भी देह के कण-कण में उल्लास था क्योंकि गाँठ में कुछ पड़ गया था।"

सूर्योदय के बाद नहा-धोकर वह गाँव पहुँचे "और दोपहरी में 'गढ़-कुण्डार' उपन्यास का आरम्भ कर दिया—"संध्या के पहले ही १७ लम्बे सफे लिख डाले।" कचहरी में बहस के दौरान में ज़रा भी छुट्टी मिली तो गढ़-कुण्डार लिखा, करामत मियाँ के साथ शिकार खेलने गये तो साँभरों को पानी पीकर निकल जाने दिया, उपन्यास लिखते रहे, कचहरी की छुट्टी हुई तो तन-मन से उसे पूरा करने में लग गये। १७ अप्रैल को शुरू करके उन्होंने इस अनुपम कृति को १७ जून को समाप्त किया। वर्मा जी के जीवन में यह नयी मंज़िल थी। हिन्दी कथा साहित्य के इतिहास में यह एक युगान्तर था। सामाजिक समस्याओं में बेहद दिलचस्पी लेने वाले एक देशभक्त लेखक ने अपने इतिहास को नये प्रकाश में देखा था। एक नये मानवतावाद, धरती और उसके पुत्रों से एक नये स्नेह, कथा-साहित्य में नये ओज, प्रकृति के नये कवि-सुलभ चित्रण का आरम्भ हुआ। गढ़कुंडार की अपनी मौलिक विशेषताओं के अतिरिक्त उसका यह ऐतिहासिक महत्व है। इस महत्वपूर्ण कृति का सर्वप्रथम अभिनन्दन करने वालों में अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी थे।

विद्यार्थी जी उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन के उग्र पक्ष के प्रतिनिधि थे। उनके प्रताप ने हिन्दी के माध्यम से अनेक राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को साम्यवाद का पाठ पढ़ाया था। सशस्त्र क्रान्तिकारियों से उन्हें गहरी सहानुभूति थी; वीर श्रेष्ठ चन्द्रशेखर आज़ाद और उनके सहयोगियों की आर्थिक सहायता करने के लिये वह वर्मा जी के पास धन भेजते थे। लक्ष्मीबाई की मूर्ति के निर्माता शिल्पकार, और क्रान्तिकारियों के मित्र और सहायक स्वर्गीय मास्टर रुद्र नारायण; उनके बाद की तरुण पीढ़ी के सदाशिवराव और भगवानदास माहौर जैसे क्रान्तिकारी; इनसे घनिष्ठ सम्पर्क में आने वाले साहित्यकार और सार्वजनिक कार्यकर्ता वर्मा जी—अठारह सौ सत्तावन की यह विरासत गढ़कुंडार लिखते समय झाँसी में विद्यमान थी। सन् बीस से सन् तीस तक की झाँसी की हवा ही कुछ और थी। उस वर्तमान ने अपनी क्रान्तिकारी कर्मठता से इतिहास को रोमांचकता धारण कर ली थी। उस हवा में

साँस लेने वाला लेखक ही—जो बुन्देलखंड की धरती और उसके अतीत और वर्तमान दोनों से अटूट रूप में सम्बद्ध था—गढ़कुंडार लिख सकता था। वही इतिहास को साधारण ऐतिहासिक उपन्यासकारों से भिन्न दृष्टिकोण से देख सकता था और वर्तमान सामाजिक जीवन को गति देने के लिये उसका उपयोग कर सकता था। बेतवा के किनारे उस गढ़े के पास एक स्तम्भ बनवाना चाहिये जहाँ १६ अप्रैल १९२७ की तारों भरी रात में श्री वृन्दावनलाल वर्मा को गढ़कुंडार ऊँघता हुआ-सा दिखाई दिया था।

गढ़कुंडार के समाप्त होने के पहले ही १६ या २० जून को उन्होंने लगन शुरू कर दिया। २८ या २९ जून तक इसे समाप्त कर दिया। इसका अभिनन्दन करने वालों में प्रेमचन्द भी थे और उन्होंने उसके कवित्वपूर्ण वातावरण की प्रशंसा की थी। लगन के बाद संगम और उसके बाद प्रत्यागत उसी वर्ष लिखे। १९२७ वर्मा जी के जीवन में सर्वाधिक रचनात्मक वर्ष था। १९२८ में उन्होंने कुण्डलीचक्र और प्रेम की भेंट उपन्यास लिखे। इसके बाद गति द्रुत से कुछ विलम्बित हुई। २९ में विराटा की पद्मिनी के लिये सामग्री एकत्र की; ३० में उसे आरम्भ किया और ३३ में समाप्त किया। कई वर्षों की अवधि में रुक-रुककर लिखा जाने वाला सम्भवतः यह उनका एकमात्र उपन्यास है। फिर कुछ वर्षों के लिये कच्छप-नीति का अनुसरण करके उन्होंने अपनी प्रतिभा को विश्राम दिया।

१९४६ के पहले तक उन्होंने कुछ नाटक लिखे। ३७ में काँग्रेसी मंत्रिमंडल से प्रेरणा पाकर एक मन्त्री जी का खाका खींचते हुए धीरे-धीरे लिखा। उसके बाद मुसाहबजू। ४२-४३ में श्रमिक-जीवन पर कभी-न-कभी रचा। सन् ४६ में उनकी प्रतिभा फिर जागी। सन् ४६ देश में अभूतपूर्व क्रान्तिकारी उठान का वर्ष था। निःसंदेह वर्माजी इससे प्रभावित हुए। इस वर्ष उन्होंने अपना अप्रतिम साम्राज्य-विरोधी उपन्यास झाँसी की रानी लिखा। इसी वर्ष कचनार (१६ अप्रैल से १ जून तक) लिखा और इनके साथ मंगलसूत्र (१६ जुलाई से १६ जुलाई तक), राखी की लाज (२० अगस्त से २९ अगस्त तक), दबे पाँव (२८ अक्तूबर से ३ नवंबर तक), सगुन (१२

दिसम्बर को समाप्त) और जहाँदारशाह (१७ दिसम्बर को समाप्त) नाटक लिखे ।*

अगले वर्ष अचल मेरा कोई (३१ मार्च से २१ अप्रैल तक) लिखा। इसी वर्ष फूलों की बोली (५ फर्वरी से ११ फर्वरी तक), कब तक (अप्रकाशित १६ फर्वरी से २३ फर्वरी तक और ४ मार्च से ६ मार्च तक), बाँस की फाँस (२६ मार्च; आरम्भ या समाप्त, या स्पष्ट नहीं), काश्मीर का काँटा (दिसंबर), हँसमयूर तथा रानी लक्ष्मीबाई नाटक लिखे।

१९४८ में उन्होंने माधव जी सिंधिया लिखा (१७ अप्रैल को समाप्त)। इस उपन्यास को यह गौरव प्राप्त है कि वर्मा जी ने इसे संशोधित किया था (संशोधन करने के बाद १८ अगस्त को उसकी भूमिका लिखी थी)। श्री भगवानदास सेठ की सूचना के अनुसार वर्मा जी ने १९१३ में माधव जी का जीवन-चरित लिखा था जो आगे चलकर खो गया। इस प्रकार माधव जी के चरित्र के प्रति उनकी अभिरुचि पुरानी थी। इस वर्ष बीरबल (११ जुलाई को समाप्त) और खिलौने की खोज (१६ जुलाई से २४ जुलाई तक) नाटक लिखे।

१९४९ में टूटे काँटे लिखा (प्रकाशित हुआ १९५४ में)। अपने उपन्यासों को चित्रपट पर उतारने के विचार से उन्होंने इस वर्ष अचल मेरा कोई का सिनैरियो लिखा। एक सिनैरियो फूलों की सेज का तैयार किया। १९५० में मृगनयनी (१४ जुलाई को समाप्त) और सोना (१४ अक्तूबर से ६ नवम्बर तक) उपन्यास और पूर्व की ओर नाटक लिखा। अगले वर्ष कनेर; पीले हाथ; नीलकंठ, (१६ सितम्बर से २८ सितम्बर तक); और केवट नाटक लिखे। सन् ५२ में अमरबेल (१५ दिसम्बर को) समाप्त की। ५३ में ललित विक्रम और ५४ में विस्तार (२२ अक्टूबर से १३ नवम्बर तक) नाटक लिखे।

*यह कालक्रम सूची स्वाधीन प्रेस में वर्मा जी की पाण्डुलिपियाँ देखकर तैयार की गयी हैं। जिन पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ न थीं अथवा पाण्डुलिपियों में तिथियाँ न थीं, उनका रचनाकाल वर्मा जी और श्री सत्यदेव से पूछ कर लिखा गया है।—सं०

५५ में भुवन विक्रम (१६ दिसम्बर को समाप्त) और अहल्याबाई उपन्यास लिखे। इसी वर्ष देखादेखी नाटक भी लिखा (६ नवम्बर से १६ नवम्बर तक)।

सन् ५६ ? ५७ ? ५८ ? शायद ये शक्ति-संचय के वर्ष हैं। वर्मा जी आगे कब क्या लिखेंगे, यह कहना कठिन है। इधर संस्मरण लिखते रहे हैं जिनके कुछ अंश पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

इन रचनाओं के अलावा शरणागत, कलाकार का दण्ड, मेढ़की का व्याह और अम्बरपुर के अमरबीर उनके कहानी-संग्रह हैं, हृदय की हिलोर गद्यकाव्य-संग्रह है और एक पुस्तक बुन्देलखण्ड के लोकगीतों पर है। उनकी खोई हुई रचनाओं में प्रारम्भिक नाटकों और माधवजी की जीवनी के अलावा सन् १४-१५ में लिखा हुआ औरंगजेब का इतिहास (अधूरा; इसके कुछ पृष्ठ श्री भगवानदास सेठ के पास हैं) और १६१५ में लिखा हुआ मुराद नाम का नाटक है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्री सत्यदेव ने बड़ी सावधानी से वर्मा जी की पाण्डुलिपियों की रक्षा की है जिनसे शोधकर्ताओं को रचनाकाल आदि निश्चित करने में बहुमूल्य सहायता मिलेगी। अन्य हिन्दी प्रकाशकों के लिये यह नीति अनुकरणीय है।

वर्मा जी की रचनाओं के कालक्रम-अध्ययन से लगता है जैसे वे अचानक उपन्यास लिखने लग जाते हैं। दस-पाँच साल को गोता लगा गये, फिर एक दिन इलहाम हुआ और दिन रात कलम चलाने लगे। उनके उपन्यास पढ़ने पर भी सहसा पता नहीं चलता कि उन्होंने तैयारी में कितना समय लगाया होगा। समालोचक में प्रकाशित उनकी डायरी के कुछ पृष्ठों से उनके संकल्प और कार्यव्यस्तता का अनुमान किया जा सकता है; और चाणक्य के नोट्स और कथा-वस्तु की रूपरेखा देखकर मालूम होगा कि इतिहास का अध्ययन करने में वे कितना परिश्रम करते हैं। वे अपनी कथावस्तु और उसमें आने वाले पात्रों के साथ कई वर्षों तक रहते हैं और शायद ये पात्र जब उन्हें बहुत तङ्ग करते हैं—कल्पना जगत् में रहने से इन्कार कर देते हैं—तभी वे मानस पर छाये हुए चित्रों को कागज पर उतारते हैं। वे गाँव के किसानों

से, मिलने-जुलने वालों से, मुवक्किलों से और पुस्तकों से अपने मतलब की सामग्री जुटाया करते हैं। पात्रों, घटनाओं और उनकी बातचीत को याद रखने में उनकी स्मरणशक्ति बहुत ही समर्थ सिद्ध होती है।

चाणक्य के नोट्स अपवाद नहीं हैं। इसी तरह मृगनयनी के नोट्स भी हैं, महीन अक्षरों से रंगी हुई स्लिपों के ५४ पृष्ठ। इनमें ग्वालियर के किले, गूजरी महल, १५ वीं शताब्दी में ग्वालियर के आसपास के किलों पर नोट्स हैं, बाबरनामा से देश की स्थिति पर नोट्स, सुधा के पुराने अंक (वर्ष १४, खंड १, संख्या ६, पृष्ट ७०३) से कुतुबमीनार के पास लोहे की कील पर खुदे हुए लेख का उद्धरण है; मालवा, गुजरात, जौनपुर, खानदेश, दिल्ली, बीदर, बीजापुर, गोलकुण्डा आदि के इतिहास से सम्बन्धित सामग्री है; स्थानों की दूरी, स्थापत्य-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली (कच्छ; मुड़ेर, पाया, खंब, टुड़िया, छज्जा, बड़ेरी, कँगूरे, गोख, शिखर, गोपुर, घट, कलश, कमल), मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के संदर्भ में रामानुज, देवसूरि, जयदेव, नानक, नामदेव आदि का उल्लेख, कर-व्यवस्था, मुद्राएँ गहने आदि एक युग के इतिहास और संस्कृति के संकेत एकत्र किए गए हैं। बैद्य, कनिंघम, टौड आदि इतिहासवेत्ताओं की पुस्तकों का हवाला है; इनके साथ हर्षचरित आदि संस्कृत ग्रंथों का उल्लेख है। कई पृष्ठों में छोटे-बड़े नक्शे हैं जिनमें एक ग्वालियर किले का भी है। कहीं उन्होंने कोई लोकोक्ति नोट कर ली है : "नरवर चढ़े न बेड़नी, बूँदी छपे न छींट। गुदनोटा भोजन नहीं, एरच पके न ईंट।" कहीं अन्तरजातीय विवाह के मामले में किसी की वीरता की कहानी सुनकर उसे भी टाँक लिया है, "धरकोट दिखोल गाँव (टेहरी) की पंचायत ने चैतू लुहार को अपने फैसले से बचा लिया। दूसरी जाति की लड़की को ब्याह लेने के कारण बिरादरी ने इसको १२ साल के लिए 'बन्द' रक्खा था।" कहीं राजा नवाबअली खाँ कृत मारूफुन्नगमात के अधार पर संगीत-सम्बन्धी यह टिप्पणी तैयार की गयी है। "नायक बैजू दरबार में था—उसने टोड़ी पर अधिकार कर रक्खा था—राजा मानसिंह ने ध्रुवपद को चलाया—राजा मानसिंह के मर जाने पर यह (बैजू) गुजरात के सुलतान बहादुरशाह के पास चला गया—और वहाँ से इसकी

टोड़ी का नाम बहादुरी टोड़ी पड़ा—मानसिंह ने जो संगीत का विद्यापीठ कायम किया था उसकी परम्परा सदा बनी रही।—इसीके निकले लोग अकबर के ३० गवैयों में से थे जिनमें एक तानसेन था—तानसेन ने मियाँ की टोड़ी, मियाँ का सारंग, मियाँ का मल्हार बनाये—पन्द्रहवीं शती में जौनपुर का आखीरी शर्की सुल्तान हुसैन शाह हुआ। इसने खयाल को चलाया, जौनपुरी और हुसैनी कान्हड़ा इसी के यहाँ बने, हुसैनी टोड़ी।" कई जगह गीतों के बोल (लाड़ली मान न करिए होरी के दिनन में) और स्वरलिपि भी दी है। कुछ स्थानों पर मर्मवाक्य लिखे हैं: किले की सूखी चिनाई पत्थरों की कब तक ठहरेगी? सामाजिक कार्यों का आयोजन बिना कला के जोड़ (चिनाई) के उसी तरह असफल रहता है।" इसके साथ यह भी—"कला यदि भ्रष्ट भी हो जाय तो उसमें कुछ सौन्दर्य तो रहता ही है—भोगी के पतित होने पर भी कुछ अंश तो उसमें बड़ापन का रहता ही है—" (क्या यह मानसिंह की वकालत में लिखा गया है?)

हम अपने युग को कितना जानते हैं? अपने इतिहास को कितना पहचानते हैं? वर्मा जी ने मृगनयनी के नोट्स में एक जगह लिखा है: "We know our own age badly and we don't know other ages at all." अपने युग को ठीक से जानते नहीं; अन्य युगों के बारे में तो कुछ भी नहीं जानते। इस स्थापना को चरितार्थ करने वाले बुद्धि-जीवियों की कमी नहीं है। ऐसे बुद्धिजीवी-हल्कों में वर्माजी की चर्चा "आउट ऑव डेट" मानी जाती है। किन्तु जो साहित्यकार भी इतिहास का अध्ययन करेगा और उससे अपने कलात्मक साहित्य के लिए सामग्री लेगा, वह उनकी पद्धति का अनुसरण करेगा, इसमें संदेह नहीं। इस तरह के व्यापक और विस्तृत अध्ययन के बिना और चाहे जो लिखा जा सके, सफल ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखे जा सकते।

वर्माजी के "सामाजिक" उपन्यासों का रस उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के रस से बहुत भिन्न नहीं है। इसका एक कारण बुन्देलखण्ड की लोक-संस्कृति का अजस्र प्रवाह है। उत्तर प्रदेश के औद्योगिक केन्द्रों या राजधानी में रहने वालों को उनके सामाजिक उपन्यासों के पात्र भी किसी बीते युग के

व्यक्ति से लगते हैं। साथ ही वर्मा जी ऐतिहासिक उपन्यास लिखते हुए वर्तमान समाज की समस्याओं का ध्यान रखते हैं—अपने युग को अतीत के नाम पर चित्रित नहीं करते वरन् अतीत के चित्रण से वर्तमान के लिये प्रेरणा लेते हैं। इस प्रकार अतीत और वर्तमान के बीच उनके लिये कोई दुर्भेद्य खाईं नहीं है।

प्रेमचन्द के समान वह इस युग के सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यकार हैं। इसका एक कारण यह है कि उनके मित्रों में साहित्यकारों की संख्या कम से कम है। उनके चारों ओर ऐसे पात्र दिखाई देते हैं जो या तो उपन्यासों में आ चुके हैं या आने के उम्मीदवार हैं। उनकी समर्थ साधना का रहस्य उनका प्रसन्न मन और स्वस्थ शरीर है। अब भी उनकी बाहें अपने कसबल से नौजवानों को चुनौती देती हैं। झाँसी के किले में जब वे रानी से सम्बद्धित महत्वपूर्ण स्थान दिखला रहे थे, तब कई जगह सीढ़ियों पर उनका उछलते हुए चढ़ना उन वीरों को याद दिलाता था जिनके वे चित्रकार हैं। यह सामर्थ्य उन्होंने अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से प्राप्त की है और वह उनकी साहित्य-साधना के लिये अनिवार्य रही है। वर्मा जी के साहित्य से उनका जीवन कम प्रेरणादायक नहीं है। और यह जीवन अभी और बहुत-सा साहित्य देगा, इसका हमें दृढ़ विश्वास है।

आस्थाहीन जीवन-दृष्टि : ज़िवागो

चौदह सितम्बर १६५६ के "टाइम्स ऑव इंडिया" में सोवियत-सम्बन्धी दो महत्वपूर्ण समाचार प्रकाशित हुए हैं। पहला चन्द्रलोक की ओर छोड़े जाने वाले रॉकेट के बारे में, दूसरा विश्वप्रसिद्ध उपन्यास डॉक्टर ज़िवागो के लेखक बोरिस पस्तेरनाक के बारे में। पहले समाचार का महत्व यह है कि क्रान्ति, गृह-युद्ध और महायुद्ध की उथल-पुथल और विभीषिकाओं को सह कर, भारत के समान पिछड़े हुए कृषिप्रधान देश रूस ने, जनतन्त्र, व्यक्ति की स्वाधीनता और मानव-मूल्यों के गढ़ संयुक्त राज्य अमेरिका को वैज्ञानिक प्रगति की होड़ में परास्त कर दिया है। इस समाचार से जिनके दिल को चोट लगी हो, उनके लिए दूसरा समाचार मल्हम का काम देगा यानी यह कि आध्यात्मिक प्रगति के एकमात्र सोवियत अलम्बरदार पस्तेरनाक जीवित हैं, जीवित ही नहीं प्रसन्न हैं, प्रसन्न ही नहीं एक नवीन कलाकृति का सृजन कर रहे हैं। और यह कृति नवीन ही न होगी वरन् डा० ज़िवागो के समान मार्क्सवाद से पीड़ित जनता को नयी जीवन-दृष्टि देगी।

मौस्को में अमरीकी संगीत-मंडली न्यूयार्क फिलहार्मोनिक आर्केस्ट्रा के प्रदर्शन में पस्तेरनाक उपस्थित थे। मौस्को संगीत-भवन के एक प्रकोष्ठ में, जहाँ कलाकारों की भीड़ लगी थी, "टाइम्स ऑव इंडिया" के संवाददाता ने पस्तेरनाक के दर्शन किये। उसने उन्हें "इन गुड हेल्थ" पाया और शरीर के अलावा मन से भी चंगा (एक्सेलेंट स्पिरिट्स में) देखा। पस्तेरनाक ने बताया कि वह रूस में दास-प्रथा के उन्मूलन से सम्बन्धित एक नाटक लिख रहे हैं और यह सूचना भी दी कि "मेरे पिछले उपन्यास से यह अधिक उपकारी सिद्ध न होगा लेकिन मैं यह आशा नहीं कर सकता कि वह उपन्यास से बढ़कर होगा।"

डॉक्टर ज़िवागो नाम के उपन्यास में पस्तेरनाक ने रूस की समाजवादी क्रान्ति और सोवियत समाज पर अपने विचार प्रकट करते हुए ज़िवागो

द्वारा जीवन की खोज और उसकी आत्मोपलब्धियों का चित्रण किया है। रूसी शब्द ज़ीव संस्कृत के जीव का सखा है; ज़िवागो ने जीवन की खोज करके अपना नाम सार्थक किया है। उसकी खोज की विशेषता यह है कि वह दूसरों से उधार ली हुई, सुनी-सुनाई, घिसी-पिटी, रूढ़िवादी बातें नहीं दोहराता; वह मौलिक अनुभूतियों का कायल है, उपन्यास में वह अपनी अनुभूतियों का सत निकालकर रख देता है, उनकी जीवन-दृष्टि ऐसे मर्म-स्थलों को वेधती है जिन तक सतही प्रचारकों को स्थूल दृष्टि की पहुँच ही नहीं है। इसीलिए पाश्चात्य देशों के कुछ आलोचकों ने यह विचार प्रकट किया है कि सोवियत जीवन का सही चित्र देने वाला, तोल्स्तोय आदि महान् लेखकों की परम्परा को संवर्धित करने वाला यह पहला महान् रूसी उपन्यास है।

जीवन क्या है? उपन्यास के आरम्भ में ही (अंग्रेजी संस्करण; पृ० २१) पस्तेरनाक ने (ज़िवागो के शब्दों में नहीं, अपने शब्दों में) यह मत प्रकट किया है : संसार की प्रत्येक गतिविधि, अलग से देखी जाय, तो सोची-विचारी सचेत क्रिया मालूम होती है लेकिन ये सब गतिविधियाँ एक सामान्य जीवनप्रवाह द्वारा प्रेरित और संयुक्त होती हैं। वे सचेत न होकर इस प्रवाह के मद में मत्त होती हैं। लोग काम करते हैं, अपनी व्यक्तिगत चिन्ताओं और आकांक्षाओं द्वारा परिचालित होते हैं। किन्तु कर्म के ये स्रोत रिक्त हो जायँ और जीवनतंत्र को ठप कर दें यदि एक गंभीर उदासीनता की व्यापक भावना उन्हें नियंत्रित न किये रहे। यह भावना इस सुखदायी बोध से उत्पन्न होती है कि मनुष्यों के जीवन परस्पर गुँथे हुए हैं, वे एक दूसरे में प्रवाहित हैं; यह भावना इस आह्लादकारी विश्वास से उत्पन्न होती है कि संसार में जो कुछ होता है, वह इस मृत्युलोक में ही नहीं होता वरन् किसी दूसरे लोक में भी होता है जिसे कुछ लोक मोक्षधाम (किंगडम ऑव गौड), अन्य जन इतिहास और अन्येतर जन किसी दूसरे नाम से अभिहित करते हैं। इति।

मनुष्यों के जीवन परस्पर सम्बद्ध हैं, मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिये उसका जीवन सामाजिक जीवन का ही एक अङ्ग है, यह बात अन्य

लोक भी कहते आये हैं। मनुष्य जीवन के एक सुखद रूप की आवृत्ति परलोक में भी होगी—यह भी अनेक धर्माचार्यों से सुना है। किन्तु मोक्षधाम के जीवन को इतिहास भी कहा जा सकता है, यह अवश्य मौलिक सूझ है। पस्तेरनाक के कथन में महत्त्व का सूत्र यह परलोक-सम्बन्धी स्थापना नहीं है, महत्त्व का सूत्र इह लोक-सम्बन्धी गंभीर उदासीनता की व्यापक भावना है। अंग्रेजी अनुवाद में इसके लिये "प्रोफ़ाउंड अनकन्सर्न" शब्दों का प्रयोग किया गया है। मुख्य वस्तु है "अनकन्सर्न", उदासीनता, तटस्थता, मानवजीवन को बदलने के लिये उसमें हस्तक्षेप न करने की प्रवृत्ति। उदासीनता की यह भावना गंभीर भले हो, मौलिक नहीं है। उन्नीसवीं सदी के विशुद्ध-कला-वादी कलाकारों ने इस धारणा का यथेष्ट प्रचार किया था और बीसवीं सदी में महाकवि इलियट ने नवीन दार्शनिक आच्छादनों के साथ उसे पुनः-पुनः प्रस्तुत किया है।

उपन्यास के अन्त में ज़िवागो की जीवन-कथा समाप्त करते हुए पस्तेरनाक ने लिखा है : ज़िवागो के जीवन के अन्तिम आठ-दस वर्षों की संक्षिप्त कहानी लिखना शेष रहा है। इन में उसकी क्षमता का और भी ह्रास हुआ, वह चिकित्सक और लेखक का ज्ञान और कौशल क्रमशः भूलता गया। वह अपनी घुटन से ऊपर उठता, काम में हाथ लगाता और थोड़े समय के लिये खूब सक्रिय रहने के बाद दीर्घ काल के लिये अपने प्रति और संसार की हर वस्तु के प्रति उदासीनता (इंडिफरेंस) में डूब जाता। (पृ० ४१६)

ज़िवागो इस समय हृदय-रोग से पीड़ित है और यह रोग पुराना है, यद्यपि अंतिम वर्षों में वह बढ़ गया है। किन्तु उसका मस्तिष्क-रोग और भी पुराना है और उसके हृदय-रोग से कहीं अधिक भयानक है। उदासीनता का दर्शन उसी मस्तिष्क-रोग की उपज है। यह रोग ज़िवागो को ही नहीं, एक सम्प्रदाय विशेष के कलाकारों को है जो सामाजिक जीवन की उपेक्षा को एक दार्शनिक सत्य का रूप देते हैं और व्यक्तित्व की खोज करते हुए वहीं पहुँचते हैं जहाँ ज़िवागो पहुँचा है, अर्थात् उस मनोदशा तक जिसमें मनुष्य संसार के प्रति उदासीन रहते-रहते अन्त में अपने से ही उदासीन हो जाता है।

उदासीनता का दर्शन मस्तिष्क की उपज है। सम्भव है, ज़िवागो के विचारों और उसकी मार्मिक अनुभूतियों में, उसके दर्शन और उसके जीवन में परस्पर विरोध हो। ज़िवागो की जीवन-दृष्टि को समझने के लिये उसके जीवन से परिचय पाना आवश्यक है। ज़िवागो चिकित्सक है, इससे अधिक वह कवि है। उसका कवि-रूप इतना महत्वपूर्ण है कि उपन्यास के अन्त में उसकी कविताएँ भी उद्धृत कर दी गई हैं। कवि से भी अधिक वह प्रेमी है और उसकी कविता का स्रोत प्रेम है। क्रान्ति, मार्क्सवाद, सोवियत समाज-व्यवस्था, ये सब इस प्रेम के शत्रु मालूम होते हैं। उसके प्रेम की विशेषता क्या है?

उसकी एक मित्र है तोन्या नामकी लड़की। मित्रता इतनी घनिष्ठ है कि वह उसके जीवन का अङ्ग (ए पार्ट ऑव हिज़ लाइफ) बन गई है। एक दिन वह लड़की न रह कर नारी बन गयी। ज़िवागो के हृदय में एक उत्कृष्ट सहानुभूति और लाजभरा आश्चर्य उत्पन्न हुआ। एक नृत्य में अपने सहयोगी के साथ नाचते हुए तोन्या ज़िवागो के पास से निकली और उसका हाथ दबाने के बाद मुस्कराई। वह अपने हाथ में जो रूमाल लिये थी, वह ज़िवागो के उँगलियों में अटका रह गया। मुग्ध प्रेमी ने उसे अपने ओठों से लगा लिया और आँखें बन्द कर लीं। "यूरा [ज़िवागो] के जीवन में यह कुछ नयी चीज थी, कोई तेज़ और नस्तर जैसी चीज़, जो उसके समूचे व्यक्तित्व को एँड़ी से चोटी तक बेध गई।" (पृ० ८४)

विवाह हुआ। पुत्र उत्पन्न हुआ। किन्तु अपने स्कूली जीवन में ज़िवागो ने एक और लड़की देखी थी जिसका नाम था लारा। कालेज में पढ़ने के दिनों में भी उसे देखा था। आगे चलकर वह नर्स का काम करने लगी और डॉ० ज़िवागो ने उसे फिर देखा। जब लारा स्कूली लड़की थी, तभी उससे कोमारोव्स्की नाम के एक सज्जन प्रेम करने लगे थे। "लारा को इस बात से प्रसन्नता थी कि एक सुन्दर पुरुष जिसके बाल सफेद होने लगे हैं, जो उम्र में उसका पिता होने योग्य है, जिसके भाषण पर सभाओं में तालियाँ बजती हैं और जिसका नाम अखबारों में छपता है, उसके लिये अपना समय और धन खर्च करता है, उसे संगीत सुनवाने और नाटक दिखाने ले जाता

है, उससे कहता है कि वह अप्सरा जैसी लगती है" इत्यादि। (पृ० ५२) इन पितृ-तुल्य प्रेमी कोमारोव्स्की की मार्मिक अनुभूति पस्तेरनाक के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है, "उसके लिये लारा के सौन्दर्य में एक अनोखा अशरीरी आकर्षण था। उसके हाथ किसी भव्य विचार के समान उसे आश्चर्य में डाल देते थे। होटल के कमरे की दीवाल पर उसकी छाया उसे निर्दोष सौंदर्य की प्रतिमा जैसी लगती थी। उसके वक्ष पर उसका वस्त्र ऐसी सादगी और मजबूती से खिंचा हुआ था मानों कसीदे के फ्रेम पर कपड़ा खिंचा हुआ हो। नीचे घोड़ागाड़ियों की विलंबित लय पर उसने खिड़की पर अपनी उँगलियों से ताल दी। आँखें बन्द करते हुए वह फुसफुसाया—लारा। उसने स्वप्नाविष्ट की भाँति देखा—वह उसकी बाँह पर सिर रखे है। उसकी [लारा की] आँखें बन्द हैं। वह सो रही है। बेसुध है। वह घंटों तक जागता हुआ उसे निहार रहा है। उसके काले बाल बिथुर गये हैं और उसका सौन्दर्य उसकी [कोमारोव्स्की की] आँखों को डङ्क मारता है और हृदय को चबा लेता है।" (पृ० ५१)

सुन्दर! रीतिकालीन कवियों ने मुग्धा नायिकाओं के शृङ्गार का वर्णन बहुत कुछ इसी प्रकार किया था। उनके आश्रयदाता, विलासी सामन्त, नायिका के लिये पितृतुल्य होते हुए भी अपना मुग्धा-प्रेम न छोड़ते थे। पस्तेरनाक ने कोमारोव्स्की के प्रेम का वर्णन उसी तल्लीनता से किया है जिससे वह ज़िवागो के प्रेम का वर्णन करता है। यह दूसरी बात है कि लारा को बहुत जल्दी इस अधेड़ प्रेमी से घृणा हो जाती है, पस्तेरनाक ने लम्पट कोमारोव्स्की के प्रेम का वर्णन इस तरह किया है मानों उसकी आखों में सौन्दर्य का यह धुँआ पहली बार लगा हो!

छह महीने में लारा इस प्रेमी से परेशान हो जाती है। वह उसे इशारों से याद दिलाता रहता कि वह पतित हो चुकी है। इससे लारा उलझन में पड़ जाती और "विलासिता के दुःस्वप्न का विरोध करने में अपने को असमर्थ पाती"। (पृ० ७३)। किसी तरह उसने अपने को इस प्रेमी के चंगुल से छुड़ाया और युवा प्रेमी पाशा से विवाह किया। और एक दिन ज़िवागो ने लारा से कहा, "आजकल सच्चे रचनात्मक जीवन के लिये मुझ में ऐसे

तीव्र आकांक्षा जगी है। चारों ओर के जीवन-प्रवाह का मैं अंग बनना चाहता हूँ। और इस सार्वजनीन आनन्द के बीच तुम्हारी उलझन में डालने वाली उदास, खाली-खाली सी आँखें दिखाई देती हैं जो पता नहीं किस मनोरम लोक में खो गई हैं।" ज़िवागो खिड़की से बाहर झाँकने लगा और लारा ने कहा—"आओ थोड़ा पानी पी लो और पहले जैसे फिर हो जाओ।" (पृ० ६३७)

लेकिन वह पहले जैसा फिर नहीं हुआ। अलबत उसकी पत्नी तोन्या पुनः गर्भवती हुई और उसने अपनी डायरी में कवित्वपूर्ण शब्दावली में लिखाः नारी भविष्य की थाती है; उसका व्यक्तित्व अपना नहीं है। भविष्य उसके गर्भ में है। ईश्वर की माता से कहा गया था कि अपने पुत्र और ईश्वर से प्रार्थना कर। नारी के लिये ईश्वर उसके पुत्र में है। (पृ० २५५)

सब सुन्दर! और सबसे सुन्दर यह कि लारा के प्रेम को अपने गर्भ में पालते हुए ज़िवागो यह सब लिखता रहता है। फिर उसने एक दिन लारा को पुस्तकालय में देखा। वह पुस्तक में खोई हुई "शिशु के समान" दाहिनी ओर सिर झुकाये बैठी थी। लारा ज़िवागो के लिये वैसी ही मुग्धा नायिका है जैसी वह कोमारोव्स्की के लिये थी। "वह तोन्या की पूजा करता था।" और उससे लारा के प्रति अपने प्रेम को छिपाता भी रहता था! उसे प्रकृति से प्रेम था। संध्या समय वन में डूबता सूरज देखकर उसे लगता कि "रोशनी के नश्तर उसे भी वेध रहे हैं।" (पृ० ३१०)। पहले तोन्या से रूमाल पाने पर उसे इस बेधन क्रिया का अनुभव हुआ था। अब उसे रोशनी वेधती है। वास्तव में बेधने वाली वस्तु दूसरी है। "वन, सूर्यास्त की आभा, प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ ने रूप बदल कर एक बालिका का आकार धारण कर लिया। 'लारा'। उसने आँखें बन्द कर लीं। [जैसे कोमारोव्स्की ने बन्द की थीं, जैसे तोन्या को देखकर खुद ज़िवागो ने बन्द की थीं।] और समग्र जीवन, ईश्वर की समूची धरती, सामने प्रकाश से भरी हुई भूमि को संबोधित करते हुए उसने सोचा और वह फुसफुसाया।"

वह अपनी पत्नी और बच्चों को धोखा दे रहा था, अपनी असंयत वासना को जीवन, धरती और आकाश के रहस्यवाद से ढाँप रहा था। कितनी बार

इस ज़िवागो ने, जिसे मार्क्सवादियों के घिसे-पिटे सूत्रों से बेहद नफ़रत है, जीवन शब्द का प्रयोग नहीं किया, और कितनी बार इस जीवन ने सिमट कर किसी नवोढ़ा बाला का रूप धारण नहीं किया !

वह उसे कितना प्यार करता था। वह क्यों इतनी सुन्दर लगती थी? "क्या वह कोई ऐसी वस्तु थी जिसका नाम लिया जा सके और गुणों की सूची में उसकी ओर संकेत किया जा सके? नहीं, हजार बार नहीं ! वह अनुपम सादगी और तेजी से खींची हुई विधाता की उस रेखा के कारण सुन्दर थी जिस "स्वर्गीय छवि-रेखा में लिपटी हुई, स्नान के बाद चादर में दृढ़ता से लपेटे हुए शिशु के समान, वह उसकी [ज़िवागोकी] आत्मा के संरक्षण में छोड़ दी गई थी।" (पृ० ३३१)।

शिशु के समान ! ज़िवागो बालिका प्रेमी है। रमणी बालिका न भी रहे तो भी वह उस पर बालिकारूप आरोपित कर लेता है। कोमारोव्स्की भी बालिका-प्रेमी था।

एक दिन उसने देखा—लारा उसके बिस्तर पर बाहें फैलाये उसकी ओर झुकी हुई है। डाक्टर रोगी बना, नर्स डाक्टर बनी। उसके केश ज़िवागो के बालों से मिल गये। वह आनन्द में डूब गया। पस्तेरनाक के अनुसार प्रेम बहुत लोग करते हैं किन्तु ज़िवागो के प्रेम की विशेषता यह थी कि वह जीवन को पहचान लेता था। इस पहचान में तोन्या के जीवन का क्या हो रहा है, इसका ध्यान मर्मी कवि ज़िवागो को न रहता था। उसे छापेमार अपने साथ ले गये थे—उसकी इच्छा के विरुद्ध—उसके चिकित्सक का काम लेने के लिये। क्रान्तिकारी कितने निठुर थे, यह सिद्ध करने के लिये वह बार-बार अपने परिवार की दुहाई देता है, तोन्या के नाम की माला जपता है लेकिन जब इसी परिवार से मिलना संभव होता है, तब वह तोन्या के घर की ओर मुँह भी नहीं करता, सीधा लारा के प्रेमकक्ष की ओर दौड़ता है ! तोन्या से क्रान्तिकारियों को खतरा है, इसलिये उस अबला को देश-निकाला मिलता है ! ज़िवागो का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। वह लारा से कहता है : जब तुम्हें स्कूली लड़की की पोशाक में देखा था, तभी समझ गया था कि इस दुबली-पतली छोकरी में "विद्युत्-लहरियों के समान विश्व

का समग्र रमणीत्व भरा है। यदि मैंने उस क्षण तुम्हें उँगली के छोर भी से छू लिया होता, तो एक विद्युत्कण से सारा कमरा दीप्त हो उठता और या तो मैं उसके आघात से उसी क्षण मर जाता या शेष जीवन में वेदना और अतृप्त आकांक्षा के मैगनेटिक प्रवाह से भर जाता।" (पृ० ३८३)

बेशक, ज़िवागो उर्फ़ पस्तेरनाक ने यहाँ मौलिकता की पराकाष्ठा कर दी है। नारी के आकर्षण में पुरुष ने बहुत-सी बुद्धिमानी की बातें की और कही हैं लेकिन कमरे में प्रकाश हो जाना—पुरानी अभिसारिकाओं की भाँति नहीं—ऐसी बिजली का प्रकाश फैलना जो हाथ लगते ही जान ले ले अथवा प्रेमी को मैग्नेटिक प्रवाह से भर दे—बस कमाल कर दिया है ज़िवागो ने। इस कल्पना के आगे दुनिया के सभी हवाबाज़ शायर झख मारते हैं।

इसके बाद उसे लारा का जीवन संकटमय मालूम होने लगता है—पुनः भय है क्रातिकारियों से कि उसकी प्रेमिका को पकड़ कर वे उसका वध न कर दें। कोमारोव्स्की फिर आ टपकता है। उसके समझाने से ज़िवागो महान् आत्मत्याग करता है; लारा की रक्षा करने लिये उसे त्याग देता है! यानी झूठ बोलकर कि आता हूँ, उसे कोमारोव्स्की के साथ चला जाने देता है। ग़म गलत करने के लिये वोदका (शराब) की शरण लेता है।

ज़िवागो की धार्मिक अनुभूतियाँ अभी समाप्त नहीं हुई। जब उसकी आयु कोमारोवस्की (जब वह लारा का पितृतुल्य प्रेमी था) के बराबर या उससे कुछ बढ़कर होती है, तब जीवन-रहस्य उद्घटित करने के लिये मरीना नाम की नवीन मुग्धा से परिचय होता है। लारा की रचना विधाता ने अनुपम सादगी वाली रेखा खींच कर की थी; मरीना की रचना के समय विधाता चित्रकार के बदले स्वरकार हो गये थे। मरीना की आवाज सुनकर लगता था, वह उसका अंश नहीं है वरन् उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। "लगता था कि वह [आवाज़] उसकी पीठ के पीछे से या दूसरे कमरे से आ रही है।" किस्सा कोतह, वह "यूरी [ज़िवागो] की तीसरी पत्नी हुई यद्यपि उसने पहली को तालक न दिया था। इन दोनों ने अपनी शादी की रजिस्ट्री न करवाई। मार्केल और अगाथा [लड़की के माँ-बाप] कुछ अभिमान के साथ अपनी लड़की को डॉक्टर की बीबी कहते थे। बाप

बड़बड़ाता था कि लड़की की शादी ढँग से नहीं हुई, न गिर्जाघर में, न रजिस्ट्री द्वारा, लेकिन अगाथा कहती, 'तुम्हारा सिर फिर गया है! तोन्या अभी जिन्दा है; शादी हो तो द्विविवाह (बाइगैमी) की नौबत न आ जायगी!' मार्केल कहता, 'सिर तुम्हारा फिर गया है। तोन्या से क्या लेना-देना है? अपने लेखे वह तो दुनिया से उठ गई। उसकी रक्षा करने के लिये कोई कानून नहीं है।"

ज़िवागो क्रान्ति से त्रस्त है, उसका विरोधी है लेकिन प्रेम और विवाह के मामलों में वह परम क्रान्तिकारी है। द्विविवाह, त्रिविवाह की चिन्ता न करके वह आँखें बन्द करके नश्तर पर नश्तर खाता जाता है। मरीना से दो लड़कियाँ हुईं; जब छोटी लड़की छह महीने की थी, एक दिन ज़िवागो महोदय मरीना को छोड़कर गायब हो गये। तीन दिन बाद मित्रों तथा मरीना को सूचित किया कि वे उन्हें खोजने का विफल प्रयास न करें। "यथासंभव शीघ्रता और पूर्णता के साथ अपने जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिये वह कुछ समय एकान्त में बिताना चाहता था। जैसे ही काम में लग जायगा और उसे समुचित विश्वास हो जायगा कि वह पुराने ढर्रे पर न चलेगा, वह अपना गुप्त स्थान छोड़ कर मरीना और बच्चों के पास लौट आयेगा।" (पृ० ४३४)।

किस अनुपम सादगी और तेज़ी से खींची हुई विधाता की रेखा की तरह वह गायब हो जाता है। उसकी कवित्व-पूर्ण आवाज़ पीठ के पीछे से नहीं, दूसरे कमरे से नहीं, किसी गुप्त स्थान से आती है जिसका पता उसकी पत्नी और उसके मित्रों को नहीं है। यह सब "जीवन" का पुनर्निर्माण करने के लिये! मरीना की जान गई, ज़िवागो की अदा ठहरी!

ज़िवागो की गंभीर उदासीनता का वास्तविक रूप यह है। तोन्या, लारा, मरीना...., हृदयरोग न होता तो यह क्रम कुछ दिन और चलता। वह मुग्धाओं के प्रौढ़ा होते ही या उनका मुग्धाभाव समाप्त होते ही परम विरक्त हो जाता है और इस विरक्ति का शिकार उसकी सन्तान भी होती है। यह ज़िवागो दूसरों को गालियाँ सुनाता है कि वे सूत्रों के पीछे दीवाने हैं, जिन्दा इन्सान को नहीं देखते, दया की बातें करते हुए अत्यन्त निर्दय

हो जाते हैं। उपन्यास में कम से कम एक पात्र ऐसा है जो ज़िवागो के रहस्यवाद और उसकी लफ्फाज़ी के भुलावे में न आ कर उसका असली रूप उसे दिखा देता है। उसका मित्र गौर्डन उससे कहता है, "हम तुम्हें जाने न देंगे जब तक तुम दिल से सीधा सच्चा उत्तर न दोगे। तुम इस बात से सहमत हो या नहीं कि तुम्हें अपने तौर-तरीके बदल कर अपना सुधार करना चाहिये? इस सिलसिले में तुम क्या करने जा रहे हो? सबसे पहले तोन्या और मरीना के सम्बन्ध की बात साफ करो। वे मनुष्य हैं, नारी हैं जिन्हें वेदना और दुखों का अनुभव होता है। वे अशरीरी विचार नहीं हैं जिनसे दिमाग़ में तुम खेलते रहो। इसके अलावा यह कलंक की बात है कि तुम जैसा आदमी बर्बाद हो जाय। जागो और आलस छोड़ो। साहस बटोरो और अपनी निन्तात अनुचित हेकड़ी छोड़कर दुनिया को देखो। हाँ, हाँ, हरेक के संबंध में यह अक्षम्य घमंड छोड़ो। तुम्हें अपने काम पर जाना होगा और प्रैक्टिस शुरू करनी होगी।" (पृ० ४३२)

उपन्यास के जैकेट पर प्रकाशकों ने बहुत कुछ लिखा है; यह सम्मति उद्धृत कर देते तो पाठकों का आकर्षण दुगना हो जाता। यदि पस्तेरनाक ने गौर्डन के दृष्टिकोण से ज़िवागो की यह जीवनी लिखी होती [उपन्यास से अधिक अठारहवीं सदी के कथा-साहित्य की परम्परा में वह जीवनी ही अधिक है] तो संभावना थी कि रूप के पुराने बुद्धिजीवियों के निष्क्रिय समाजविरोधी आचारहीन जीवन की वह व्यंग्यपूर्ण झाँकी होती। किन्तु पस्तेरनाक ने तटस्थता से [गंभीर उदासीनता को ध्यान में रखकर] ज़िवागो का चित्रण नहीं किया वरन् उससे तादात्म्य स्थापित किया है, ज़िवागो के माध्यम से समाजवादी क्रान्ति और नयी समाजव्यवस्था के प्रति अपनी अपार घृणा—और गौर्डन के शब्दों में घमंड और हेकड़ी—व्यंजित की है। सामाजिक उत्तरदायित्व निबाहने को वह आत्मा का हनन समझता है। समाज के एक छोटे से अंग परिवार के प्रति भी वह अपना उत्तरदायित्व निबाहने में असमर्थ है।

ज़िवागो कवि है, दार्शनिक है, डाक्टर होने के कारण वैज्ञानिक भी है। व्यवहार में वह अन्धविश्वासों का पुतला है। उसकी सौन्दर्य-भावना

रुग्ण मानस की उपज मालूम होती है। अपने पुत्र साशा से बहुत दिनों बाद मिलता है। पिता को न पहचान कर साशा उसके मुँह पर तमाचा जड़ देता है। वह समझता है असगुन हुआ ! पत्नी तोन्या ने बहुत समझाया लेकिन "वह कमरे से बाहर गया तो उदास था और मन में अपशकुन की भावना थी।" (पृ० १६०)

यह अपशकुन चरितार्थ होता है तोन्या को छोड़ने में !

एक स्थान पर घर के बाहर भेड़िये दिखाई देते हैं। उसे लगता है कि वे उसका और लारा का नाश चाहनेवाली कोई विरोधी शक्ति हैं। कुछ घंटों के बाद यह विरोधी शक्ति 'प्राग् ऐतिहासिक पशु या ड्रैगन बन गई जिसकी राहें शुत्मा में दिखाई दी हैं और जो पशु या ड्रैगन यूरी के खून का प्यासा है और लारा के प्रति काम-पीड़ित है। (पृ० ३६४)। यह अपशकुन चरितार्थ होता है कोमारोव्स्की के आने और उसके साथ लारा के चले जाने में ! ज़िवागो एक रोगी को देखने जाता है। घड़ी के अचानक बज उठने से उस रोगी स्त्री का मन भय से सिहर उठा था। (पृ० ८२)। उधर तोन्या ने पति से कहा, अचानक घड़ी बज उठी थी; हम लोग बेहद डर गये थे। ज़िवागो ने कहा, "मेरे टाइफस के समय की सूचना है।" और यह अपशकुन चरितार्थ हुआ आगे चलकर उसे टाइफस होनेमें! (पृ०१८७)।

बर्च के पेड़ में दो कोंपल फूटे। कोंपल तीर हैं, दाँत हैं जिन्होंने वृक्ष को बेध दिया है और वह शहीद हो गया है। (पृ० २१६) उन्नीसवीं सदी के अनेक विकृत मानस वाले "डेकेडेंट" कवियों के समान ज़िवागो में "सैडि-स्टिक" और "मैसोकिस्टिक" दोनों तरह की वृत्तियाँ बीज-रूप में विद्यमान हैं। या तो उसके खुद नश्तर लगते हैं या वह दूसरों के नश्तर चुभोता रहता है। वृक्ष के शहीद होने का रहस्य है, उससे ज़िवागो का तादात्मय। एक पुरानी कहानी सुनकर उसे लगता है, "लारा का बायाँ कन्धा आधा खुला है। गुप्त सेफ को जैसे चाभी से खोला जाय, तलवार ने उसकी स्कंधअस्थि को खोल दिया और उसकी आत्मा की गुहा उघरने पर उसमें छिपाये हुए सभी भेद दिखाई दे गये।" (पृ० ३३१) अर्थात् ज़िवागो के उपचेतन में आकांक्षा है, लारा का हृदय चीर कर उसके गुप्त रहस्य देख ले।

जब हृदय में अँधेरा हो तो सारी दुनिया अँधेरी दिखाई देती है। एक जगह पस्तेरनाक ने बहुत सही लिखा है, "यद्यपि अभी दिन का तीसरा पहर ही था और खूब धूप फैली हुई थी, फिर भी यूरी के हृदय में इतनी उदासी और अँधेरा था कि उसे लगा कि वह काफी रात गये जिन्दगी के अँधेरे जंगल में खड़ा है।" (पृ० ३६८)। इस रोगी-दृष्टि से सूरज चाँद बन जाता है, विदाई की सूचना देने वाला एक अपशकुन। एक जगह पस्तेरनाक ने बादलों के लिये लिखा है कि वे पागलों की तरह यों भाग रहे थे मानों कोई उनका पीछा कर रहा हो। अन्धविश्वासी ज़िवागो को आतंकित करने के लिये क्रान्ति जैसी उथल-पुथल की आवश्यकता नहीं है; पत्ता खड़कने से भी उसका मन सिहर उठता है। एक बार वह ऐसे मकान में रहता है जिसमें चूहे बहुत हैं। वह उनके बिलों को टूटे काँच से बन्द करना चाहता है। इलियट-काव्य के प्रेमी चूहों और टूटे काँच के प्रतीकों से भली-भाँति परिचित होंगे। ज़िवागो सोवियत संघ का नहीं, "वेस्ट लैंड" का निवासी है।

कोई आश्चर्य नहीं कि रूस की समाजवादी क्रान्ति ज़िवागो को एक बीमारी ही लगती है। "यह एक बीमारी थी, युग का क्रातिकारी पागलपन कि हर कोई अपने हृदय में अपनी कही हुई बातों से और ऊपरी दिखावे से बिल्कुल भिन्न था।" (पृ० ४०६)। ज़िवागो स्वयं अपने मानववाद को जीवन में किस तरह चरितार्थ करता था, यह हम देख चुके हैं। किन्तु उसके क्रान्ति-विरोध का कारण उसका रोगी मन ही नहीं है। उसकी वर्ग-चेतना उसे उन सम्पत्तिशाली जनों की ओर खींचती है जिनके विशेषाधिकार नष्ट हो रहे हैं। उसकी माँ जमींदार-घराने की थी; पिता पूँजीपति था। उसे बचपन के दिन याद आते हैं जब ज़िवागो कारखाने, ज़िवागो बैंक, ज़िवागो बिल्डिंग्स—ऐसी न जाने कितनी चीजों के साथ ज़िवागो का नाम जुड़ा हुआ दिखता था। ज़िवागो के वैभव के दिन बीत गये। लारा एक जगह उसी के मन की बात कहती है, "तुम और हम संसार के आरंभ के उन दो प्रथम नर-नारी के समान हैं जिनके पास तन ढँकने को कुछ न था। संसार के अन्त में तुम और हम बेघरबार और नंगे रह गये हैं।

तुम और हम उस असीम गरिमा की आखिरी यादगार हैं जो उनके और आज के बीच हजारों साल की अवधि में रची गई थी और उस खोये हुए गौरव की स्मृति में हम जीते हैं, प्रेम करते हैं, रोते हैं और एक दूसरे से चिपके रहते हैं।" (पृ० ३६२)।

जीवन और प्रेम का रहस्यवाद अब ज़्यादा स्पष्ट हो जाता है। खोया हुआ गौरव, व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव से लेकर पूँजीवाद की मंजिल तक के अर्जित अधिकार—सब ढह गये। लारा और ज़िवागो उस मिटती हुई दुनिया के अवशेष हैं। सोवियत समाज में ज़िवागो की आवाज खंडहरों में घूमने वाले प्रेत की आवाज़ के समान है।

ज़िवागो को बचपन में अपना चाचा निकोलाइ बहुत प्रिय था। उसमें सभी जीवों के प्रति "अभिजात वर्गीय समानता की भावना" ("ऍरिस्टोक्रैटिक सेन्स आव इक्वालिटी") थी (पृ० १७)। अभिजात वर्ग और समानता! अर्थात् ऐसी समानता जो सर्वत्र जीवन-प्रवाह तो देखे किन्तु वर्ग-शोषण के प्रति आँखें बन्द कर ले। चाचा निकोलाइ का विचार है कि "लोग जब संगठन के खूँटे से बँधते हैं तब यह उनकी कम-अकली का सबूत होता है, चाहे वे सोलोवयेव के खूँटे से बँधे हों, चाहे काण्ट के या मार्क्स के खूँटे से। सत्य की खोज केवल व्यक्ति कर सकते हैं। और वे उनसे नाता तोड़ लेते हैं जो उससे यथेष्ट प्रेम नहीं करते।" (पृ० १८)। इस प्रकार ज़िवागो ने लड़कपन से ही अपने वर्ग के अनुकूल राजनीतिक शिक्षा पायी थी; अपने चाचा के ही समान वह हर तरह के संगठन का विरोधी बन गया था। ज़िवागो मार्क्सवाद पर यह गंभीर मन्तव्य प्रकट करता है। "मार्क्सवाद को विज्ञान कहते हो?....मार्क्सवाद ने अभी अपने ऊपर इतना प्रभुत्व हासिल नहीं किया कि उसे विज्ञान कहा जा सके। मार्क्सवाद और वस्तुगत सत्य की बात करते हो? मेरी समझ में कोई भी दर्शन इतना आत्म केन्द्रित और वस्तु-सत्य से इतनी दूर नहीं है जितना मार्क्सवाद।.... राजनीति मेरे लिये निरर्थक है। मुझे वे लोग पसन्द नहीं हैं जो सत्य के प्रति उदासीन हैं।" (पृ० २३५)। उदासीनता के दर्शन का हामी ज़िवागो "सत्य" के प्रति उदासीनता पसन्द नहीं करता। वह सत्य क्या है?

है, सम्पत्तिशाली वर्गों का स्वार्थ; उनका निष्क्रिय विलासी जीवन। वह राजनीति को अपने लिये निरर्थक बतलाता है लेकिन उसके राजनीतिक विचार अत्यन्त स्पष्ट और रहस्यवाद से परे हैं। यही नहीं, वह पग-पग पर मार्क्सवाद और क्रान्ति के विरुद्ध प्रचार को अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता है। क्रान्ति क्या है? एक प्रवंचना। क्रान्ति हुई। शहरों के लोग अज्ञात की आशंका से बच्चों के समान असहाय हो गये। वे लँगड़ाते, लड़खड़ाते अज्ञात लक्ष्य की ओर चले जा रहे थे, बातें करते और अपने को धोखा देते हुए। केवल ज़िवागो समझता है कि हो क्या रहा है। "उसे और उस जैसों को विनाश का दंड सुनाया जाता है।" (पृ० १६८) क्रान्ति का अर्थ है, हत्या, आतंक, पराधीनता! "जो कुछ हो रहा है, वह पागलपन है, एक बेहूदा दुःस्वप्न।" (पृ० २३७)। क्रान्तिकारी जब कानून अपने हाथ में ले लेते हैं तब वे भयानक हो उठते हैं, आततायियों के रूप में नहीं, मशीनों की तरह जो कंट्रोल के बाहर हो गई हों। (पृ० २६८)। जिन्होंने क्रान्ति को प्रेरणा दी है, उन्हें उथल-पुथल के अलावा कोई चीज अच्छी नहीं लगती। (पृ० २६६)। जब लोग जिन्दगी को नये सिरे से सँवारने की बात करते हैं, तो "मेरा आत्म-नियंत्रण खत्म हो जाता है और मैं निराशा में डूब जाता हूँ।" (पृ० ३०५)। एक क्रान्तिकारी के प्रति उसे इतनी घृणा होती है कि वह बड़बड़ा उठता है, "किसी दिन मैं उसे मार डालूँगा।" (पृ० ३०७)। उसके अनुसार लोग अमानुषिक व्यवहार को वर्ग चेतना समझते हैं, अपनी बर्बरता को सर्वहारा दृढ़ता और क्रान्तिकारी सहज बोध कहते हैं। (पृ० ३१५) छापेमारों के साथ रहते हुए जब वह क्रान्तिविरोधी फौज के सैनिकों को देखता है तो ज़िवागो की सारी सहानुभूति उनकी ओर उमड़ पड़ती है। "उसकी समग्र सहानुभूति इन वीर बालकों के साथ थी जो मौत का सामना कर रहे थे। वह अपने संपूर्ण हृदय से उनकी विजय की कामना करता था। वे उन परिवारों के थे जो संभवतः भावना, शिक्षा, नैतिक अनुशासन और मूल्यों में उसके सगोती थे।" (पृ० ३०२)।

ज़िवागो के लिये राजनीति निरर्थक नहीं है। वह अभिजात वर्ग के क्रान्ति-विरोधियों की सफलता की हार्दिक कामना करता है। ज़िवागो अर्थात्

पस्तेरनाक के राजनीतिक विचार क्रान्ति-विरोधी हैं और कम से कम इस उपन्यास के बारे में यह स्पष्ट है कि सोवियत संघ में उसके प्रकाशन की माँग का अर्थ है, वहाँ क्रान्ति-विरोधी प्रचार के लिये खुली छूट की माँग करना। पस्तेरनाक में घृणा का इतना विष एकत्र है कि उपन्यास के अन्त में वह एक पात्र से दूसरे महायुद्ध के बारे में कहलवाता है, "जब युद्ध शुरू हुआ तब उसकी वास्तविक विभीषिका, खतरे, और मृत्यु का भय, झूठ की अमानुषिक शक्ति की तुलना में, वरदान मालूम पड़े। मृत शब्दों का जादू टूटने पर लोगों ने कुछ सुख की साँस ली।" (पृ० ४५३) अर्थात् जर्मन नाज़ियों ने जो कुछ उत्पात सोवियत भूमि में किया, वह सब कम्युनिस्ट आतंक के सामने हेच था! फिर भी लोग सोवियत व्यवस्था के लिये लड़े और युद्ध से लाभ उठा कर उस आतंक को समाप्त न कर दिया, इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या होगी!

सोवियत समाज हिंसा और आतंक के बल पर टिका हुआ है, इस झूठ का इतना प्रचार हुआ है कि अनेक सीधे पाठक ज़िवागो या उस जैसे अन्य पात्रों की उक्तियों पर विश्वास कर लेंगे। इसलिये पस्तेरनाक के इस उपन्यास से ही दो-एक उदाहरण देना असंगत न होगा जिनसे क्रान्ति और सोवियत समाज-व्यवस्था की लोकप्रियता साबित होती है। पस्तेरनाक ने क्रान्ति को भयानक और हिंसक दिखाने में कुछ उठा नहीं रखा। इसलिये इन उदाहरणों का महत्त्व और भी अधिक है।

छापेमारों के साथ ज़िवागो जब चिकित्सक रूप में काम कर रहा था, तब के बारे में पस्तेरनाक ने लिखा है, "जाड़ों में टाइफस, गर्मियों में पेचिश, लड़ाई फिर चालू होने से घायलों की संख्या में बढ़ती होने से वह एकदम काम में फँसा रहता था।" इससे स्पष्ट है कि छापेमारों का जीवन बहुत सुखमय नहीं था। फिर भी—"अक्सर पीछे हटने और नुकसान उठाने के बावजूद नये विद्रोहियों के आ मिलने से छापेमारों की सफें बराबर बढ़ती जाती थीं। जिन बस्तियों से किसान-सेना (पेजेंट आर्मी) गुजरती थी, वहाँ नये विद्रोही आ मिलते थे और शत्रु सेना के भगोड़े भी इस ओर आ जाते थे। यूरी अपने दस्ते के साथ अठारह महीने रहा था और अब वह दस्ता

अपने मूल आकार से दसगुना बड़ा हो गया था।" (पृ० ३००)। अभिजात वर्ग के सदस्य छापेमारों को चाहे जो कहें, किसान उन्हें प्यार करते थे और टाइफस, पेचिश, घावों की चिन्ता न करके वे उनकी संख्या बढ़ाते रहते थे। सोवियत क्रान्ति की विजय का यह एक महत्वपूर्ण कारण था।

श्वेत सेना और लाल फौज का अन्तर, दोनों के प्रति किसानों की भावना का भेद इस एक वाक्य से प्रकट हो जाता है। "श्वेत सैनिकों के दंड से त्रस्त होकर आसपास के देहातों की समूची किसान-जनता घरों से भाग आई और अब किसान-सेना में भर्ती होना चाहती थी; क्योंकि वह उसे अपना स्वाभाविक संरक्षक मानती थी।" (पृ० ३२३)।

लाल फौज किसानों की संरक्षक थी—क्रान्ति का अकाट्य सत्य यहाँ प्रकट हो ही गया है।

एक अनाथ बालक है, वास्या। उसका गाँव जला दिया गया है। उसकी माँ डूब मरी है। वह ज़िवागो के साथ मौस्को आता है और छापे का काम सीखता है। इस अनाथ निराश्रित बालक के लिये क्रान्ति कौन-सा सन्देश लाई है? "एक समय आया जब यूरी और वास्या की मैत्री ठंडी पड़ गई। वास्या का विकास मार्के का हुआ था। वह अब नंगे पाँव, चीथड़े पहने हुए, उलझे बालों वाला बालक न था जो वेरेतेन्निकी से आया था। क्रान्ति ने जिन सत्यों की घोषणा की थी, उनकी स्वतः सिद्ध स्पष्टता उसे अधिकाधिक आकर्षित करती थी। यूरी की बातचीत "चित्रमय प्रतीकों और अस्पष्टता के कारण उसे भ्रान्त, विनाशोन्मुख अपनी कमजोरी के अहसास के कारण भुलावा देने वाली जान पड़ती थी।" (पृ० ४२५)। वास्या ने ज़िवागो का साथ छोड़ दिया। पीड़ित वर्गों के लोग जितना ही नयी समाज व्यवस्था की ओर खिंचते थे, निहित स्वार्थों के लोग उतना ही उससे घृणा करते थे। प्रेम और जीवन का रहस्यवाद जनता को भरमाने के लिये था लेकिन वास्या जैसे लड़के भी इस रहस्यवाद की असलियत पहचान जाते थे।

ज़िवागो और लारा ही नहीं, उनके रचयिता पस्तेरनाक भी एक पुरानी दुनिया की यादगार हैं। इस पुरानी दुनिया में समाज का बहुसंख्यक भाग

मेहनत मजूरी करता था, और मुट्ठी भर भाग उनका असल हथिया कर ऐश करता था। इन मुट्ठी भर सम्पत्तिशाली लोगों की संस्कृति का प्रतिनिधि है ज़िवागो। पस्तेरनाक ने क्रान्ति से मजदूरों और किसानों को तबाह होते नहीं दिखलाया। यही नहीं, मेहनत करने वालों से वे इतनी दूर हैं कि उन्होंने अपने उपन्यास में उनकी कोई भी भरी पूरी तस्वीर नहीं खींची। इस श्रमिक जनता से दूर रह कर मानव-जीवन और मानव-संस्कृति को ज़िवागो-तोन्या, ज़िवागो-लारा, ज़िवागो-मरीना आदि (ज़िवागो-बैंक, ज़िवागो-फैक्ट्री, ज़िवागो-बिल्डिंग्स की तरह!) के सम्बन्धों तक सीमित करके पस्तेरनाक ने ऐसी नैतिकता को अपनाया है जो सोवियत समाज में ही नहीं, संसार के अन्य अनेक भागों में भी घृणित समझी जायगी।

इस संस्कृति की विशेषता उसका दुरंगापन है। मानवजीवन की बात करो, व्यवहार में स्वार्थ के आगे दूसरों को भूल जाओ। सामाजिक उत्तर-दायित्व और राजनीति से दूर रहो लेकिन श्रमिकवर्ग की राजनीति, उसकी नयी व्यवस्था पर खूब कीचड़ उछालो। जीवन-प्रवाह में डूब जाओ और वर्ग-शोषण, वर्ग-विरोध, वर्ग-संघर्ष को भी उसी में डुबो दो। शब्दों में उच्च आदर्शों की घोषणा करो, व्यवहार में स्वेच्छाचारी विलासी का जीवन बिताओ। ज़िवागो का संसार बहुत ही सीमित है। वह इंद्रियबोध की दुनिया में रहता है। मैत्री त्याग, शूरता आदि की भावना तक उसकी पहुँच नहीं है। इन्द्रिय-बोध के संसार में भी वह प्रायः एक रुग्ण मानस का परिचय देता है। उसकी इच्छाशक्ति को लकवा मारा गया है। उसका स्वेच्छाचार आत्मघाती है; यह उसके जीवन से ही सिद्ध होता है। ज़िवागो खुद अपना शत्रु है, उसे क्रान्ति या समाजवाद ने नहीं मिटाया, अहंवाद के घुन उसे खा गये हैं। इसलिये तोल्स्तोय आदि से उसकी तुलना एकदम निरर्थक है।

ज़िवागो की जीवन-दृष्टि का मूल तत्व है—इतिहास के निर्माण में दखल न दो। हजारों साल से भूमि और पूँजी के स्वामी गरीबों पर शासन करते आये हैं। वही क्रम चलने दो। ज़िवागो को राजनीतिक प्रचारकों से नफ़रत है लेकिन क्रान्ति-विरोधी प्रचार के लिये शब्दों की झड़ी लगाने में वह नहीं चूकता। इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रांस आदि के सोवियत-विरोधी प्रचा-

रकों ने जो "तथ्य" एकत्र किये हैं, उन्हीं की कमोबेश आवृत्ति ज़िवागो द्वारा हुई है। मौलिकता न राजनीतिक विचारों में हैं, न प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण में। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के डेकेडेन्ट कवियों का स्वर हर पृष्ठ पर सुनाई पड़ता है। मौलिकता है अन्धविश्वासों, क्रान्ति-विरोधी विचारों और रुग्ण मानस से स्वरों के मिश्रण में।

रूसी क्रान्ति में सब कुछ अच्छा ही अच्छा नहीं हुआ, न सोवियत समाज दोषों से पूर्णतः मुक्त है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रूसी समाजवादी क्रान्ति ने विश्वपूँजीवाद का घेरा तोड़ा, एक नयी व्यवस्था को जन्म दिया, रूसी जनता के आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में बुनियादी परिवर्तन किये और नाजी जर्मनी को पराजित करके विश्वपूँजीवाद को दूसरा जबर्दस्त धक्का दिया। इन सब घटनाओं के समग्र मानवजाति का हित हुआ है। पस्तेरनाक ने जो कुछ लिखा है, वह उसके देश के लिये और जाग्रत मानवता के लिये अपमानजनक है। इस तरह की कृति का जो उपयोग हो सकता था, वही हो रहा है। शीत युद्ध के लिये पूँजीवादी प्रचारक उसे सोवियत-विरोधी अस्त्र के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं। इस शीतयुद्ध का एक लक्ष्य भारत जैसे देशों को पिछड़ा हुआ रखकर उनमें विदेशी पूँजी के मुनाफे की रक्षा करना भी है। इसलिये ज़िवागो-सम्बन्धी प्रचार से सावधान रहकर हिन्दी पाठकों को स्वयं उसे पढ़कर अपनी राय कायम करनी चाहिये। क्या हमारे लिये ज़िवागो की आचारहीनता, उसका अनैतिक अहंवाद, उसकी इतिहास-सम्बन्धी अवैज्ञानिक धारणाएँ, उसके अन्धविश्वास हितकर हैं? हमारी संस्कृति में वे कौन से मूल्यवान तत्व हैं जिनसे ज़िवागो की जीवन-दृष्टि मेल खाती है? उपन्यास पढ़ने के बाद इस तरह के प्रश्नों का उत्तर देना असंगत न होगा।

अनास्था और अयथार्थ का साहित्य

हिन्दी भाषा को जितना समृद्ध प्रयोगवादी कविता ने किया है, उससे ज़्यादा समृद्ध उसे नयी कविता के समर्थन में लिखी हुई आलोचना ने किया है। हिन्दी कविता का पाठक चाहे वह प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा का प्रेमी रहा हो, चाहे दिनकर, बच्चन, सुमन और नरेन्द्र की रचनाओं को प्यार करता हो, चाहे उसने नीरज और वीरेन्द्र मिश्र जैसे कवियों के गीतों में रस लिया हो, अथवा वह इन सभी से कुछ न कुछ साहित्यिक आनन्द पाता रहा हो, "नयी कविता" से वह दूर भागता है। इसलिये आलोचना की लाठी से बार-बार हाँक कर उसे इस अप्रिय अनास्वाद्य प्रयोगशील काव्य-वस्तु की ओर लाना आवश्यक होता है। नयी कविता के लिये (उसके विरोध में नहीं, समर्थन में) यह दावा भी किया जाता है कि वह बौद्धिक है। इसलिये भी पाठक की बुद्धि में आलोचना द्वारा ही यह बात बिठाई जा सकती है कि जिसे वह कविता समझने से इन्कार करता है, वह कविता ही है और वास्तव में कविता तो बस वही है।

अभी तक नयी कविता की व्याख्या करते हुए कुछ लेख अज्ञेय-सम्पादित "प्रतीक" भारती-सम्पादित "आलोचना", "नयी कविता" तथा कुछ अन्य पत्रिकाओं में देखने को मिले थे। अब इस कविता को लेकर एक वृहद् शास्त्र भी प्रकाशित हो गया है। उसके दो सौ बानवे पृष्ठों में कही हुई बातें बानवे पृष्ठों में भी आसानी से कही जा सकती थीं किन्तु जब कविता में एक ही बात पचास बार कही जाती है तो आलोचना ही इस नियम का अपवाद क्यों हो? आयाम-प्रतिमान और परिप्रेक्ष्य वाली भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ का वैसे ही रोब पड़ता है, बात घुमा-फिरा कर बार-बार कही जाय तो और भी पुरअसर हो जाती है, वह तथ्य श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा लिखित "नयी कविता के प्रतिमान" से आपको भली भाँति अवगत हो जायगा।

अभी तक प्रयोगवाद को लोग कुंठावाद, पराजयवाद, पलायनवाद,

साहित्यिक अराजकतावाद का पर्याय समझा करते थे। यह कहने वाले कम थे कि वह सामाजिक संघर्ष का साहित्य है, उसकी मूलधारा क्रान्तिकारी और यथार्थवादी है और वास्तविक अर्थ में प्रगतिशील साहित्य वही है। अधिक से अधिक अपनी कुंठा और घुटन के बारे में कवि यही कहते थे : हम मध्य-वर्ग में पैदा हुए हैं; जीवन में कुंठा और घुटन भी है, फिर वह साहित्य में क्यों न आये? इसके लिये वे विदेशी कवियों का हवाला भी देते थे कि अगर विलायत के कवि उलटबाँसियो में रोते-झींकते हैं, तो उनके भारतीय शिष्यों को हिन्दी में सिसकने की स्वाधीनता क्यों न हो? यथा श्री धर्मवीर भारती ने "साहित्य की नयी मर्यादा" नाम के निबन्ध में लिखा था, "आज की व्यापक सांस्कृतिक रुग्णता में यह दासत्व भावना और प्रगति-विरोधी निष्क्रियता बहुत सहज संभाव्य है, क्योंकि टी० एस० इलियट के शब्दों में हमारा हृदय हम से अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग प्याज के छिलकों की तरह उतर गया है—क्योंकि हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते।" लेकिन अब प्याज़ के छिलके सोचने लगे हैं और उनका दावा है कि उनसे ज्यादा क्रान्तिकारी चिन्तन न मार्क्स ने किया है, न लेनिन ने और इस नये चिन्तन के आधार पर एक नयी दुनिया बसाने का समय अब आ गया है!

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का दावा है कि यथार्थ जीवन से छायावाद और प्रगतिवाद दोनों बचते थे; यथार्थ से आँखें चार करने का श्रेय प्रयोगवाद को है। हिन्दी काव्य-जगत् की इस ऐतिहासिक घटना के बारे में उन्होंने लिखा है, "छायवादी इस यथार्थ को भोगने की अपेक्षा इसे त्याज्य समझता था, इसलिये उसने यथार्थ से पृथक् कल्पनायें गढ़कर यथार्थ की अवहेलना करने को सबसे बड़ा मूल्य मान लिया था। प्रगतिवादी यथार्थ के नाम पर साम्प्रदायिक तत्वों की संकीर्णताओं में उलझ गया था, इसलिए उसमें भी यथार्थ का साक्षात्कार न कर उसे वहन करने अथवा भोगने की क्षमता नहीं थी। इन दोनों से पृथक् नयी कविता ने इस यथार्थ को उसके औचित्य के साथ स्वीकार किया।"

नयी कविता की यह यथार्थ-संबन्धी उपलब्धि इतनी चमत्कारी है कि

स्वयं श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने वाक्य के अन्त में एक आश्चर्यचिह्न लगा दिया है ! साधारण पाठकों को उस पर आश्चर्य हो तो उनकी भावना के औचित्य को स्वीकार करना ही होगा ।

वह यथार्थ कौन-सा है जिसे नयी कविता वहन या सहन करती है ? उत्तर है, "जीवन और उसके सत्य सबसे बड़े यथार्थ हैं ।" और जीवन का सत्य क्या है ? "जीवन निस्सार नहीं, जीने के लिए है, उसे जिया जा सकता है, उसे भोगा जा सकता है, उसके साथ मनुष्य हो कर मनुष्य के स्तर पर अनुभूतियों को ग्रहण किया जा सकता है और उनसे ओतप्रोत होकर जीवन की व्यापकता में सौन्दर्य, रस, आनन्द, बोध, अनुबोध के स्तरों को ग्रहण किया जा सकता है—यही नहीं उन्हें स्वीकार भी किया जा सकता है ।"

क्या प्रयोगवादियों से पहले भी किसी ने इस बात को समझा था कि जीवन जीने के लिये है ? एक छायावादी काव्य-पुस्तक में पढ़ा था,

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद ।

संभवतः यहाँ जीवन से पलायन करने का उपदेश दिया गया है ! उस पुस्तक में यह भी लिखा है,

अपने दुख-सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर ।

यहाँ शायद संसार को नश्वर मानकर वैराग्य लेने का उपदेश दिया गया है ! शायद छायावादी कविता में न सौन्दर्य है, न रस है, न आनन्द है ! इन सबका आविष्कार सबसे पहले प्रयोगवादियों ने और उनमें भी श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने किया है !

कठिनाई यह है कि पाठकों को नयी कविता में न रस मिलता है, न आनन्द, न उसमें उन्हें सौन्दर्य के दर्शन होते हैं । क्या यह कहना उचित न

होगा कि प्रयोगवादी कविता में मूलतः जीवन की अस्वीकृति है, उसके रच-यिताओं के लिये जीवन निःसार है, इसीलिये निरुद्देश्य होकर वे रोते सिस-कते हैं, उन्हें सुन्दर की अपेक्षा वीभत्स, रस की अपेक्षा नीरसता, आनन्द की अपेक्षा घुटन तथा बोध-अनुबोध की अपेक्षा अबोध और दुर्बोध शब्दजाल से ही अधिक प्रेम है ? यदि ऐसा न होता तो नीरसता, कुंठा, अहंवाद लयहीन बेतुकी रचनाओं की इतनी वकालत करने की जरूरत न पड़ती।

आप विश्वास करें चाहें न करें, लक्ष्मीकान्त जी परम आत्म-विश्वास से कहते हैं कि "आशा का स्वरूप हिन्दी कविता में नयी कविता के पूर्व पिछले उल्लास में ही व्यक्त होता हुआ मिलता है।" गहरे उल्लास के साथ आशा का स्वरूप अब व्यक्त हो रहा है। कितने उल्लास से प्रयोगवाद के जनक ने लिखा था,

मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता।

मनुष्य होकर मनुष्य के स्तर पर अनुभूतियों को यों ग्रहण किया गया है कि रिरियाते कुत्ते और कवि का भेद-भाव ही मिट गया है। एक अन्य उदा-हरण लजिये—

बाल बिखरे
गाल पिचके
निष्प्रभ
क्लान्त
आदि से अन्त तक
केवल अतुकान्त
श्रीमान्
श्रीयुत
श्री लक्ष्मीकान्त

अपने को निष्प्रभ और क्लान्त देखकर कवि को कितनी प्रसन्नता होती होगी, इसकी साधारण जन कल्पना नहीं कर सकते। यह नहीं कि शरीर में ही घुन लगा हो और भीतर आत्मा आस्था के मारे दमक रही हो। भीतरी दुनिया की हालत और भी खस्ता है।

"निकष" (तीसरे और चौथे संयुक्त संकलन) में प्रकाशित एक कविता यों आरंभ होती है :

मेरी कुंठा
रेशम के कीड़े सी ताने-बाने बुनती
स्वर से, शब्दों से, भावों से
और, वाणी से कहती-सुनती
तड़फ-तड़फ कर बाहर आने को सिर धुनती
गर्भवती है—
मेरी कुंठा क्वारी कुन्ती ?
बाहर आने दूँ तो लोकलाज मर्यादा
भीतर रहने दूँ तो घुटन
सहन से ज्यादा
मेरा यह व्यक्तित्व
सिमटने पर आमादा

व्यक्तित्व के सिमटने के बारे में आदि प्रयोगवादी शेखर पर उसके रचयिता का लिखा हुआ यह वाक्य याद कर लीजिये : "जिस प्रकार घोंघे के भीतर रहने वाला जीव तभी बाहर निकलता है, जब वह भूखा होता है या जब वह प्रणयी खोजता है, और तृप्त होकर फिर घोंघे के भीतर घुस जाता है, उसी प्रकार असंतुष्ट और अतृप्त शेखर भी बाहर निकला हुआ था।" नयी कविता के यथार्थवाद का मूलसूत्र इस वाक्य में मिल जाता है। वैसे घोंघा गद्य के लिये ठीक है; कविता में सीपी की उपमा ज़्यादा सार्थक होगी यथा—

सीपियाँ..............
यह गन्ध-दूषित
मुख-विवर जो किरकिराते रेतकन से
अचकचा कर अधखुला ही रह गया है।

ये सीपियाँ "अपनी घुटन का ले सहारा" मुक्त होना चाहती थीं। किससे ? "निस्सीम सागर से" ! उसी तरह प्रयोगवादी कवि अपने मर्दित

अहं को समाज से, परिवार से, समस्त [illegible] से मुक्त करना चाहता है। लेकिन मुक्त कैसे हो? कुंठावाली कविता देखिये। कुंठा "तड़फ-तड़फ" कर बाहर आने को सिर धुनती है। साथ ही स्वयं भी गर्भवती है। नतीजा यह कि न भीतर रह सकती है और न बाहर आ सकती है। इसलिये कवि का व्यक्तित्व सिमटने पर आमादा हो जाता है। शायद सिमट नहीं पाता; इसलिये घोंघे-सा या सीपी-सा गन्ध दूषित मुख-विवर खुला ही रह जाता है।

निकष (नं० २) में छपी एक कविता देखिये :

सूनी, अँधेरी यह हृदय की गुहा—
बन्द, चारों ओर चट्टानें उठीं, संस्कार की
भाव मन के कुलबुलाते जीव
ज्योति और वातहीन क्षुद्र परिधि में
रेंगते ज्यों गिलगिले अन्धे, मिट्टीखोर केंचुए।
धूप का न नाम है, न नाम हरियाली का।
दुर्गन्ध कड़वी और तीखी सड़ी प्याज़ सी
आकांक्षाओं के छाया प्रेत
न-कुछ में बनते और मिटते
भयंकर अ-यथार्थ
स्वार्थ, स्वार्थ।

दुर्गन्ध से भरा हृदय-कूप, केंचुए जैसे बिलबिलाते भाव, आकांक्षाओं के छायाप्रेत, यह अ-यथार्थ ही प्रयोगवाद का यथार्थ है जिसका पर्यायवाची दूसरा शब्द है स्वार्थ!

रस, आनन्द, उल्लास, आशा और यथार्थ की बात छोड़कर पता लगाना चाहिए, इस अयथार्थ निराशा और नीरसता का कारण क्या है। इस प्रश्न का उत्तर भी श्री लक्ष्मीकान्त की पुस्तक में मिल जायगा। नयी कविता ने व्यक्तित्व का अन्वेषण किया है अर्थात् कवि के अहं का। यथार्थ के नाम पर उसके पास अहं के अलावा और कुछ नहीं है। लक्ष्मीकान्त जी के अनुसार अहंवाद और सामाजिक दायित्व में परस्पर बैर नहीं है। कहना चाहिये कि जो जितना ही अहंवादी होता है, वह उतना ही सामाजिक दायित्व भी वहन करता है।

"अहम्‌वादी होना दोष नहीं। अहम् विकृति नहीं है। इसके विपरीत अहम् प्रकृति है, इसलिए कि वह अपने अस्तित्व का समर्थन है।" अमरीकी, अंग्रेज और फ्रान्सीसी व्यक्तिवादियों के निरपेक्ष व्यक्ति का हिन्दी रूप यह अहं है। इस अहं से पूछिये, "को हैं माता-पिता तुम्हारे ?" किस भाषा में तुमने शिक्षा पायी ? कौन तुम्हारे लिये अन्न पैदा करता है, वस्त्र बनाता है ? समाज जिन वर्गों में बँटा हुआ है, उनमें तुम किसके सदस्य हो ? ऐसा तो नहीं है कि अपने अहं की जड़ें तुमने "कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम" के कंपाउंड में गाड़ रखी हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर लक्ष्मीकान्त जी के यहाँ नहीं हैं। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद को जी-भर कोसने के बावजूद एक अकल्पित, अयथार्थ, न-भूतो-न-भविष्यति, निरपेक्ष व्यक्ति की रचना करके एक अभिनव रहस्यवाद की सृष्टि कर डाली है। अन्वेषण का चरम लक्ष्य यह अहम् कभी शिलाखंडों से दबा हुआ निर्भर होता है जो कहता है—

तुम दोगे जो मैं सहूँगा।

रवीन्द्रनाथ का निर्झर स्वप्न भंग करके वह चला था; यह अभिनव रहस्यवादी निर्झर केवल भारवाहक है। उसे कब शब्द मिलेंगे, कब वह मुँह खोलेगा—और मुँह खुलने पर बोलेगा भी या मुँह बाये ही खड़ा रहेगा—यह कोई नहीं कह सकता। कभी वह अकेला स्नेहभरा दीप है; शायद स्नेह अपने अकेलेपन से ही है। जो भी हो, यथार्थवाद के नाम पर रहस्यवाद की फीकी प्रतिध्वनि यों सुनायी पड़ती है—

> यह प्रकृत स्वयंभू, ब्रह्म, अयुतः
> इसको भी शक्ति को दे दो।

अहं और कुण्ठा के परस्पर सम्बन्ध पर एक सूत्र सुन लीजिये। "अहं कुंठा को परिष्कृत करता है। कुंठा रुग्ण मनः स्थिति का द्योतक है; इसलिये उसमें दृष्टि का अभाव रहता है।" रोग का परिष्कार, दृष्टिहीनता का परिष्कार; निवारण नहीं परिष्कार ! शायद कुंठावादी अन्वेषन में अहंवाद के कारण कुछ निखार आ जाता है ! यह बात सही है कि कुंठा का सम्बन्ध रुग्ण मनःस्थिति से है। यह और भी सही है कि नयी कविता में इस कुंठा का बोलबाला है और तब से है जब शेखर का जन्म हुआ था। इसीलिये

नयी कविता का यथार्थ जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है; वह अधिकतर रुग्ण मनःस्थितियों की उपज है या उनकी बचकानी नकल है। हम जीवन से पलायन नहीं करते, हम संघर्षों में जूझते हैं, हम बाधाओं और कठिनाइयों को चुनौती देते हैं, इस डींग के बल पर कविता में अहंवाद की प्रतिष्ठा की जाती है।

मैं उपेक्षित, व्यथित बालक
ज्यों पराये खिलौने को देखकर चुप हो गया सा,
फिर दुखित हो
लौट आता हूँ।
ऐसा है यह वीर अहंवादी। अथवा—
हवा अच्छी नहीं लगती। साँसों को रोको।
सब कुछ तुम्हारी बाँहों में समर्पित है।
मुझे ताप दो—
भ्रूण में रूपाकृत हो जाऊँ,
घुटने मोड़ कर सो जाऊँ।

इस पर दावा यह है कि नयी कविता निष्क्रियता से मुक्त है। यह इच्छा जीने की है या भ्रूण बन कर फिर सो जाने की है?

यह बात काफी सही है कि "यथार्थ की नीरसता, तिक्तता, विद्रूपता को सहन कर के नयी कविता मानव विशिष्टता और विवेक के आधार पर उसके नए स्तरों और संभावनाओं को विकसित करती है।" वाक्य का दूसरा भाग अप्रासंगिक है; मुख्य बात यह है कि नयी कविता यथार्थ की नीरसता की ओर ही अधिक झुकती है, सरसता, आशा और आनन्द की ओर नहीं। जुलाई-अगस्त १६५८ की "कल्पना" में श्री यज्ञदेव शल्य ने "नवीन काव्य-प्रवृत्तियाँ" नाम के लेख में श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की "कली की जड़ें" शीर्षक कविता का हवाला देकर बहुत ठीक लिखा है, "जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस कविता में कली को हँसाते रहने का कहीं विश्वास नहीं है, प्रत्युत् कवि जान बूझ कर निराशा, कुंठा और वीभत्सता (वीभत्स रस नहीं) की सृष्टि कर रहा है।" साहित्य में नीरसता का चित्रण वर्जित नहीं है, शर्त यही है

कि उसके चित्रण से साहित्य भी नीरस न हो जाय। नयी कविता नीरसता और विद्रूपता को सहन ही नहीं करती, उसे वहन भी करती है जिसके फलस्वरूप वह स्वयं नीरस बन जाती है।

लक्ष्मीकान्त जी ने सौन्दर्यबोध के नये तत्वों पर एक अध्याय ही लिख डाला है। यह अनावश्यक था। मुख्य बात यह कि आप काव्य-सौन्दर्य को भूल ही जाइये, तभी आप नयी कविता को सहन कर सकेंगे। सौन्दर्य के इस अभाव की अनुभूति श्री लक्ष्मीकान्त को भी हुई है। नयी कविता की विशेषताओं में एक यह भी है कि उसकी "विषयवस्तु और उसका भावस्तर मिथ्या कलाप्रियता की अपेक्षा उस सत्य को कहीं श्रेयस्कर समझता है जो महान् न होते हुए भी मानवीय हो सकता है।" नयी कविता ने किस तरह के सत्य का अन्वेषण किया है, उसके कुछ नमूने हम ऊपर देख चुके हैं। यह सत्य इतना महत्वपूर्ण है कि उसके लिये सौन्दर्य को "मिथ्या कलाप्रियता" कह कर तिलाञ्जलि दे दी गयी है। यह नयी कविता के अकवित्व का समर्थन है, नीरसता के पक्ष में दी गई दलील है।

लक्ष्मीकान्त जी का कहना है कि "नयी कविता के साथ उसका [अर्थात् नये कवि का] विश्वास उस मानव के प्रति है जो बड़ा भले न हो किन्तु लघु होने के साथ-साथ अपने प्रति जागरूक है।" यह बात बहुत पहले प्रसाद जी ने छायावाद और यथार्थवाद की चर्चा करते हुए लिखी थी। उस लघु मानव की प्रतिष्ठा "तितली" में, निराला जी के रेखाचित्रों में, प्रेमचन्द के उपन्यासों में, सुमन, नरेन्द्र आदि की अनेक कविताओं में मिलेगी। निःसंदिग्ध रूप से "नयी कविता" का सम्बन्ध लघु-मानव से नहीं है, उसका सम्बन्ध हमारे मध्य वर्ग के कुछ नौजवानों से है जो लघुमानव से बहुत दूर हैं और विदेश के एकाधिकारी पूँजीवाद द्वारा प्रचारित साहित्य और संस्कृति के बहुत निकट हैं।

यह धारणा भी सही नहीं है कि नयी कविता में प्रकट होने वाली कुंठा आज के मध्यवर्ग की स्थिति प्रतिबिंबित करती हैं। "ओ अप्रस्तुत मन!" के लेखक श्री भारतभूषण अग्रवाल ने उसके वक्तव्य में अपनी कविताओं के बारे में लिखा है, "वे एक साधारण मध्यवर्गीय मन की सच्ची तस्वीरें हैं।

पर उनमें—उनमें से प्रत्येक कविता में—मध्यवर्गीय मन की सच्ची छटपटाहट आपको मिलेगी, इतना दावा मैं जरूर कर रहा हूँ।" मध्यवर्ग के लोग कवि-सम्मेलनों में गीतों का रसास्वादन करते हैं। नयी कविता के पाठकों में मध्यवर्ग के साधारण जनों की अपेक्षा "नये कवि" ही अधिक हैं। श्री-भारतभूषण अग्रवाल ने लिखा है कि हिन्दी कविता "सबसे कम पढ़ी जाती है।" यह बात नहीं है। हिन्दी कविता खूब पढ़ी जाती है, उससे भी ज़्यादा सुनी जाती है लेकिन "नयी कविता" सबसे कम पढ़ी जाती है या प्रायः नहीं पढ़ी जाती, यह सच है।

मध्यवर्ग के साधारण जन इलियट और पाउंड के भक्त नहीं हैं, न उनकी चिन्तन-पद्धति उनकी समझ में आती है। अपने जीवन में वे राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय घटनाओं के बारे में भी सोचते हैं, देश के नवनिर्माण के बारे में सोचते हैं।

वे नये कवियों की तरह अहंवाद के घोंघे में बन्द नहीं रहते। मध्यवर्ग की चर्चा पतनशील पूँजीवाद की संस्कृति—वह भी हिन्दुस्तान का पूँजीवाद नहीं, यूरोप और अमरीका के मरणोन्मुख पूँजीवाद की संस्कृति—को छिपाने के लिये की जाती है। इस कुंठा और घुटन का मूल स्रोत वह भय है जो उपनिवेशों के स्वाधीनता आन्दोलन और समाजवादी देशों के द्रुत विकास से उत्पन्न हुआ है। आज एशिया और अफ्रीका के स्वाधीनता-आन्दोलन अप्रतिहत वेग से आगे बढ़ रहे हैं। श्री सर्वेश्वर दयाल को, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा को, श्री धर्मवीर भारती को, श्री भारत भूषण अग्रवाल और श्री अज्ञेय को इनमें लघुमानव के दर्शन नहीं होते! शताब्दियों से पद-दलित इन देशों की मानवता आज अपना भविष्य निर्माण करने के लिये बढ़ रही है। लेकिन लघुमानव के हामी इन नये कवियों के अन्ध हृदयकूप में भावों के केंचुएँ रेंग रहे हैं! उपनिवेशों के स्वाधीनता-आन्दोलनों को समाजवादी शक्तियों का प्रबल समर्थन प्राप्त है। मिस्र में लुटेरे घुसे लेकिन बेआबरू होकर निकलना पड़ा। जौर्डन और लबनान में घुसे हैं, बेआबरू होकर निकलेंगे। इसलिये साम्राज्यवादियों को समाजवादी देशों का अस्तित्व फूटी आँखों

नहीं सुहाता। हमारे नये कवियों को भी समाजवादी देश कला, संस्कृति और मानवता के कठघरे लगते हैं। उन्हें शान्ति कपोतों से चिढ़ है क्योंकि वे भारत में भी उड़ने लगे हैं। इसलिये अपने कुछ विरल क्षणों में अहं के दायरे से बाहर आकर अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति का अवलोकन करके नये कवि महोदय कहते हैं :

मुझे इसमें भी ऐतराज़ नहीं है
कि शान्ति लिखने के बाद
तुम एक क्षण को भी नहीं रुके,
तुम्हारे सर ऊपर नहीं उठ सके,
तुम्हारे होंठों पर मुस्कान नहीं आई
तुम तीर से अलग-अलग दिशाओं में
अपना अपना मुँह छिपा कर चले गए,
जहाँ तुम्हारी फौजें तुम्हारा
इन्तज़ार कर रही थीं;
महज़ इसलिये
कि मुझे विश्वास है
कि तुम्हारी आँखों के सामने
पिकासो का शान्ति-कबूतर ही था,
जिसे अगली बार युद्ध क्षेत्रों में
मार्च करते हुए विशाल टैंकों पर
तुम सुन्दरता के साथ
लगाने की बात सोच रहे थे।

प्रयोगवादियों के यथार्थ की परिणति शान्ति-आन्दोलन का विरोध करने में होती है। हर तरह की संगठित और सामूहिक कार्यवाही से इनका अहं पीड़ित हो उठता है और कुंठा उसी घुटन के चीत्कार से आसमान गुँजा देती है। इनके यथार्थवाद में समाजवाद के लिये जनता के संघर्ष को स्थान नहीं, राष्ट्रीय नव निर्माण को स्थान नहीं, देश-विदेश के स्वाधीनता आन्दोलन और विश्वशान्ति के किये लिये हुए प्रयत्नों को स्थान नहीं, जिन

सामाजिक समस्याओं का चित्रण प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला ने किया है, उनके लिये स्थान नहीं। इनका तथाकथित लघुमानव त्रिशंकु की तरह आसमान में लटका है और ये नीचे से उसकी आरती उतारा करते हैं। इनका क्षुद्र अहंवाद राष्ट्रविरोधी और समाजविरोधी है। दुख और घुटन की बातें बहुत करते हैं लेकिन उसमें गरीबों का दुख शामिल नहीं है। गरीबों के दुख की बात तो प्रगतिवाद हो जायगी! यदि गरीब मज़दूरों, मध्यवर्ग के बेकारों, बेदखल किसानों की बात की तो व्यक्ति की स्वाधीनता का खात्मा ही हो जायगा! कुछ अपने ही सुख-दुख की बातें ढंग से करें सो भी नहीं। लक्ष्मीकान्त जी की यह बात एक दम सही है कि "आज के [अर्थात् नयी कविता के रचयिताओं के] दृष्टिकोण में विशेषतः बौद्धिक अनुभूति ही प्रधान है।" कुंठा और घुटन की अनुभूति भी इन्हें बौद्धिक स्तर पर हुई है। दूसरे शब्दों में पुस्तकें पढ़ कर इन्होंने अपने मन को एक रुग्णावस्था में ढाल लिया है और इस आत्म-सम्मोहन की दशा में "नयी कविता" लिखते हैं।

अस्तुः यह सत्य है कि नयी कविता का संबन्ध अहंवाद से है किन्तु यथार्थ जीवन से यह कविता बहुत दूर है। रस, आनन्द, आशा, और जीवन की स्वीकृति दूसरों को—शायद अपने मन को भी—बहलाने के लिये है। वास्तविकता है, नीरसता, विद्रूप, निराशा और कुंठा। यह कविता मध्यवर्ग के जीवन से भी असंबद्ध है। इसीलिये जितने उसके लिखने वाले हैं, लगभग उतने ही उसके पढ़ने वाले भी हैं। वह यथार्थ जीवन का विरोध करने वाली है, वह जीवन की अस्वीकृति और वीभत्स की स्वीकृति है। नये कवि और नयी कविता के प्रचारक समाजवाद के विरोधी और व्यक्तिवाद के समर्थक हैं। बेचारों ने व्यक्तित्व की बहुत खोज की लेकिन वही उन्हें न मिला। धरती से अलग होकर हवा में गुलाब का फूल कैसे खिलता? श्री लक्ष्मीकान्त तथा अन्य अतुकान्त मित्रों के लिये "नयी कविता" (अंक दो) में प्रकाशित डॉ० देवराज की यह चेतावनी विचारणीय है। डॉ० देवराज के अनुसार प्रयोगवाद की एक बड़ी कमी है, "कवियों में व्यक्तित्व की कमी या अभाव। इस कमी के मूल में पारस्परिक अनुकरण या होड़ की प्रवृत्ति

भी है, और गंभीर साधना का अभाव भी। कवियों की साम्प्रदायिक-जैसी दीखनेवाली एकता—शैली अर्थात् मुहावरों, चित्रों, लय-विधान आदि की समानता—जहाँ उन्हें संगठन का बल देती है, वहाँ उनके व्यक्तित्वों को अनिर्दिष्ट भी बना देती है।" कोई भी ईमानदार पाठक इस सत्य को अस्वीकार न करेगा।

अनास्थावादी प्रतिमानो की परम्परा

ऊपर से देखने में प्रयोगवादी कविता पुरानी काव्य-परम्पराओं से एकदम विच्छिन्न है। प्रयोगवादी आलोचक उसके समर्थन में यह दलील भी देते हैं कि वर्तमान युग में पुरानी परम्पराएँ टूट गयी हैं और नयी कविता आधुनिक जीवन की देन है। वास्तव में प्रयोगवादी कविता और आलोचना दोनों की ही एक निश्चित परम्परा है जिसे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ पाश्चात्य कवियों ने कायम किया था। नयी कविता के सम्बन्ध में सारी दलीलें हिन्दी के प्रयोगवादी मित्रों ने बाहर से उधार ली हैं। इनका खंडन भी अनेक पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं में मिल जायगा।

इंगलैण्ड की नयी कविता का सम्बन्ध प्रथम विश्व युद्ध से जोड़ा गया था। हिन्दी की नयी कविता मुख्यतः द्वितीय महायुद्ध के बाद फूली-फली, इसलिये इसका सम्बंध दोनों युद्धों से जोड़ा गया है। एक अंग्रेज आलोचक का कहना है, "प्रथम महायुद्ध में ऊँची-ऊँची आशाएँ करने और कट्टरता से दावे पेश करने के बाद भ्रम टूटे और संदेहवाद आरम्भ हुआ।" (C. M. Bowra : The Creative Experiment, पृ० १६१)। हिन्दी आलोचक ने प्रथम महायुद्ध के साथ दूसरा महायुद्ध जोड़कर लिखा : "इन दोनों महायुद्धों ने किसी विशेष जाति या वर्ग पर ही अपना प्रभाव नहीं छोड़ा है वरन् सीधे या टेढ़े तरीके से उसका प्रभाव मनुष्य और उसके आदर्शों पर समान रूप से पड़ा और एक सैद्धांतिक भूडोल में नयी कविता के स्वर फूटे।" (श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, पृ० २८-२६)।

महायुद्धों से नयी कविता का इतना ही सम्बन्ध है कि इनके बाद पूँजीवादी संस्कृति का संकट और भी विषम होता गया है। प्रथम महायुद्ध के पहले ही जो पतनशील प्रवृत्तियाँ थीं, उन्होंने विकराल रूप धारण कर लिया। यह भी एक तरह का गुणात्मक परिवर्तन है किन्तु पतनशीलता का यह गुण,

पहले फ्रान्स और फिर इंगलैण्ड में प्रथम महायुद्ध से पहले ही, घुन की तरह कविता में लग चुका था। उपर्युक्त अंग्रेज आलोचक बावरा ने नयी कविता के पितामह इलियट के लिए लिखा है, "लगता है कि इलियट अकेला, सन्दिग्ध-मन और कभी-कभी अहंकारपूर्ण अवज्ञा प्रकट करने वाला व्यक्ति है। कोई आश्चर्य नहीं कि क्रान्तिकारी आलोचकों ने उसकी रचनाओं में उस सभ्यता का अन्तिम स्वर सुना है जिसे मालूम है कि उसका विनाश निश्चित है और जो सदा के लिये खोये हुए गौरव को, किसी आशा के बिना, फिर पाने का प्रयत्न करती है।" (उप० पृ० १८७)

बावरा ने जिन आलोचकों का उल्लेख किया है, उनकी बात बिल्कुल ठीक है। वह सभ्यता, जो अपना नाश निश्चित समझती है, पूँजीवादी सभ्यता ही है। उसका अन्तिम स्वर इलियट और उसकी मंडली की रचनाओं में सुना जाता है। उसकी फीकी प्रतिध्वनि श्री जगदीश गुप्त, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा प्रयाग के अन्य प्रयोगवादियों के गद्य-पद्य में सुनी जाती है।

इलियट ने लिखा कि रोमाण्टिक कविता उन लोगों के लिये है जो कविता में दिवास्वप्न देखते हैं अथवा जो कविता में अपनी निर्बल इच्छाओं और कामवासना का रूपान्तर अथवा जिसे वे भावोत्कर्ष समझते हैं, उसे देखना चाहते हैं। इलियट के लिये बायरन में विषयवस्तु का नितान्त अभाव है, शेली की रचनाएँ असम्बद्ध हैं; इसलिये साहित्य में रोमाण्टिसिज्म का प्रवेश निषिद्ध होना चाहिये।

इलियट ने रोमाण्टिक कविता से "विद्रोह" किया इसलिये श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा के लिये छायावाद में शिशुवत् जिज्ञासा है, अस्तित्व के प्रति ईमानदारी नहीं है, उसमें सौन्दर्य को आत्मसात् करने की चेष्टा नहीं है, इत्यादि। इन आरोपों का जो भी अर्थ हो, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने छायावादी कवियों की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि माना है निराला जी के कुकुरमुत्ते को! नयी कविता के लिये नया भावबोध आवश्यक है और "निराला उनमें सर्व प्रथम थे जिन्होंने इस नये भाव बोध के साथ 'कुकुरमुत्ता' की रचना की थी।" यहाँ होनहार प्रयोगवादी श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा गुरु इलियट से बाज़ी मार ले गये हैं।

नयी कविता अपनी बौद्धिकता के लिये प्रसिद्ध है। इलियट ने लिखा कि हृदय में ही नहीं,' 'कपाल-केन्द्र, स्नायुतंत्र और पाचक नलियों में झाँकना भी जरूरी है।" अब हर हिन्दी प्रयोगवादी बौद्धिकता की दुहाई देने को तैयार है और जो भी उसकी प्रतिभा अस्वीकार करे, उसे बौद्धिकता से खारिज करने पर आमादा हो जाता है। "नयी कविता के प्रतिमान" में इस बौद्धिकता का बखान देखा जा सकता है।

इलियट ने लिखा कि यह समझना भूल होगी कि सभी कविता लयपूर्ण होनी चाहिये; बेसुरेपन का भी अपना स्थान है।

नयी कविता के प्रतिमानों में भी दर्ज हो गया कि छन्द-सौन्दर्य, लय आदि कविता के लिये अनावश्यक तत्व हैं! नयी कविता के हामियों ने अपने बेसुरेपन से आसमान सिर पर उठा लिया और दावा यह करने लगे कि हम युग की आधुनिकता प्रतिध्वनित कर रहे हैं।

इलियट ने लिखा कि वर्तमान सभ्यता के कवियों का दुरूह होना स्वाभाविक है। कारण यह कि सभ्यता में विविधता और पेचीदगी है; इस सभ्यता की छाप कवि के मन पर पेचीदा ही पड़ती है। कवि आवश्यकता पड़ने पर भाषा को धुरीहीन करके अपने अर्थ में फिट करता है ("to dislocate if necessary, language into his meaning.")।

यह धुरीहीनता भाषा ही में नहीं, भाव, अर्थ, सौन्दर्यबोध सभी क्षेत्रों में है। और इस धुरीहीनता के कारण बेपेंदी के लोटों को सारी दुनियाँ धुरीहीन दिखाई देती है। नयी कविता की प्रतिमाएँ और प्रतिमान दोनों धुरीहीन हैं। ये "नये कवि" युग की आधुनिकता व्यंजित करने के लिए असम्बद्ध प्रतीकों का सहारा लेते हैं। इस असम्बद्ध प्रतीक-योजना के बारे में अंग्रेज कवि और आलोचक सिसिल डे लीविस ने लिखा है कि "कवि बहुत से खंडित प्रतिमाओं (images) का निर्माण करता है और उन्हें कहता है, ये घर हैं। यही नहीं, वह सचमुच दावा करता है कि यह प्रक्रिया आधुनिक स्थापत्यकला है अथवा उसका जो नतीजा निकलता है, वही आजकल घर कहलाने का अधिकारी है। लेकिन सुन्दर खँडहरों का निर्माण—और इस प्रक्रिया का यही अर्थ निकलता है—मूर्खता है। निरन्तर पेचीदा होती हुई

सभ्यता के अनुरूप कविता में पेचीदा मूर्तिविधान का होना न्यायसंगत होगा: जो युग हमें नये विचार-समूह और इन्द्रियबोध देगा, उसके अनुरूप साहस के साथ, नया मूर्तिविधान प्रस्तुत करना होगा। लेकिन इस तर्क से यह परिणाम हर्गिज नहीं निकलता कि भग्न सभ्यता का सही उत्तर भग्न कविता है।" (C. Day Lewis : The Poetic Image, पृ० ११७)

डे लीविस ने सुन्दर खँडहरों की बात की है। हिन्दी की नयी कविता में वे भी नहीं हैं। प्रयोगवादियों ने प्रतीकों और प्रतिमानों का जो ढेर लगाया है, वह खाद का काम ही कर सकता है।

इलियट ने इंगलैण्ड और अमरीका की स्वस्थ और प्रगतिशील काव्य-परम्परा से नाता तोड़ा। उसके तर्कस के तीरों से नयी कविता के प्रतिमान रचकर प्रयोगवादियों ने छायावादी और प्रगतिशील कविता पर वार किये। इलियट ने किसी तरह मेटाफिजिकल कवियों का नाम लेकर और यूरोप के कवियों में दान्ते का नाम स्मरण करके अपने को ईसाई कवियों की परम्परा का अनुयायी घोषित कर दिया। यहाँ श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा के हाथ परम्परा के नाम पर "कुकुरमुत्ता" ही लगा!

इलियट चाहे दान्ते का नाम ले, चाहे मेटाफिजिकल कवियों का, उसकी भावना का स्तर वही है जो फ्रांस और इंगलैण्ड के रोमाण्टिक कवियों के बाद वहाँ के पतनशील (डेकेडेंट) कवियों का था। निराशा, अकेलापन, कुंठा, घुटन—यह सब रोमाण्टिक कवियों में भी मिलता है। किन्तु यह उनके काव्य का एक पक्ष है। उनमें जनसाधारण के प्रति सहानुभूति, प्रकृति-प्रेम, क्रांति के लिये आकांक्षा, जीवन के प्रति उल्लास आदि भी मिलते हैं। पतनशील कवियों में पहला पक्ष ही अधिक विकसित होता है। निराशावाद और कुंठा घनीभूत होकर रोग बन जाते हैं। प्रकृति या सामाजिक जीवन में उन्हें कहीं आनन्द-उल्लास के दर्शन नहीं होते। इन कुंठावादियों से इलियट का गहरा सम्बन्ध है। इस प्रकार रोमाण्टिक कविता का निर्बल पक्ष इलियट में आकर नयी कविता का एकमात्र पक्ष रह जाता है। इलियट में रोमान्टिसिज़्म का विरोध सतही है; इलियट ने नाता तोड़ा है उसके स्वस्थ पक्ष से। रोमाण्टिक कवियों की निराशा, अकेलेपन की भावना, और इस

भावधारा के वारिस पतनशील कवियों की कुंठा और घुटन इलियट की एक-मात्र भावनिधि हैं।

हिन्दी की नयी कविता की पैंतरेबाजी समझने के लिये उसके पितामह इलियट के कविगुरुओं की परम्परा समझना आवश्यक है। मेटाफिजिकल कवियों पर इलियट-लिखित निबन्ध में दो फ्रांसीसी कवियों का उल्लेख है, एक जूल लाफोर्ग, दूसरा त्रिस्तां कौर्बियेर। इलियट के अनुसार किसी भी आधुनिक अंग्रेज कवि की अपेक्षा ये इंगलैण्ड के मेटाफिजिकल कवियों के निकट थे। इलियट पर इन दोनों कवियों का काफी असर पड़ा है। कौर्बियर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का कवि था। एडमंड विलसन के शब्दों में वह बड़ा सनकी था। (Edmund Wilson : Axel's Castle, पृ० ६३)। वह दिन भर सोता था और रात्रि में जीवन की अनुभूतियाँ एकत्र करता था और कविताएँ लिखता था। पैरिस में वेश्याओं से उसकी विशेष मैत्री थी क्योंकि अपने समान उन्हें भी वह समाज से बहिष्कृत समझता था। "उदासमन, दिमाग अस्वस्थ, तेजी से काम करता हुआ, कराहता हुआ, अश्लील मज़ाक करता हुआ कोर्बियर नंबरी कैदियों के कपड़े पहनकर अपने को प्रसन्न किया करता था, ग्रामीण गायकों के गायन के विरुद्ध खिड़की से पिस्तौल चलाकर अपना मनोरंजन करता था। एक बार वह रोम गया। शाम की पोशाक में वह निकला। सर पर धर्मगुरुओं का ताज रखा और माथे में दो आँखें चित्रित कीं और एक सुअर को फीतों से सजा कर साथ ले चला।" विलसन ने उसे एक 'रोमान्टिक व्यक्तित्व' कहा है। उन्नीसवीं सदी के उत्त-रार्द्ध में शेली और वायरन के बदले ऐसे ही रोमान्टिक व्यक्तित्व रह गये थे।

कौर्बियर का देहान्त तीस वर्ष और लाफोर्ग का देहान्त सत्ताइस वर्ष की अवस्था में हुआ। दोनों ही तपेदिक के मरीज थे। विलसन ने लाफोर्ग की वेदना को उस बीमार शिशु की वेदना कहा है जिसकी अच्छी तरह देख भाल होती हो; उसकी चतुर उक्तियाँ, आस्थाहीनता और बदतमीज़ी एक होशियार स्कूली लड़के की सी थीं। छायावादी कवियों की शिशुवत् जिज्ञासा का उल्लेख करने से पहले श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा को इलियट के कविगु

लाफोर्ग की बचकानी शरारतों पर ध्यान देना चाहिये था। ये दोनों कवि फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन से सम्बद्ध थे और यह प्रतीकवाद पुरानी रोमान्टिक भावधारा का अस्वस्थ पक्ष लेकर आगे बढ़ा था। इलियट ने कविता में बोलचाल की भाषा के प्रयोगों के साथ व्यंग्य का उपयोग करना इन कवियों से सीखा। इस "आधुनिकता" का सम्बन्ध किसी महायुद्ध से न था; नयी कविता की "ऐतिहासिक पृष्ठभूमि" तब तक प्रस्तुत न हुई थी लेकिन उस कविता के भाग्यविधाता जन्म ले चुके थे।

एडमंड विलसन ने फ्रांसीसी आलोचक रेने तोपें का उल्लेख किया है जिसने इलियट पर गोतिये के प्रभाव का विवेचन किया है। गोतिये फ्रांस के प्रमुख रोमान्टिक कवियों में था। विलसन ने इलियट की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उसने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों की वेदनावादी-व्यंग्यपूर्ण, सांसारिक-सौन्दर्यवादी भावना को प्रतिबिम्बित किया है। साहित्य के विद्यार्थी जानते हैं कि इन दशकों की भावधारा उच्छृङ्खल और पतनशील थी। इलियट की हृदयवीणा इन्हीं का राग उधार लेकर झंकृत हुई थी। उसकी आधुनिकता का यही स्रोत था।

इलियट को प्रभावित करने वाले एक और सज्जन थे, एज़रा पाउंड। लाफोर्ग कौर्बियेर, रैम्बो आदि फ्रांसीसी कवियों को इंगलैण्ड में प्रसिद्ध करने का श्रेय पाउंड को था। एक लेखक ने पाउंड को:अन्तरराष्ट्रीय आवारागर्द की बहुत सही संज्ञा प्रदान की थी। आगे चल कर इन्होंने मुसोलिनी और फासिस्ट इटली की प्रशंसा में पुस्तकें लिखकर काफी नाम कमाया। पाउंड दूसरों की रचनाओं के आधार पर कविता करने में पटु थे; उनकी मौलिक रचनाओं पर उनके प्रशंसक भी कम ध्यान देते हैं। इलियट पर पाउंड के प्रभाव का उल्लेख करते हुए सी० एम० बावरा ने लिखा है, "निस्सन्देह पाउंड में कोई ऐसी वस्तु है जो हमें उससे दूर ठेलती है। उसका अगाध विद्वत्ता का दावा उसके अपने निदर्शनों से सिद्ध नहीं होता। उसकी कविता में जिस व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं, उससे सहानुभूति नहीं होती। उसके पद्य की गति अक्सर कानों को अप्रिय लगने वाली होती है। उसकी रचनाओं पर नकली तड़कभड़क की छाप रहती है जो भद्दी लगती है मानों कवि

'सर्वज्ञ' हो। उसके राजनीतिक विचार विक्षुब्ध और पाशविक होते हैं और इनसे उसे गद्दार का नाम मिला है जिससे किसी को ईर्ष्या नहीं हो सकती।" (C. M. Bowra : The Creative Experiment पृ० १६२)।

पाउंड जैसे लेखक पूँजीवादी समाज की वह सड़ाँध हैं जिन्हें इंगलैण्ड और अमरीका के साधारण पूँजीवादी लेखक भी सहन नहीं कर पाते। ऐसे लेखकों ने इलियट को प्रभावित किया और 'आधुनिकता' को जन्म दिया है।

इलियट की पुस्तक Prufrock and Other Observations, १६१७ में प्रकाशित हुई थी। यह युद्धोत्तर रचना नहीं है वरन् युद्धकाल में ही प्रकाशित हुई थी और निःसन्देह उसकी विषयवस्तु युद्ध से पहले की है। इसकी पहली कविता प्रूफ्रौक का प्रणयगीत है। कविता के नायक महोदय अपनी प्रेमिका से साथ चलने को कहते हैं जब संध्या मेज पर पड़े रोगी के समान आकाश में फैली है। इनके प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें साहस की कमी है। कहते हैं :

And indeed there will be time
To wonder, 'Do I dare ?' and, 'Do I dare ?'

[और सचमुच इस बात को सोचने के लिये समय रहेगा, क्या मैं साहस कर सकता हूँ ?]

Should I, after tea and cakes and ices,
Have the strength to force the moment to its crisis ?

[चाय, केक और बरफ के बाद क्या मुझमें शक्ति होगी कि अवसर आने पर आगे बढ़ूँ ?]

प्रूफ्रौक की शक्ति-परीक्षा का क्षण निकल जाता है क्योंकि बेचारे डर गये।

And in short, I was afraid.

[किस्सा कोतह, मुझे डर लगने लगा !]

प्रूफ्रौक के समान हिन्दी का प्रयोगवादी पंछी गाता है :

थके पंखों को समेटे—
आसरे की माँग पर विश्वास की चादर लपेटे—

चंचुकी उन्मुख विकलता के सहारे
नम रही ग्रीवा उठाये
सिहरता-सा, काँपता-सा, इत्यादि।

पंछी की प्रतीकयोजना के अलावा भी—

बाहु मेरे घेर कर तुमको रुके रहे।

ऐसा क्यों हुआ? इसलिये कि

वासना से, याचना से हम परे थे—
सहज अनुरागी।

यह प्रेम का नया सहजिया सम्प्रदाय है जिसका अन्तरराष्ट्रीय संगठन है। एक छोर पर उसके सदस्य इलियट के प्रूफ्रौक हैं, दूसरे छोर पर हिन्दी के प्रयोगवादी पंछी हैं जो वासना और याचना से परे हैं।

प्रूफ्रौक की कुछ सूक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं। कहते हैं:

It is impossible to say just what I mean!

[मैं ठीक-ठीक क्या कहना चाहता हूँ, यह कहना असंभव है।]

इसलिये प्रूफ्रौक के छोटे भारतीय भाई बोले:

भाषा अशक्त, भावों को व्यक्त न कर पाई,
वाणी कायर, ओठों पर आकर लौट गई।

जो लज्जा पहले नारी का आभूषण समझी जाती थी, वह अब नयी कविता के नायकों का शृङ्गार करती है। लज्जा ही नहीं, कायरता काव्य की विषयवस्तु का प्रमुख तत्व बन जाती है।

प्रूफ्रौक ने अपने बारे में बहुत ठीक कहा है:

At times, indeed, almost ridiculous—
Almost, at times, the Fool.

[कभी-कभी तो सचमुच हास्यास्पद हो जाता हूँ, कभी-कभी प्रायः मूर्ख ही बन जाता हूँ।]

हिन्दी प्रयोगवादी ने मूर्खता के प्रतीक को यों चित्रित किया:

निकटतर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में

तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव
धैर्यधन गदहा।

इलियट का कीर्तिस्तम्भ है "वेस्ट लैण्ड"। इस कविता में प्रूफ्रौक का पुनः अवतार होता है। पुरानी दन्त कथाओं में एक मछुआ राजा था जिसकी पुरुष-शक्ति अंगभंग होने अथवा रोग से क्षीण हो गयी थी। इस कारण उसकी भूमि बंजर और वीरान हो गई थी। दन्त कथाओं के अनुसार भूमि की यह दशा राजा की नपुंसकता का परिणाम थी। इस नपुंसक राजा का देश ही "वेस्ट लैण्ड" है, वह बंजर धरती जहाँ सूखा पड़ा है और लोगों में शारीरिक ही नहीं मानसिक शक्ति का अभाव है। क्या यहाँ इलियट ने युद्धोत्तर यूरोप की निराशा का चित्रण किया है? बावरा का कहना है, "यह प्रदेश युद्धोत्तर यूरोप के अलावा बहुत कुछ है।" वास्तव में इस प्रदेश का सम्बन्ध युद्धोत्तर यूरोप से खींचतान करके ही जोड़ा जा सकता है। इसमें पुरुषार्थहीनता पर वैसे ही मातम है जैसे प्रूफ्रौक में। युद्धोत्तर यूरोप की किसी समस्या की ओर स्पष्ट संकेत नहीं है। अगर सावन में अन्धे को हरा-हरा ही दिखाई देता है तो "वेस्ट लैण्ड" के नायक को सारी धरती सूखी और बंजर दिखाई देती है। अपने बंजर होने का इलाज न करा के वह धरती मात्र को ही बंजर मान बैठता है।

प्रूफ्रौक की तरह यहाँ भी एक प्रेमी है जिसमें प्रेम-निवेदन करने का साहस नहीं है।

I could not
Speak, and my eyes failed, I was neither
Living nor dead, and I knew nothing
Looking into the heart of light, the silence.

प्रेमी महोदय कुछ कह न पाये। उनकी निगाह दगा दे गयी। वे न मुर्दों में थे, न जीते हुओं में। वे प्रकाश और शान्ति का मर्म परखते रहे और जान कुछ भी न पाये?

इलियट के स्वप्न उस पुरुषार्थहीन व्यक्ति के हैं जिसकी गिनती न जीवित व्यक्तियों में हो सकती है, न मृतकों में। इलियट ने बौद्धिकता की

बड़ी हिमायत की है। संकेत से अपने प्रकाण्ड ज्ञान की घोषणा की है। लेकिन इस बंजर प्रदेश से निकलने के लिये सिवा यात्राएँ करने के और कुछ टोटकों के उसके पास कुछ नहीं है। इलियट की तीव्र बुद्धि समस्या के समाजवादी समाधान से आँखें चार नहीं कर पाती। न तो उसकी कविता पूँजीवादी समाज की विषमताओं का चित्रण करने में समर्थ है, न उसकी बौद्धिकता समाजवाद की ओर एक भी कदम उठाने को तैयार है। टोने-टोटकों से न तो पूँजीवादी समाज का बंजरपन दूर हो सकता है, न शान्तिः शान्तिः कहने से मिस्टर प्रूफ्रौक मर्द बन सकते हैं।

इलियट रुग्ण कल्पना का कवि है। उसे लंदन-ब्रिज के ऊपर चलते हुए सब आदमी मुर्दे लगते हैं। इस कल्पना में मानवता-विरोध के विषैले कीटाणु हैं। इस कल्पना के सहारे कहीं भी स्वस्थ जीवन के चिह्न दिखाई दे ही नहीं सकते। एडमंड विलसन के शब्दों में कुछ समय के लिये लंदन और न्यूयार्क के फैशनेबल इंटलेक्चुअल सूखे समुद्र-तटों, कैक्टस वाले रेगिस्तानों, चूहों से भरे गन्दे कमरों, टूटे काँच और टूटी हड्डियों से प्रेरणा ग्रहण करने लगे। इलियट ने जिस नये मूर्तिविधान से कविता को समृद्ध किया, ये सब उसके विशेष उपकरण थे।

इलियट की दूसरी महान् रचना The Hollow Men "वेस्ट लैण्ड" का संक्षिप्त संस्करण है। यहाँ भी पुरुषार्थ को लकवा मार गया है :

Paralysed force, gesture without motion.

वेस्ट लैण्ड की बंजर धरती के समान

This is the dead land

This is cactus land

[यह मृत प्रदेश है।

यह कैक्टस-प्रदेश है।]

अब कैक्टस की आमद हिन्दी साहित्य में भी होने लगी है।

"वैस्ट लैण्ड" के जंतर-मंतर के बाद इलियट ने खुले रूप में धर्म का सहारा लिया। सौ-सौ चूहे खाकर जैसे ऐतिहासिक बिल्ली हज को चली थी, वैसे ही सारी दुनिया पर अपनी बीमारी आरोपित

करके इलियट की बौद्धिकता ने धर्म का सहारा लिया। यह धर्म आत्मा-परमात्मा तक सीमित नहीं है; वह सामाजिक संगठन का आधार भी है। इलियट की राय में "आप ईसाई समाज को तब स्वीकार करेंगे जब और तरह की समाज-व्यवस्थाओं को परख कर छोड़ चुके होंगे।" यह ईसाई समाज किस तरह का है? "यह एक ऐसे छोटे समाज की कल्पना या आदर्श है जिसमें लोगों के व्यक्तिगत सम्बन्ध होंगे।" उन सम्बन्धों की दादापंथी समाज-व्यवस्था खत्म हो चुकी है। इलियट को यह मालूम है। वर्तमान समाज किन ईसाई आदर्शों के अनुसार अपना नव संगठन करेगा, इसका निराकरण उसके यहाँ नहीं है।

इलियट के अनुकरण पर कुछ अभिनव रहस्यवादी स्वर प्रयोगवादियों में भी सुनाई पड़ने लगे हैं।

> यह प्रकृत, स्वयंभू ब्रह्म, अयुतः
> इसको भी? शक्ति को दे दो।

और यह सब बौद्धिकता के नाम पर।

इलियट से हिन्दी प्रयोगवादियों का कितना गहरा सम्बन्ध है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। इलियट की तरह बौद्धिकता के इन हामियों ने भी अपनी रुग्ण कल्पना से संसार को देखना शुरू किया है। कल्पना रोगी न हो, तो भी उसे रोगी बनाना फैशन है। इलियट की तरह वे छायावाद और हिन्दी कविता के सभी स्वस्थ तत्वों का बहिष्कार करते हैं। इलियट की तरह वे रोमाण्टिक कविता के अस्वस्थ पक्ष—निराशावाद और कुंठा—का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके पुरखे मन और शरीर से बीमार वे अवारागर्द कवि थे, जो सामाजिक विद्रोह का एक ही अर्थ जानते थे—उच्छृंखलता। एज़रा पाउंड और टी० एस० इलियट जैसे कवि पूँजीवादी सभ्यता के सबसे विषाक्त रूप को व्यंजित करते हैं। समाजवाद का विरोध करने के लिये, राष्ट्रीय नवनिर्माण में आस्था कुंठित करने के लिये ये धुरीहीन प्रयोगवादी जन-जीवन और सांस्कृतिक परम्परा से बिछुड़ कर कटी हुई पतंग की तरह व्यक्ति की निरपेक्ष स्वाधीनता के आकाश में उड़ रहे हैं। ये बौद्धि-

कता की डींग हाँकते हैं, सीधे-सादे आदमियों को आतंकित करने के लिये। वास्तव में ये काव्य-सौन्दर्य के ही नहीं अकल के भी दुश्मन हैं। इसीलिये आलोचना की खपच्चियों के सहारे चलने वाला यह प्रयोगवादी आन्दोलन अपने जन्म काल में ही मरणोन्मुख दिखाई देने लगा है। प्रयोगवादी कवियों को अपना भविष्य अन्धकारमय दिखाई दे, तो आश्चर्य ही क्या?

अनास्थावादी खंडित कला

नयी कविता की व्याख्या में "बौद्धिक चेतना" पर जोर दिया जाता है। इस चेतना के अनुसार कविता का सरस होना आवश्यक नहीं। रस की स्थिति को स्वीकार करने का अर्थ होगा भावों के सामने बौद्धिक चेतना को उपेक्षित अथवा पराजित मानना। रस सिद्धान्त की इस अभिनव प्रयोगवादी व्याख्या के अनुसार बुद्धि की क्रियाओं पर आवरण डाले बिना रस-निष्पत्ति हो ही नहीं सकती। "नयी कविता" (अंक तीन) में श्री जगदीश गुप्त ने "अर्थ की लय" पर विचार करते हुए भावों और विचारों में यह अन्तर्विरोध कल्पित किया है।

प्राचीन सरस कविता विचारशून्य नहीं है। उसमें दार्शनिक चिन्तन है, समाज सम्बन्धी विचारधारा है। किन्तु ये विचार भावजगत् से पृथक् नहीं हैं। वे कवि के लिये प्रेरणा बन गये हैं, इसलिये पाठक के लिये भी भावोद्-बोधक हैं, उसके हृदय को प्रभावित करते हैं। इन्द्रियबोध और भावना से पृथक् विचार की सत्ता गद्य में हो सकती है, कविता में नहीं। नयी कविता की "बौद्धिक चेतना" का दोष यह है कि वह विचारों को इन्द्रिय बोध से संयुक्त करने, भावना से अनुप्राणित करने, मार्मिक और प्रभावशाली बनाने के बदले उन्हें कथन मात्र रहने देती है। नया कवि सोच-सोच कर बहुधा दूसरों की रचनाएँ पढ़ कर—विचार ही नहीं लाता, वह भावों को भी सोचता है, सोच कर उनकी भावसत्ता नष्ट कर देता है, किन उपमानों से इन सोचे हुए भावों को सजाये, यह भी सोचता है और इस सोच-विचार में कविता का रस अन्तर्धान हो जाता है। भावानुभूति के बदले उसके पास सोच-विचार ही रह गया है।

यह सही है कि नये कवि केवल बौद्धिकता की माँग नहीं करते; वे भावा-त्मक सत्ता के साथ बौद्धिक व्यक्तित्व के सन्तुलित समावेश की बात भी करते हैं। किन्तु जोर बौद्धिकता पर ही होता है। यदि नयी कविता में गंभीर चिन्तन

होता, अनगढ़ होने पर भी उसमें ऊँचे दार्शनिक विचार होते या व्यक्ति अथवा समाज की समस्याओं का चित्रण होता तो भी साहित्य को उसकी देन महत्व पूर्ण होती। कठिनाई यह है कि बौद्धिकता की दुहाई देने पर भी उसमें कच्ची अक्ल के कारनामे ही ज्यादा दिखाई देते हैं, चिन्तन के नाम पर दूर की कौड़ी लाने का प्रयास ही अधिक होता है। सही चिंतन के लिये थोड़ा बहुत वाक्य रचना का ज्ञान, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। नयी कविता के व्याख्याता गद्य ही ऐसा लिखते हैं कि वाक्य टूटे पहिये की गति से आगे बढ़ते हैं, विचार पतनोन्मुख होकर अनस्तित्व का सागर टटोलते हैं, शब्द और अर्थ असम्पृक्त होकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाते हैं। जब गद्य का यह हाल है, तब कविता में चिन्तन, "बौद्धिक चेतना" और विचारों की अवस्था का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

नयी कविता के व्याख्याकार जैसे भावों और विचारों के बीच की खाई नहीं पाट पाते, वैसे ही छन्द और अर्थ की लय के भेद से भी वे विचलित हो उठते हैं। उनके लिये शब्द और अर्थ की लय में एक मौलिक अंतर है; इस कारण वे सोचते हैं कि शब्द की लय को छोड़कर अर्थ की लय को ही ले उड़ें। छन्द-सौन्दर्य और अर्थ-गरिमा का यह अन्तर्विरोध कल्पित है। शब्दों की लय भावोत्कर्ष में सहायक होती है। "राम की शक्ति पूजा" में सागर की लहरों जैसी गंभीर घोष वाली पंक्तियाँ, "पल्लव" के लघु संयत छन्दों की कोमलता, लोकगीतों की करुण मृदुलता—ऐसे अनेक उदाहरणों में हम छन्द-सौन्दर्य को भावोत्कर्ष में सहायक पाते हैं। किन्तु नवीन कविता कानन के वीतराग वनचारी साधकों ने शब्दों की लय का बहिष्कार कर दिया है और शब्दों से परे किसी रहस्यमय अर्थ लय की साधना में लीन हो गये हैं।

श्री जगदीश गुप्त सूचित करते हैं कि "शब्द श्रवणीय है, अर्थ बुद्धिग्राह्य।" मानों जो सुना जा सकता है, वह बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता और जो बुद्धिग्राह्य होगा वह सुना न जा सकेगा। किन्तु जो बुद्धिग्राह्य होगा, वह शब्द ग्राह्य अवश्य होगा। श्री जगदीश गुप्त ने यह भी लिखा है कि साहित्य में "शब्द और अर्थ दोनों अन्योन्याश्रित, असम्पृक्त तथा अभिन्न अवस्था प्राप्त

करते हैं।" इस वाक्य में यह स्पष्ट नहीं है कि शब्द और अर्थ अभिन्न होते हुए असम्पृक्त कैसे रहते हैं। क्या "अन्योन्याश्रित" और "अभिन्न" के साथ सानुप्रास पद-रचना के विचार से संपृक्त भी असम्पृक्त हो गया है ? यदि शब्द और अर्थ सचमुच अभिन्न अवस्था प्राप्त करते हैं तो शब्दों से पूर्णतः स्वतन्त्र अर्थ-लय की सत्ता भी असंभव है।

लय चाहे शब्दों की हो, चाहे अर्थ की, पहले प्रश्न यह उठता है कि लय है क्या ? श्री जगदीश गुप्त के अनुसार लय "आवृत्तिमूलक और कालसापेक्ष" होती है। अपने समर्थन में वह मराठी लेखक श्री अरविन्द मारुलकर का हवाला देते हैं जो लय को काल-सापेक्ष मानते हैं। लेकिन गुप्तजी आगे कहते हैं कि "उन्होंने लयतत्व को अमूर्त, स्वयंभू और स्वतन्त्र" माना है। पता नहीं लय के अमूर्त और स्वयंभू होने से उसकी कालसापेक्षता कैसे सिद्ध होती है। श्री जगदीश गुप्त "सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा लय तत्व का जीवन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध" प्रमाणित करते हैं। "हृद्गति, श्वास-प्रश्वास, ऋतुचक्र, दिन रात आदि का अनुभव तो क्रमिक रूप में होता ही है, जीव-विज्ञान में जैविक शक्ति के साधारण क्रिया-कलाप में भी वैज्ञानिकों को लयात्मक रूप 'पैटर्न' की स्थित परिलक्षित होती है। मानव मस्तिष्क की प्रक्रिया भी लययुक्त सिद्ध हुई है।"

इस प्रकार लय की एक विश्वव्यापी रहस्यमयी सत्ता है। हृदय की गति से लेकर, ऋतुपरिवर्तन और दिन-रात की मंज़िलें पार करते हुए मानव-मस्तिष्क तक लौट आइये, हर जगह आपको लय ही लय सुनाई देगी, सुनाई न देगी तो उसकी अनुभूति होगी। सर्वत्र लय की सत्ता है। यदि कहीं नहीं है तो नयी कविता के छन्दों में, उसकी शब्द-योजना और पद-रचना में। पाठक को चाहिये कि मूर्त शब्द-लय का मोह त्याग कर अमूर्त अर्थ लय का अनुसन्धान करे। यह स्मरण रखना चाहिये कि लय आवृत्ति-मूलक होती है। आप पूछेंगे, अर्थ की लय क्या ? क्या उसमें अर्थ की आवृत्ति होती है ? जी हाँ देखिये; नयी कविताओं में कुछ विचारों की इतनी आवृत्ति होती है कि आपको मानना पड़ेगा कि वे सब एक ही लय में बँधी हुई हैं।

शब्द-लयहीन "कविता" के समर्थन में, अर्थ-लय की स्वतन्त्रता सिद्ध

करने के लिये श्री जगदीश गुप्त ने कई विद्वानों का हवाला दिया है। आई० ए० रिचार्ड्स के अनुसार "काव्य में लय शब्द तक सीमित नहीं है। पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव अर्थ के साथ संयुक्त होकर पड़ता है।" आप इस वाक्य पर विचार कीजिये; सोचिये, उससे स्वतन्त्र अर्थलय की सत्ता कैसे सिद्ध होती है। इसके बाद टी० एस० इलियट के एक वाक्य का टुकड़ा उद्धृत है जिसमें इलियट ने कहा है कि "संगीतमय कविता" (a 'musical poem') उसे कहते हैं जिसमें नाद का एक संगीतमय "पैटर्न" होता है और शब्दों के गौण अर्थ का दूसरा संगीतमय "पैटर्न" होता है। इस वाक्य के अन्तिम अंश को गुप्त जी ने छोड़ दिया है। उस अंश में इलियट ने यह स्थापना की है कि ये दोनों पैटर्न अभिन्न और एक हैं ("these two patterns are indissoluble and one")। रिचार्ड्स और इलियट की उक्तियों से अर्थ-लय की स्वतन्त्रता जिस तरह सिद्ध होती है, उसे नयी कविता की "बौद्धिक चेतना" का चमत्कार ही समझना चाहिये। स्पेंडर ने शब्द-शून्य लय की बात की है। लेकिन वह लय तो शब्द शून्य ही नहीं, अर्थशून्य भी होती है क्योंकि शब्दों के बिना विचारों की सत्ता असंभव है। इस तरह स्पेंडर की उक्ति से भी अर्थलय की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती।

नयी कविता के व्याख्याकारों में श्री नामवरसिंह का नाम भी उल्लेखनीय है। दिल्ली से प्रकाशित "कृति" में शमशेर बहादुरसिंह की कविताओं की व्याख्या करते हुए उन्होंने अर्थ की लय को समझने के लिये नये सूत्र दिये हैं। अर्थ की लय शब्दों की लय से तो स्वतन्त्र है ही, अर्थ भी शब्दों से स्वतन्त्र है और स्वयं अर्थ की लय अर्थ से स्वतन्त्र है। नामवरसिंह जी के अनुसार शमशेर सिंह जी "बिम्बों के सिवा किसी दूसरे माध्यम से बात नहीं करते।" कविताएँ बिम्बों की चयनिका होती हैं और इन बिम्बों को "संगीत का सूक्ष्म स्वर एकसूत्रता प्रदान करता है।" यह स्पष्ट नहीं है कि यह सूक्ष्म स्वर शब्द-संगीत का स्वर है, या अर्थ-संगीत का अथवा इनसे परे किसी अन्य सूक्ष्म तत्व का। खैर, शब्द और बिम्ब का सम्बन्ध देखिये। एक बिम्ब के विधायक शब्द सामने आते हैं, फिर थोड़ा अवकाश देकर दूसरे बिम्ब के विधायक शब्द "छिटक उठते" हैं।" अभी तक अर्थ और उसकी

लय का पता नहीं है। केवल शब्द और बिम्ब प्रकट और अन्तर्धान होते हैं। किन्तु आगे पढ़िये; "शब्दों के समाप्त होते ही लय के सहारे अर्थ आगे बढ़ता है और इस लय का सहारा लेकर नया बिम्ब खड़ा होता है।"

यह प्रक्रिया बड़ी ही मार्मिक है और सूक्ष्म चिन्तन से ही नहीं समझ में आ सकती है। पहले तो शब्द बिम्बवाहन बन कर छिटकते हैं, फिर वे समाप्त हो जाते हैं। शब्दों का समाप्त होना, उनका लय होना ही है। समझिये, यह हुई शब्दलय। अब रह गया अर्थ। शब्दों के समाप्त होने पर यह अर्थ कहाँ से आया? शायद बिम्ब से प्रकट हुआ हो। जो भी हो, वह लय का सहारा लेकर आगे बढ़ता है। और यह लय कहाँ से उत्पन्न हुई? इसे स्वयंभू और अमूर्त मानना चाहिये क्योंकि शब्द पहले ही समाप्त हो चुके हैं और अर्थ लय के सहारे आगे बढ़ता है, इस कारण लय की सत्ता शब्द और अर्थ दोनों से परे सिद्ध हुई। यह स्वयंभू, अमूर्त, अविनाशी लय न केवल अर्थ को सहारा देती है, वरन् उसका सहारा लेकर नया बिम्ब भी खड़ा हो जाता है। यदि अब भी आप लय में अर्थ से विषय का अर्थ न समझें तो चीनी और जापानी कविता पढ़िये। आपकी सहायता के लिये श्री नामवरसिंह ने संकेत कर दिया है कि "चीनी और जापानी कविता में इसे 'स्टाक-शार्ट' कहते हैं।"

छन्द-सौन्दर्य और भावोत्कर्ष के अन्तर्विरोध की तरह नयी कविता के व्याख्याकारों के लिये बिम्ब और कथन का अन्तर्विरोध है। कुछ लोगों का विचार है कि कविता में 'कथन' न होना चाहिये, बिम्ब कवि के मन की बात स्वयं कहेगा। हिन्दी कविता पर तरस खाकर श्री नामवरसिंह ने लिखा है, "दुर्भाग्य से हमारे यहाँ अभी भी भाषण-युग चल रहा है।" इस भाषण से बचे हैं केवल श्री शमशेर बहादुरसिंह। उनकी "सफलता के साधन हैं बिम्ब" और "हिन्दी के एकमात्र बिम्बवादी कवि" हैं शमशेर।

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का विचार है कि हम परम्परागत रूप, शिल्प, सज्जा और पूर्वाग्रहों से इतना परिचित हो जाते हैं कि "उनका साधारणीकरण अथवा अविधात्मक शैली भावबोध को स्थिर बना देती है।" साधारणीकरण से रस-सृष्टि होती है। रसमुक्त कविता के लिये असाधारणीकरण आवश्यक है। भावबोध स्थिर हो जाता है साधारणीकरण से "अथवा अविधात्मक

शैली" से। इसलिये उसे अस्थिर करने के लिये "अविधात्मक" के बदले दुविधात्मक शैली ही श्रेयस्कर होती है। किन्तु श्रेयस्कर तक पहुँचने के पहले उपर्युक्त शैली के परिणामों पर विचार कर लीजिये लक्ष्मीकान्त जी के शब्दों में "अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तरों में एक प्रकार का स्वाभाविक विद्रोह होता है।" कोई किसी के प्रति विद्रोह नहीं करता। अनुभूति अभिव्यक्ति से टकराती है और अभिव्यक्ति अनुभूति से। दोनों के टकराव में अभिव्यक्ति का सर फूटता है और अनुभूति अन्तर्धान हो जाती है।

श्री जगदीश गुप्त शब्द-लय के अभाव और अर्थलय की सत्ता का समर्थन करते हुए उन लोगों की आलोचना करते हैं जो "प्रत्येक छन्दबद्ध कथ्य" को कविता मनवाने का आग्रह करते हैं। इसे वह हीन स्थिति मानते हैं। प्रत्येक छन्दबद्ध कथ्य को कविता मनवाने का आग्रह कोई नहीं करता। दुराग्रह उन लोगों का है जो छन्द से अबद्ध अकथ्य को भी कविता कहते हैं।

नये कवि बिम्बों में ही बात करते हों, कथन का नितान्त बहिष्कार कर दिया हो, यह स्थिति नहीं है। वे दूसरों की रचनाओं को छन्दबद्ध कथ्य कहते हैं; वास्तव में "नयी कविता" से अधिक गद्यात्मकता हिन्दी की शेष सभी कविता में नहीं है। "नयी कविता" (अंक दो) में श्री अज्ञेय ने श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की रचनाओं की प्रशंसा करते हुए एक जगह यह भी लिखा है, "उनकी कविता-पंक्तियाँ केवल खंडित गद्य की पंक्तियाँ रह जाती हैं।" नयी कविता में अर्थलय कितनी है और शब्द लय कितनी—इस विवाद का निराकरण इन दो सुन्दर शब्दों से हो जाता है: खंडित गद्य। यह दोष किसी एक कवि में नहीं है, यह बात भी श्री अज्ञेय जानते हैं। उन्होंने आगे लिखा है "यह दोष उस कविता में बहुधा पाया जाता है जिसे नयी कविता की अभिधा दी जा रही है।" नयी कविता की उपलब्धियों की गणना करते हुए प्रयोगवादी मित्रों को "खंडित गद्य" न भूल जाना चाहिये।

नयी कविता में भावहीन, इन्द्रियबोधहीन कथनों की भरमार है। ये तथ्य-कथन कभी खंडित होते हैं, कभी अखंडित, कभी तुकबन्दी में बंधे होते हैं, कभी बेतुके भटकते फिरते हैं। अखंडित गद्य इस प्रकार का होता है:

"सुनते हैं, तुम किसी अवतार में कछुए थे। अपनी इस वज्रोपम पीठ पर तुमने यह धरती टिकाई थी। लेकिन उपयोग क्या किया था सुकोमल मर्म स्थल का ?" इन पंक्तियों को तोड़कर छाप दीजिये तो कविता बन जायगी एक साथ छाप दीजिये तो अखंडित गद्य प्रस्तुत हो जायगा। छन्दबद्ध गद्य का नमूना देखिये :

है कुरुक्षेत्र से कुछ भी खबर न आई
जीता या हारा बचा-खुचा कौरव-दल
जाने किसकी लोथों पर जा उतरेगा
यह नरभक्षी गिद्धों का भूखा बादल
अन्तःपुर में मरघट की सी खामोशी
कृश गान्धारी बैठी हैं शीश झुकाए
सिंहासन पर धृतराष्ट्र मौन बैठे हैं
संजय अब तक कुछ भी संवाद न लाए

तुकबंदी अच्छी है। कुछ लोकगीतों का रस भी है। किसी लावनी की पंक्तियों में ऊपर की पदावली जोड़ दीजिये, मजे से खप जायगी, यथा—

गम के गुलाल ने ऐसी धूल उड़ाई।
अब सिवा खुदा के कुछ नहिं देय दिखाई।
है कुरुक्षेत्र से कुछ भी खबर न आई।

नई कविता में भावहीन कथनों की भरमार है। श्री शमशेर बहादुरसिंह के लिये यह दावा किया गया है कि वे बिम्बों द्वारा ही अपनी बात कहते हैं। यह दावा उनकी कविताओं के बारे में स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा किया जा सकता है, कविताएँ पढ़कर नहीं।

आ ओ—ले जाओ
मुझसे मेरा
प्रणय का धन
सर्वः
वह है सब तुम्हारा ही—
म—

वह 'तुम' है।

इसमें कौन सा बिम्बवाद है?

"नयी कविता" में उनकी एक अन्य रचना देखिये :—

आज का नहीं दिन
ठीक;
कल जाना,
मीत।
—यह भी पथ है;
तुम भी पथमय;
पन्थी की लय
पथमय।

शमशेर में विचारों को उलझाने, अच्छे-खासे गद्य को खंडित करके कविता बनाने की प्रवृत्ति अधिक है। "आज का दिन ठीक नहीं है। कल जाना, मित्र।" इसे तोड़ कर, मित्र की जगह मीत करके छाप दीजिये तो कविता हो जायगी।

नये कवि नये बिम्बों का प्रयोग करते हैं, इसलिये नहीं कि उन्हें कोई नयी बात कहनी है वरन् इसलिये कि पुरानी बातें नये ढंग से कहनी हैं। श्री अजीतकुमार लिखते हैं :—

चाँदनी चन्दन सदृश :
हम क्यों लिखें?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें?

कविता को चाँदनी पर ही लिखनी है; केवल चाँदनी की तरह न कह कर उसे खोटे रुपये की तरह कहना है। दोपहर की धूप अच्छी लगती है, लेकिन अब वह जार्जेट के पल्ले जैसी लगती है। हरे धान के खेतों पर लिखना है लेकिन वे हरे फौवारों जैसे लगने चाहिये; विन्ध्याचल की श्रेणियाँ हाशिए जैसी होनी चाहिये। नये कवि जिस रूमानीपन की आलोचना करते हैं, वह उनकी रचनाओं में भरा हुआ है। यह रूमानीपन कभी इन्द्रियबोध तक सीमित रहता है, कभी निराश प्रेमी की उदासी से जुड़ जाता है। लोकगीतों

से रूमानीपन उधार लेकर उसका कैसा अनगढ़ प्रयोग किया जाता है, इस
एक मिसाल यह है :

साँझ सकारे
कोयल तोतों के संग हारे
ये रतनारे—
खोजे कूप, बावली झाऊ
बाट बटोही, जमुन कछारे ✓
कहाँ रास के मधु पलास हैं ??
बट शाखों पर मिथुन डाकते मेरे मिथुन बटेर के !
पीले फूल कनेर के !!

जब इस रूमानीपन से कवि दूर जाता है, तब उस पर हीनभावना सवा
हो जाती है।

हाय, छोटी सी तलैया, बँधी गँदली,
क्या करें ? सागर ललकता
जब कि अपने चन्द्रमा को छू न सकता।

यह हीनभावना उस रूमानीपन की ही प्रतिक्रिया है। चाँद नहीं मिलत
गँदली तलैया बेचारी क्या करे ? यह हीनभावना नये कवियों के दिमाग
कीटाणुओं की तरह घुस गयी है। अर्थ की लय, बिंबवाद, नये सौंदर्यबो
आदि को खोकर जो लंबी-चौड़ी बातें की जाती हैं, वे सब अपनी हीनत
को छिपाने के लिये।

श्री नरेश मेहता इस बीमारी के प्रति सजग हैं यद्यपि उनकी रचना
क्रियाओं के भद्दे प्रयोगों और बिम्बों के उलझाव से अलंकृत रहती हैं। उन
विचार से राजनीति कविता को खरीद लेती है। इस गुलामी से बचने
लिये वह कविता के क्षेत्र से राजनीति को निकाल ही नहीं देते वरन् कवित
को ऐसा रूप देते हैं जो कुछ कवि-चिन्तकों के मनोविनोद की ही वस्तु ब
जाय। यदि कुछ कवि ग़लत किस्म की राजनीतिक कविताएँ लिखते हैं त
इसका यह अर्थ नहीं है कि राजनीतिक कविताएँ लिखी ही नहीं जा सकतीं
यह एक अच्छा लक्षण है कि अनेक नये कवि अपने साथियों की रचनाअ

के खोखलेपन की खुली घोषणा करते हैं। 'नयी कविता' (अङ्क तीन) में प्रकाशित श्री नरेश मेहता के वक्तव्य के निम्नलिखित वाक्यों पर हर प्रयोग-वादी कवि को गंम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये:—

"इस नयी कविता को साहित्य में आये आज १५ वर्ष होने आये। इतने दिनों के उपरान्त भी यदि हमारी कविताओं की यही दशा है तो निश्चय ही यह कोई श्रेष्ठ स्थिति नहीं है। वस्तुतः हम अपनी कविताओं के खोखलेपन को जानते हैं। यदि न जानते होते तो सम्भावना हो सकती थी कि कभी हम सही मार्ग पर आ सकेंगे। लेकिन दुःख तो यह है कि हम खोखलेपन को जानते हैं तथा उसे छुपाने की कला में निष्णात भी हैं। जिस युग में साहित्य नहीं लिखा जाता, उस युग में उसकी चर्चा सबसे अधिक होती है। यही दशा हमारे युग की कविता की है। इधर के संकलनों को देखकर स्पष्ट हो जाना चाहिये कि कविता में आज अज्ञानता, उच्छृङ्खलता आदि बातें मौलिक मानी जा रही हैं। परम्परा से हीन होने को आधुनिकता की संज्ञा दी जा रही है। हम नये कवियों की सबसे बड़ी कमज़ोरी है कि काव्य की रचना से भी अधिक आवश्यक यह है कि हमारा कवि का व्यक्तित्व ही नहीं है। आर्थिक संकट आदि बातों की आड़ में जिस गरिमाहीन स्वत्वहीन ओछे व्यक्तित्व को हमने अपने में पैदा होने दिया है वह और कुछ भले ही कर सके साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता है। साहित्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं वरन् व्यक्ति द्वारा बृहत् की अभिव्यक्ति है। वह बृहत् भावना, व्यक्ति सत्य को बाधा देती हो सो भी नहीं, किन्तु जीवन के देखने के लिए वैज्ञा-निकता ही एकमात्र दृष्टि है, इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर भावना की अपेक्षा जिस तर्कचातुर्य को प्रश्रय दिया गया, यह भी ठीक नहीं हुआ। आज की हमारी कविता तथा हमारे व्यक्तियों के बौनेपन को गम्भीर संकट के रूप में अनुभव करना होगा, नहीं तो नयी कविता अपनी सारी चमकदमक से भी कोई महत्वपूर्ण कृतित्व एवम् कृतिकार नहीं दे पायेगी।"

निष्कर्ष यह निकला कि अपने सिद्धान्तों और व्यवहार में नये कवियों ने इतने उलझाव पैदा किये हैं कि ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यौ चहै, त्यों-त्यों अरुझत जाय। उन्होंने सोचा, अपनी बात इतने स्वाभाविक ढंग से कहीं

जाय कि वह छन्द-सौन्दर्य और शब्द-लय के बन्धनों से भी मुक्त हो जाय। उन्होंने छन्द-सौन्दर्य और भावोत्कर्ष का घनिष्ठ सम्बन्ध न समझा। नतीजा यह कि उनकी लयहीन कविताएँ अस्वाभाविक व्यंजना के नमूने बन गईं। उन्होंने शब्द और अर्थ के बीच एक अभेद्य खाई की कल्पना की। रूप को छायावादी भावुकता मानकर उन्होंने उसे ठुकराया और अर्थ-लय का पल्ला पकड़ा। नतीजा यह कि वे अपने आचार्य के ही अनुसार खंडित गद्य के टुकड़े प्रस्तुत करने लगे। उन्होंने भाव और विचार में मौलिक अन्तर्विरोध की कल्पना की, बौद्धिकता की दुहाई दी। साथ ही कविता कथन न हो इसके लिये बिम्बवाद का सहारा लिया। परिणाम यह कि उनकी रचनाओं में भावहीन कथनों की भरमार हो गई। बिम्ब उन्होंने ऐसे चुने जो पुराने विषयों, पुरानी रूमानी अनुभूतियों को अनोखे ढंग से प्रस्तुत करते थे किन्तु उनमें स्वाभाविकता न थी; बिम्ब और अर्थ के सहज संबंध के बदले वे दूर की कौड़ी खाने लगे। रूमानीपन से बचते थे तो उन पर हीन भावना सवार हो जाती थी। अपने को बौना कहते थे और सारी दुनिया बौनों से भरी मालूम पड़ती थी। इस अन्तर्विरोधों से वे निकल नहीं पाते क्योंकि वे अपने संकीर्ण व्यक्तित्व के दायरे से बाहर आना नहीं चाहते। उनकी समझ में जनता के लिये कविता लिखना कविता का नाश करना होगा। कविता कहीं राजनीति के निकट पहुँच गई तो क्रीतदासी हो जायगी। इसलिये न जनता के लिये लिखो, न जनता की समस्याओं पर लिखो, न इस ढंग से लिखो कि कविता का भावबोध, शिल्प-सौन्दर्य आदि जनता के लिये सुबोध हो। प्रयोगवादी मित्र समझते हैं कि उन्होंने काव्यक्षेत्र में क्रान्ति कर दी है, नये मानववाद की नींव डाल दी है, कविता को सभी रूढ़ियों से मुक्त कर दिया है। उनके ग़लत सिद्धान्त और उनके भ्रष्ट प्रयोग उन्हें उस मंज़िल तक ले आये हैं जहाँ कविता के हरे भरे उद्यान के बदले चारों ओर खंडित गद्य के टुकड़ों से पटा हुआ रेगिस्तान ही दिखाई देता है। उनमें से कुछ को यह मार्मिक अनुभूति होने भी लगी है कि नयी कविता में खोखलापन है और उसे छिपाये में उसके व्याख्याकार निष्णात हैं। जब तक प्रयोगवादियों के सिद्धान्तों और प्रयोगों में मौलिक परिवर्तन नहीं होता, तब तक यही दयनीय स्थिति बनी रहेगी।

आधुनिक हिन्दी कविता : विकास की दिशा

छायावाद का बहुत विरोध हुआ; फिर भी छायावादी कवियों की विजय हुई। इससे कुछ मित्र यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रयोगवाद का विरोध हो रहा है और कुछ दिन बाद उसकी भी विजय होगी।

छायावाद के युग में ही ब्रजभाषा और खड़ीबोली का संघर्ष चल रहा था। ब्रजभाषा का विरोध हुआ परन्तु कविता में उसकी पहले जैसी स्थिति न रह गयी। रीतिकालीन परम्परा का विरोध हुआ किन्तु काव्य में चमत्कारवाद प्रतिष्ठित न रह सका। शुक्लजी ने रहस्यवाद का जोरों से विरोध किया; रहस्यवाद आधुनिक हिन्दी कविता की एक क्षीण धारा के रूप में आया और अनन्त में विलीन हो गया। जिस चीज का भी विरोध किया जाय, वह उदीयमान, शक्तिसम्पन्न, भावी विजय की संभावनाओं से पूर्ण होगी ही, यह नहीं कहा जा सकता। देखना यह चाहिए कि परस्पर टकराती हुई सांस्कृतिक धाराओं से समाज की किन शक्तियों का हित अथवा अहित होता है, काव्य-प्रवृत्तियों को प्रश्रय देने वाली इन सामाजिक शक्तियों की स्थिति ह्रास की है या विकास की।

रीतिकालीन परम्परा का विरोध हुआ और यह विरोध सफल हुआ क्योंकि इस परम्परा का सामाजिक आधार राजदरबार थे और देश के विकास को देखते हुए यह सामाजिक आधार पुराना पड़ चुका था। कविता का माध्यम खड़ीबोली हो या ब्रजभाषा—इस विवाद में विजय खड़ीबोली की हुई क्योंकि वह हमारी जातीय संस्कृति के विकास के लिये आवश्यक थी। गद्य और पद्य के लिये भिन्न भाषाओं या उपभाषाओं के प्रयोग से यह जातीय संस्कृति विच्छिन्न होती थी। रहस्यवाद एक नया फैशन बनकर आया किन्तु वह आधुनिक विज्ञान की प्रगति और राजनीतिक आन्दोलन की माँगों के प्रतिकूल था; इसलिये वह भी अपनी जड़ें न जमा सका।

प्रयोगवाद का भी विरोध हो रहा है। इसके विरोधी वे हैं जो काव्य

के मूल तत्वों—छन्द-सौन्दर्य, सरस शब्दावली, चित्रमयता आदि गुणों—की रक्षा करना चाहते हैं, जो हिन्दी काव्य की जातीय परम्परा का सहज विकास देखना चाहते हैं। प्रयोगवाद का समर्थन करनेवालों की विचार-धारा का स्रोत व्यक्तिवादी जीवनदर्शन है, समाजवाद का विरोध उनका मुख्य कार्यक्रम है, काव्य के सर्वस्वीकृत तत्वों का मूलोच्छेद उनके शिल्प की प्रमुख विशेषता है, जनता की समस्याओं की उपेक्षा उनकी खास अदा है, कुंठा और घुटन उनके भाव-जगत् के चिर ध्रुव हैं—ऐसी स्थिति में यह सोचना कि छायावाद के समान विरोध होने पर प्रयोगवाद की भी विजय होगी, भारी आशावाद का परिचय देना है (आशावाद का यही एक रूप प्रयोगवादियों में मिलता भी है)।

इस समय प्रयोगवाद विघटन की दशा में है। उसके शोरगुल की अवधि समाप्त हो रही है। हमें छायावादी युग के उत्तरकाल में हिन्दी कविता के विकास की दिशा पर ध्यान देना चाहिये। छायावादी कवियों ने कविता की भाषा के रूप में खड़ीबोली को प्रतिष्ठित किया, काव्य से चमत्कारवादी, नायिकाभेदी परम्परा को निर्मूल किया, प्रकृति, नारी, सामाजिक परिवर्तन आदि विषयों पर नये दृष्टिकोण से लिखा, भारत-भारती और जयद्रथवध के युग की तुलना में उन्होंने हमारा सौन्दर्यबोध परिष्कृत किया, नयी छन्द-योजना, नये मूर्तिविधान से हिन्दी कविता को समृद्ध किया। छायावाद के उत्तरकाल में स्वयं छायावादी कवि अपनी पुरानी भावधारा से विलग होकर यथार्थवाद की नयी भूमि की ओर बढ़े।

छायावादी कवि स्वयं यथार्थवाद की ओर संक्रमण कर रहे थे—इस ऐतिहासिक सत्य को खूब अच्छी तरह पहचान लेना चाहिये। प्रसाद की "तितली", निराला की "देवी", "चतुरी चमार", "बिल्लेसुर बकरिहा", श्रीमती महादेवी वर्मा के रेखाचित्र—ये सब इस संक्रमण के प्रमाण हैं। पंतजी ने "रूपाभ" के पहले अङ्क में लिखा था, "कविता के स्वप्न भवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आये, इस सम्बन्ध में दो शब्द लिखना आवश्यक हो जाता है। इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उसमें प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित

हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलनेवाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिये कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग जीवन ने उसके चिरसंचित सुखस्वप्नों को जो चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।"

युगजीवन की माँग और स्वप्नलोकवासी कल्पना—इस अन्तर्विरोध को पंतजी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है। छायावादी कविता को स्वप्नलोक की कल्पना कह कर नहीं टाला जा सकता है। सत्य इतना ही है कि उसमें स्वप्नलोक वाली कल्पना का अंश भी है। युग की माँग थी कि इस अंश को त्याग कर कविता कठोर धरती से अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करे। इस अन्तर्विरोध को पहचानने के बाद पंतजी ने ग्राम्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण से कविताएँ रचने का प्रयास किया था।

छायावाद के उत्तरकाल में हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ ये थीं। निराशावाद—निशानिमन्त्रण जैसी रचनाओं में, नरेन्द्र शर्मा और गिरजा कुमार माथुर की अनेक कविताओं में; बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि कवियों ने आगे चलकर इस प्रवृत्ति को त्याग दिया, उसके उत्तराधिकारी रहे नये कुंठावादी। रहस्यवाद—इसे छायावादी कवियों ने छोड़ा किन्तु अरविन्द-दर्शन के प्रभाव से वह फिर सामने आया—विशेषकर पन्तजी की रचनाओं में। यथार्थवाद—यह प्रवृत्ति ग्राम्या में, निरालाजी की बेला, नये पत्ते आदि कविता-संग्रहों में, गिरजाकुमार माथुर, सुमन, नरेन्द्र, दिनकर, केदार आदि कवियों की बहुत सी रचनाओं में दिखाई दी। प्रगतिशील काव्य-साहित्य का सम्बन्ध इसी यथार्थवाद से रहा है जिसकी ओर छायावाद का स्वाभाविक संक्रमण आरम्भ हुआ था। प्रगतिशील कविता ने छायावादी काव्य की अस्पष्टता, भाषा की दुरूहता, निराशावादी भावनाओं और पलायनवादी प्रवृत्ति को दूर किया, जीवन में आस्था, दलित और शोषित जनता की मुक्ति की उत्कण्ठा, सामाजिक दायित्व की भावना व्यक्त की। प्रगतिशील कविता

की कमजोरी थी—विचार पक्ष की अस्पष्टता और कलात्मक शिथिलता। मार्क्सवाद और गाँधीवाद के समन्वय अथवा मार्क्सवाद और अरविन्दवाद के समन्वय की बात इसीलिए उठी। जन-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध न होने से अनेक कवियों की विचारधारा में अस्थिरता दिखाई दी। वर्तमान युग समाजवाद का युग है। विश्वमानवता समाजवाद की ओर बढ़ रही है। उसका मार्ग विषम है, अस्थायी रूप से उसे कभी रुकना पड़ता है, कभी पीछे हटना पड़ता है, फिर भी उसकी प्रगति और इस प्रगति की दिशा के बारे में भ्रम नहीं हो सकता। इसी के अनुरूप "ग्राम्या" से लेकर बच्चन के "बुद्ध और नाचघर" तक यथार्थवाद की धारा अनेक विषमताओं का सामना करती हुई आगे बढ़ी है। इन विषमताओं में एक विषमता प्रयोगवाद भी था; किन्तु प्रयोगवाद विकास-पथ की एक विषमता ही है, विकास की मुख्य दिशा नहीं।

यथार्थवादी काव्यधारा के विकासपथ में एक विषमता और है। संक्षेप में उसकी चर्चा यहाँ आवश्यक है। उसके दर्शन हम पहले कर चुके हैं, आज भी करते हैं और पूर्ण आशा है कि भविष्य में भी करेंगे। यह विषमता ऐतिहासिक भौतिकवाद (विशेषतः काव्यशास्त्र) की गलत समझ से उत्पन्न होती है। इस विषमता का मूल सूत्र यह स्थापना है कि संस्कृति किसी समाजव्यवस्था के आर्थिक सम्बन्धों का विचारधारागत प्रतिबिम्ब है।

समाजव्यवस्था में आर्थिक सम्बन्धों की प्रमुख भूमिका है। यह भूमिका हर समय, हर परिस्थिति में प्रमुख हो, यह आवश्यक नहीं। अक्सर देखा जाता है कि क्रान्ति के लिए परिस्थिति उपयुक्त होते हुए भी क्रांति नहीं होती क्योंकि समाज के उपयुक्त वर्गों ने उसके लिए तैयारी नहीं की। ऐसी परिस्थिति में प्रमुख भूमिका समाज के वस्तुगत सम्बन्धों की नहीं रहती, प्रमुख भूमिका होती है मनुष्य के आत्मगत प्रयत्नों की। इसलिये यह समझना भ्रम है कि आर्थिक सम्बन्धों की भूमिका सदा, सभी परिस्थितियों में प्रमुख और नियामक होती है। यह भी स्पष्ट है कि न तो मनुष्य, न मानव-समाज, न समाज-व्यवस्था आर्थिक सम्बन्धों का परिणाम मात्र है। मनुष्य सामाजिक प्राणी बनने से पहले प्राणीरूप में विकसित हुआ, उस विकास के अनेक

परिणाम उसकी अनेक मूल वृत्तियों के रूप में आज भी उसके साथ हैं। पशु पक्षियों के समान प्रेम, क्रीड़ा, सौंदर्य आदि की वृत्तियाँ मनुष्य को प्राणी होने से ही प्राप्त हुई हैं। उसके सामाजिक प्राणी बनने से उनका परिष्कार हुआ है, जन्म नहीं।

संस्कृति मानव-सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करती है किन्तु वह प्रतिबिंब मात्र नहीं है। मानव-चेतना सापेक्षरूप से स्वतन्त्र है, वह अपनी रचनात्मक क्षमता का परिचय भी देती है, किन्हीं परिस्थितियों में उसकी भूमिका—आर्थिक सम्बन्धों की तुलना में—गौण न हो कर नियामक भी हो जाती है।

संस्कृति में अनेक तत्व हैं। विचारधारा उसका एक तत्व है, एकमात्र तत्व नहीं। विचारधारा के साथ भावधारा भी है, भावधारा के साथ इन्द्रिय-बोध है, इन सबके साथ हमारा सौन्दर्यबोध है जो कथा के गठन से लेकर वाक्यरचना तक, मूर्तिविधान से लेकर छन्द-योजना तक प्रकट होता है। संस्कृति का बहुत गहरा सम्बन्ध हमारे संस्कारों से होता है। ये संस्कार हमारी चेतना की ऊपरी सतह पर तैरते न रहकर बहुधा हमारे उपचेतन में डूबे रहते हैं। हम स्वयं उन्हें सदा पहचान नहीं पाते। मार्क्सवाद में एक बात पर बहुत सही जोर दिया जाता है। वह यह कि बौद्धिक रूप से मार्क्सवाद को स्वीकार करना काफी नहीं है, मार्क्सवादी को सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी जीवन से तादात्म्य स्थापित करना चाहिए। विशेषकर मध्यवर्ग के लिए यह बार-बार कहा गया है कि ढुलमुलयकीनी उसकी वर्ग-विशेषता है। इसे दूर करने के लिए धैर्य और सचेत प्रयास आवश्यक हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि विचारधारा के साथ मनुष्य के संस्कार भी बदलने चाहिए। संस्कार न बदलने पर मध्यवर्ग का सामाजिक प्राणी—प्रगतिशील कवि—विषम परिस्थितियों में, अथवा विषमता का आभास मात्र होने पर अपनी क्रान्तिकारी विचाराधारा को नमस्कार करके अरविन्ददर्शन या ऐसी ही अन्य किसी अनुकूल भावधारा की शरण ले लेता है।

संस्कृति किसी समाज-व्यवस्था के आर्थिक सम्बन्धों का विचारधारागत प्रतिबिंब है, इस गलत स्थापना में 'विचारधारागत' वाला हिस्सा सबसे गलत है। कुछ लोग संस्कृति को विचारधारा मात्र मानते हैं; इसी धारणा के अनु

रूप वे साहित्य को—कभी-कभी चित्रकला और संगीत को भी—विचारों का संकलन मात्र समझ बैठते हैं। उनकी आलोचना में विचारों की परख होती है, अन्य तत्व अछूते रह जाते हैं। लेखक की विचारधारा की खामियाँ दूर करने के बाद आशा करते हैं कि अब उच्चकोटि के साहित्य का सृजन होगा। जब नहीं होता या होने पर उन्हें दृष्टिगोचर नहीं होता तो वे फिर विचारधारा की खामियाँ तलाश करना आरम्भ करते हैं। हम हिन्दी आलोचना के अनुभव से भी यह बात जानते हैं। इस भ्रान्त दृष्टिकोण के कारण ही पन्तजी के युगान्त-युगवाणी-पद्य को कविता की संज्ञा दी गई; यही नहीं, उसे आधुनिक हिन्दी काव्य का सिर-मौर भी बताया गया। आजकल भी प्रगतिशील कविता के उदाहरणों में आलोचकों द्वारा उद्धृत ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जिन्हें पद्य कहना कठिन है, कविता तो दूर की बात है। इसका कारण कविता को विचार-धारा मात्र समझता है, भावों, संस्कारों, सौन्दर्यबोध आदि से विचारधारा के सम्बन्ध को भुला देना है।

आधुनिक हिन्दी काव्य की यथार्थवादी धारा के विकास के लिये उपर्युक्त स्थापना प्रयोगवाद से अधिक घातक है। प्रयोगवाद पहचान में आ जाता है किन्तु उपर्युक्त अवैज्ञानिक स्थापना ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम पर प्रतिपादित की जाती है, इसलिये उसे पहचानने और निर्मूल करने में कठिनाई होती है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस गलत समझ को हम यांत्रिक भौतिकवाद कह सकते हैं। अनेक प्रगतिशील कवियों और आलोचकों पर इसका प्रभाव है। काव्य के अनेक तत्वों को भुला कर विचारधारा सम्बन्धी एक तत्व को ही महत्वपूर्ण समझना, विचारधारा को भी आर्थिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब मात्र मानना, संस्कारों और कलात्मक सौन्दर्य की उपेक्षा करना—ये सब यांत्रिक भौतिकवाद के लक्षण हैं। इससे प्रभावित होने वाले लेखक बहुत जल्दी प्रयोगवाद के असर में आ जाते हैं। उन्हें मनोवैज्ञानिक गहराई और कला का निरपेक्ष सौन्दर्य व्यक्तिवादी रचनाओं में ही दिखाई देता है। व्यक्तिवाद और यांत्रिक भौतिकवाद दोनों ही साहित्य की मूल प्रकृति, कला के आधारभूत नियमों का उल्लंघन करते हैं। दोनों ही यथार्थवादी धारा के पथ की

विषमता है। हिन्दी कविता की प्रगति का विश्लेषण करके, अपने अनुभवों से लाभ उठा कर हमें उस मुख्यधारा को पुष्ट करना चाहिये जिसकी ओर छायावादी कवि सहज ही बढ़े थे। वह धारा विभिन्न कवियों में विभिन्न शैलियों और रूपों में आज पुनः आगे बढ़ रही है।

भारत के स्वाधीन होने के बाद समाजवाद की ओर उन्मुख शक्तियाँ और दृढ़ हुई हैं। पूँजीवादी सत्ता के विरुद्ध जनता का असन्तोष बढ़ा है। भारत के नव-निर्माण का मार्ग पूँजीवादी न होकर समाजवादी होगा, यह स्थापना अनेक कवियों में देखी जा सकती है। छायावाद के उत्तर काल में सभी छायावादी कवियों ने जिस यथार्थवादी भावभूमि की ओर कदम उठाये थे, वह काव्य में और स्पष्ट होने लगी है। क्या इसका यह अर्थ है कि काव्य में निराशा और घुटन की अभिव्यक्ति होती नहीं है, या उस अभिव्यक्ति पर रोक लगा देनी चाहिये? अक्सर यह देखा जाता है कि जिस कुंठा और घुटन की बात प्रयोगवादी प्रचारक करते हैं, उसकी सुन्दर अभिव्यक्ति अप्रयोगवादी कवियों में मिलती है। और यथार्थवाद के लिये इस कुंठा का महत्व है।

> मैं सोच रहा था, जाने क्या हो गया मुझे,
> मन किन अनजानी डगरों में है भटक गया,
> कितने अँधियारे कोने हैं मानव मन के!
> कुछ किये नहीं बनता, दिन यों ही बीत रहे
> पानी सी बहती आयु कभी क्या लौटेगी?
> इस निरुद्देश्य जीवन से किसको लाभ भला?
> भूभार बने रहने से तो मरना अच्छा!

यह तीव्र अवसाद कठोर आत्मनिरीक्षण के प्रकाश में पाठक को निरुत्साहित न करके जीवन की विषम परिस्थितियों का सामना करना सिखाता है। प्रयोगवादी कुंठा जहाँ एक मानसिक रोग है, वहाँ ऊपर की पंक्तियों में हमें एक द्वन्द्व के दर्शन होते हैं जिसमें मन की स्वस्थ वृत्तियाँ उस कुंठा को दूर करने में प्रयत्नशील दिखाई देती हैं। यदि कवि साहस से अपने अवसाद का सामना करे तो उसकी मानसिक स्थिति अवश्य बदल जाय।

उपर्युक्त पंक्तियों के रचयिता श्री सुमित्रानन्दन पन्त उसी कविता में (संदेश—"अतिमा" संग्रह में) आगे कहते हैं :

मैं मन की कुंठित कूपवृत्ति से बाहर हो
चिंताओं के दुर्बोध भँवर से निकल शीघ्र
पाहुन प्रकाश के निरवधि क्षण में डूब गया।

यदि अन्य कवि भी इस कूपवृत्ति से बाहर निकलने का प्रयास करें तो काव्य में कुंठा की अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से समाज के लिये कल्याणकारी हो। अद्भुत उपमानों की टूटी पाति रचे बिना, छन्द, लय और शब्द योजना के नियमों का उल्लंन किये बिना अवसाद व्यक्त किया जा सकता है, यह हम ऊपर के उदाहरण में देखते हैं।

यथार्थवाद एक व्यापक जीवन-दर्शन है। उसमें समाजवादी विचारा-धारा से लेकर प्रकृति के अनूठे दृश्यों तक का समावेश संभव है। उद्दीपन विभावों और रहस्यमय संकेतों से अलग सूक्ष्म संवेदन के बल पर सरल गीत भी रचे जा सकते हैं, जैसे—

आज कहाँ से फिर आ पहुँचा
फागुन में सावन !
सुबह उड़ी थी धूल
शाम को घिर आये बादल।
वासन्ती रातों में बरसा
किन आँखों का जल।
पतझर की नंगी डालों में
पुलक उठा यौवन।
आज कहाँ से फिर आ पहुँचा
फागुन में सावन !
सोंधी-सोंधी मिट्टी महकी
गमक उठा उपवन।
बिजली कौंधी आसमान में
धरती में सिहरन।

होली में कजली गाने का
फिर ललचाया मन ।
आज कहाँ से फिर आ पहुँचा
फागुन में सावन !

ये पंक्तियाँ शिवमंगल सिंह सुमन की हैं और यह साबित करती हैं कि जीवन के छोटे-मोटे अनुभवों को लययुक्त सरल शब्दावली में बाँधना उच्च-कोटि का कवि-कौशल है जो हर किसी के बस की बात नहीं है।

यथार्थवादी कविता के लिये यह आवश्यक नहीं कि उसमें मुक्त छंद का बहिष्कार हो। मुक्तछन्द भी आखिर छन्द है मुक्त गद्य नहीं। उसमें लय का निर्वाह होना चाहिये। "धूप के धान" में गिरजाकुमार माथुर की रचना 'चाहिये' का यह अंश देखिये।

अविरल जलते रजनी के दीपक मंद हुए
अब ब्राह्म घड़ी का ठंढा सा आलोक जगा
भैरव के मंद स्वरों के पहले कंपन सा
वे सात पहरुए उतर गए हैं पश्चिम में
ले अंधियारे का सिंहासन
हल्की हो गईं हवा की तिमिर दर्वा साँसें
भ्रम की स्वर्गङ्गा के निशान
जो लुप्तप्राय नक्षत्रों में हैं शेष रहे
प्रतिपल पीतल से रंगहीन होते जाते।

'धूप के धान' संग्रह में काफी विविधता है। गीत हैं, मुक्त छन्द है, इतिहास-चर्चा है, प्रकृतिचित्रण है, मूर्तिविधान में अनूठापन है, शब्दों के प्रयोग में मौलिकता है लेकिन हिन्दी आलोचना में इस संग्रह की चर्चा नहीं के बराबर क्यों हुई है ? इसलिये कि "धूप के धान" का कवि आस्थाहीन नहीं है, कुंठा को लेकर झींकता नहीं है, कई जगह उदात्त स्वर में बोलता है, इसलिये नयी कविता के खेत में धूप के धान की बाड़ नहीं लगी।

प्रयोगवादी विचारक कहते हैं—कविता कथन नहीं है उसमें व्यंग्य होना चाहिये। कविता भावलोक की ही वस्तु नहीं: उसमें बौद्धिक चमत्कार भी

होना चाहिये। ठीक है। बच्चन की—ऊपर से प्रयोगवादी सी लगने वाली—रचना "बुद्ध और नाचघर" का यह अंश देखिये :—

बुद्ध भगवान,
अमीरों के ड्राइंगरूम,
रईसों के मकान
तुम्हारे विचारों से अनजान,
सपने में भी उन्हें इसका नहीं आता ध्यान।
शेर की खाल, हिरन की सींग,
कला-कारीगरी के नमूनों के साथ तुम भी हो आसीन,
लोगों की सौन्दर्य प्रियता को
देते हुए तस्कीन,
इसीलिये तुमने एक की थी आसमान—जमीन ?

लेकिन इस तरह का व्यंग्य प्रयोगवादी मित्रों को पसन्द नहीं। व्यंग्य की परिणति होनी चाहिये निरुद्देश्यता में। यदि व्यंग्य से आप पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का खोखलापन प्रकट करने लगे तो कविता प्रचार बन गयी!

कविता में तरह-तरह के प्रयोग करने की बड़ी गुंजाइश है। अनेक प्रकार की शैलियों द्वारा कवि अपने भाव और विचार पाठकों तक पहुँचा सकता है। शैली की यह विविधता भावों की अभिव्यंजना में ही नहीं, भावानुभूति और संवेदन के प्रकारों में भी देखी जा सकती है। इस विवधता से हिन्दी कविता की मूल यथार्थवादी धारा समृद्ध होती है। "नयी कविता" और आधुनिक हिन्दी कविता एक ही वस्तु नहीं हैं। हमें संकुचित अर्थ में ग्रहण की जाने वाली नयी कविता के अलावा भी पिछले दस वर्षों में रची हुई आधुनिक हिन्दी कविता का विवेचन करना चाहिये। आलोचना का कोलाहल शान्त होने पर नयी कविता के कर्दम पर यथार्थवाद की निर्मल धारा बहती दिखाई देगी।

सामाजिक प्रेरणा : आज का भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की ओर से प्रकाशित "आज का भारतीय साहित्य" पुस्तक की यथेष्ट चर्चा हिन्दी में हो चुकी है। हिन्दी संस्करण से अधिक पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण की चर्चा हुई है। चर्चा का कारण श्री स० ही० वात्स्यायन का लेख रहा है और उसकी इतनीम्चर्चा हुई है कि अन्य भाषाओं और उनके साहित्य से सम्बन्धित लेखों की ओर आलोचकों का ध्यान कम गया है।

आज की परिस्थितियों में विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों का एक दूसरे की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होना एक राष्ट्रीय महत्व का कार्य हो गया है। देश में अन्ध राष्ट्रवाद और विघटन की शक्तियों का सांस्कृतिक आधार बहुत कुछ अहम्मन्यता और दूसरी भाषाओं का अज्ञान है। इस पुस्तक को पढ़ कर कुछ अज्ञान तो दूर होगा ही और लोगों को यह अनुभव भी होगा कि सारे भारतकी सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में बहुत अधिक समानता है, इसलिये हमारी विभिन्न भाषाओं के साहित्य में विविधता के अलावा बहुत से मूलभूत तत्व समान हैं। इसलिये परस्पर स्पर्द्धा और अहङ्कार की भावनाएँ त्याग कर एक दूसरे से सीख कर अपने साहित्य द्वारा समग्र भारतीय वाङ्-मय को समृद्ध करने का प्रयास श्रेयस्कर होगा।

इस पुस्तक के अधिकांश लेखक साहित्य अकादेमी से सम्बन्धित हैं। लेखकों को चुनने में अकादेमी अधिक उदारता से काम ले सकती थी। विशेष-कर हिन्दी साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करने का दायित्व जिन सज्जन को सौंपा गया है, उनके कार्य से साधारण हिन्दी जगत् को क्षोभ उत्पन्न हुआ है, यह निर्विवाद है।

यह प्रसन्नता की बात है कि पुस्तक में सिन्धी और कश्मीरी भाषाओं के साहित्य को भी स्थान दिया गया है यद्यपि कश्मीर में कश्मीरी राजभाषा नहीं है और सिन्धी भाषा का प्रदेश भारत के बाहर है। शायद राजस्थानी आदि कुछ

अन्य भाषाओं के प्रति भी यही उदारता वांछनीय होती। पुस्तक में साधारणतः प्रत्येक भाषा को बीस-तीस पृष्ठ मिले हैं—तेलुगु को बीस पृष्ठ और हिन्दी को पैंतीस पृष्ठ दिये गये हैं। संस्कृत को सड़सठ पृष्ठ दिये गये है जो बहुत अधिक हैं। अन्त में अंग्रेजी का भारतीय साहित्य भी है।

इन लेखों को पढ़ कर पहली सचाई यह उभर कर आती है कि देश के स्वाधीनता-आन्दोलन ने हमारी भाषाओं के साहित्य को सबसे अधिक प्रेरणा दी है। अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका को चाहे जितना श्रेय दिया जाय, वास्तविकता यह है कि साहित्य को प्रेरणा अंग्रेजी राज का गुण गाने वालों ने नहीं, उसका विरोध करने वालों ने दी है। कुछ साहित्य-शास्त्री भले ही अव्यक्त कामवासना को साहित्य का स्रोत मानते रहें, भारतीय साहित्य के नवजागरण-युग की कहानी दूसरी ही है।

दूसरी सचाई यह उभर कर आती है कि राष्ट्रीयता के साथ मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन सभी भाषाओं में अपना व्यापक प्रभाव डाल चुका है। साहित्य अकादेमी से सम्बन्धित लेखकों द्वारा इस तथ्य की स्वीकृति और भी महत्वपूर्ण है। यह तथ्य उन विद्वानों के मनन करने योग्य है जो समझते हैं कि प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन राजनीतिक प्रचार मात्र था अथवा यह कि उसका प्रभाव साहित्य के इतिहास में क्षणिक सिद्ध हो चुका है। देश के सांस्कृतिक नव निर्माण में समाजवादी विचार धारा की भूमिका दिनों दिन निखरती जा रही है। साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। अंग्रेजी के पतनशील और निराशावादी रचनाकार का प्रभाव भी भारतीय भाषाओं पर पड़ा है किन्तु वह प्रभाव राष्ट्रीयता य समाजवादी विचारधारा के प्रभाव की तुलना में नगण्य है। समूचे भारती साहित्य के विकास की इस दिशा पर कुंठाप्रेमी मित्रों को ध्यान देना चाहिये

कश्मीर से लेकर तमिलनाड तक, बङ्गाल से लेकर गुजरात तक राष्ट्री स्वाधीनता-आन्दोलन ने एक भावना-सूत्र में देश की सभी जातियों औ भाषाओं को बाँध दिया था। बहुजातीय राष्ट्रीयता का पाठ हमें अंग्रेजों न नहीं पढ़ाया। युनाइटेड किंगडम उर्फ ग्रेट ब्रिटेन में आइरिश, स्काट, वेल्श और अंग्रेज जातियों में काफी कशमकश रही है। इस युनाइटेड किंगडम व

लगे हैं।" कुछ कवि इलियट आदि अंग्रेज कवियों से प्रभावित हैं; अन्य "अपनी रचनाओं में पूँजीवादी शोषण का उल्लेख करके, वर्ग-संघर्ष और समाज-व्यवस्था में शीघ्र ही आमूल चूल परिवर्तन करने की ओर संकेत करते हैं।" पूँजीवादी व्यवस्था का आधार व्यक्तिगत मुनाफा है। उस व्यवस्था में जनता की समस्याएँ हल नहीं होतीं। न तो सार्वजनिक चुनाव का अधिकार देने से, न लोक-सभा में बहस करने से, न शुभकामनाओं से पूर्ण प्रस्ताव पास करने से सामाजिक विषमता कम होती है। वर्गसंघर्ष दिन पर दिन तीखा होता जाता है और लगता है कि मुनाफे का आधार खत्म करके समाज-वादी व्यवस्था की स्थापना के बाद ही यह संघर्ष बन्द होगा। इसीलिये असम जैसे छोटे प्रदेश की भाषा में भी इस वर्गसंघर्ष को व्यक्त करने वाली कविताएँ होती हैं। कविता ही नहीं "स्वतन्त्रता के बाद देशभक्ति की विशेष भावना से परिपूर्ण क्रान्तिकारी ढंग के ऐतिहासिक नाटक और भी लिखे गये।" राष्ट्रीयता की भावना और समाजवादी विचारधारा में परस्पर विरोध नहीं है। राष्ट्र में गरीबों की संख्या ही अधिक है और उनका उद्धार करने वाली व्यवस्था का नाम ही समाजवाद है।

असमिया की तरह उड़िया को भी कुछ लोग बँगला की बोली समझते थे। आधुनिक उड़िया साहित्य के पितामह फकीर मोहन सेनापति "आधुनिक उड़िया साहित्य और राष्ट्रीयता के सेनापति बने।" कितना गहरा सम्बन्ध है साहित्य और समाज में। कितने जागरूक थे उड़िया के लेखक जिन्होंने अपने साहित्य को राष्ट्रीय आन्दोलन से अभिन्न रूप से संबद्ध कर दिया। फकीर मोहन में राष्ट्रीयता के साथ गहरी जनतांत्रिक भावना भी थी। "जनता के लेखक होने के नाते वे इसी क्षेत्र के [उपन्यास क्षेत्र के] अन्य कई लेखकों के स्फूर्तिदाता और अग्रदूत थे।" बहुत से हिन्दी आलोचक भारत के हर सांस्कृतिक आन्दोलन को अंग्रेज़ी की देन मानते हैं। उनकी समझ में हमारी मौलिक चिन्तन की क्षमता नष्ट हो गई है। लेकिन "फकीर मोहन को अंग्रेज़ी में कोई विधिवत् शिक्षा नहीं मिली थी। यह एक तरह से बड़ा लाभ हुआ। वह मुख्यतः जानता के आदमी थे। जनसाधारण की घरेलू सशक्त भाषा, जिसमें कि गाँवों की गलियों की सही गन्ध आती हो,

लगे हैं।" कुछ कवि इलियट आदि अंग्रेज कवियों से प्रभावित हैं; अन्य "अपनी रचनाओं में पूँजीवादी शोषण का उल्लेख करके, वर्ग-संघर्ष और समाज-व्यवस्था में शीघ्र ही आमूल चूल परिवर्तन करने की ओर संकेत करते हैं।" पूँजीवादी व्यवस्था का आधार व्यक्तिगत मुनाफा है। उस व्यवस्था में जनता की समस्याएँ हल नहीं होतीं। न तो सार्वजनिक चुनाव का अधिकार देने से, न लोक-सभा में बहस करने से, न शुभकामनाओं से पूर्ण प्रस्ताव पास करने से सामाजिक विषमता कम होती है। वर्गसंघर्ष दिन पर दिन तीखा होता जाता है और लगता है कि मुनाफे का आधार खत्म करके समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद ही यह संघर्ष बन्द होगा। इसीलिये असम जैसे छोटे प्रदेश की भाषा मे भी इस वर्गसंघर्ष को व्यक्त करने वाली कविताएँ होती हैं। कविता ही नहीं "स्वतन्त्रता के बाद देशभक्ति की विशेष भावना से परिपूर्ण क्रान्तिकारी ढंग के ऐतिहासिक नाटक और भी लिखे गये।" राष्ट्रीयता की भावना और समाजवादी विचारधारा में परस्पर विरोध नहीं है। राष्ट्र मे गरीबों की संख्या ही अधिक है और उनका उद्धार करने वाली व्यवस्था का नाम ही समाजवाद है।

असमिया की तरह उड़िया को भी कुछ लोग बँगला की बोली समझते थे। आधुनिक उड़िया साहित्य के पितामह फकीर मोहन सेनापति "आधुनिक उड़िया साहित्य और राष्ट्रीयता के सेनापति बने।" कितना गहरा सम्बन्ध है साहित्य और समाज में। कितने जागरूक थे उड़िया के लेखक जिन्होंने अपने साहित्य को राष्ट्रीय आन्दोलन से अभिन्न रूप से संबद्ध कर दिया। फकीर मोहन में राष्ट्रीयता के साथ गहरी जनतांत्रिक भावना भी थी। "जनता के लेखक होने के नाते वे इसी क्षेत्र के [उपन्यास क्षेत्र के] अन्य कई लेखकों के स्फूर्तिदाता और अग्रदूत थे।" बहुत से हिन्दी आलोचक भारत के हर सांस्कृतिक आन्दोलन को अंग्रेज़ी की देन मानते हैं। उनकी समझ में हमारी मौलिक चिन्तन की क्षमता नष्ट हो गई है। लेकिन "फकीर मोहन को अंग्रेज़ी में कोई विधिवत् शिक्षा नहीं मिली थी। यह एक तरह से बड़ा लाभ हुआ। वह मुख्यतः जानता के आदमी थे। जनसाधारण की घरेलू सशक्त भाषा, जिसमें कि गाँवों की गलियों की सही गन्ध आती हो,

धान के खेत और तालाब जहाँ कि गाँव की स्त्रियाँ अपने कपड़े लेकर धोने के लिए और दैनिक गपशप के लिये आन जुटती हों, यह सब फकीर मोहन के स्वाभाविक विषय थे।"

फकीर मोहन का यह वर्णन पढ़कर हिन्दी पाठकों को स्वभावतः प्रेमचन्द्र का स्मरण हो आयेगा। भारतीय साहित्य में लोकप्रिय और यथार्थवादी साहित्य की धारा ऐसे ही लेखकों ने बहाई और वह धारा ही हमारे साहित्य की भागीरथी है। इसी प्रकार कवि राधाकान्त ने अपनी रचनाओं में देश की गरिमा को प्रकट किया। उड़िया पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी पड़ा। पहले शायद लोग समझते थे कि यह भी एक फैशन है जो कुछ दिन बाद खत्म हो जायगा "परन्तु अब तो वामपक्षी विचारधारा साहित्यिकों का सामान्य विषय हो गया है।" इसे कोई पसन्द करे चाहे नापसन्द; सामाजिक जीवन से उत्पन्न होने वाली इस विचारधारा के प्रभाव को कोई रोक नहीं सकता।

राष्ट्रीय जागरण के साथ कन्नड़ भाषा में स्वर्णयुग आरम्भ हुआ। श्री वि० कृ० गोकाक ने आधुनिक कन्नड़ साहित्य के परिचय में लिखा है, "१६२० के बाद आधुनिक कन्नड़ साहित्य अपने स्वर्णयुग में प्रवेश कर रहा है।" नये कवियों ने इस स्वर्णयुग को अवतरित करने में अग्रदल का कार्य किया। "उन्होंने ऐसी कविताएँ लिखीं जिनमें कि धरती का प्रेम और जिस युग में वे थे उसकी बढ़ती हुई राष्ट्रीयता का पूरा भावलोक व्यक्त हुआ है।" राष्ट्रीयता के साथ उसके सहज विकास के रूप में प्रगतिशील साहित्य की धारा अग्रसर हुई। श्री गोकाक ने लिखा है, "अगली धारा १६३६ के लगभग शुरू हुई। उसी वर्ष दूसरा महायुद्ध भी छिड़ गया और सन् ३० में जिस 'प्रगतिशील' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, इस समय तक वह और भी जोर पकड़ गया, और इस युग के साहित्य पर उसने गहरा प्रभाव डाला। वह मानो नवीन तरुण साहित्यिक पीढ़ी के उदय का एक धुरी-बिन्दु बन गया।" कन्नड़ साहित्य पर विश्व के फासिस्ट-विरोधी अभियान का गहरा असर पड़ा। कन्नड़ भाषा के जागरूक कवियों ने हिरोशिमा के नरसंहार के बारे में "बहुत ही तीखी करुणा से लिखा है;" उन्होंने गांधीजी की हत्या से

आन्दोलित होकर "राष्ट्रपिता को अपनी श्रद्धाञ्जलि एक मार्मिक गीतसंग्रह के रूप में अर्पित की।" प्रगतिशील साहित्यकारों के बारे में श्री गोकाक ने लिखा है कि उनमें "एक सशक्त सामाजिक चेतना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूप में है।"

तमिल भाषा को आधुनिक भारत के श्रेष्ठ देशभक्त गायक भारती के गीतों का माध्यम होने का श्रेय है। देश की अन्य भाषाओं में राष्ट्रीय चेतना की जो धाराएँ बह रही थीं, वे भारती में मानो संयुक्त होकर अप्रतिहत वेग से आगे बढ़ चलीं। श्री ति० पी० मीनाक्षि सुन्दरम् पिल्ले ने बिल्कुल ठीक लिखा है, "२० वीं सदी एशिया के जागरण की सदी है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आन्दोलन और पुनर्जीवन इसकी विशेष घटनाएँ हैं। आधुनिक तमिल साहित्य की सर्वोत्तम कृतियाँ राष्ट्रीय गीत हैं।" तमिल साहित्यकारों ने अपनी भाषा के प्रति प्रेम के गीत गाये, उन्होंने प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया, इन सब धाराओं का मूल प्रेरणास्रोत थी राष्ट्रीय चेतना। अन्य भाषाओं की तरह तमिल में भी "आधुनिक धारा जनतांत्रिक है। उसमें आधुनिकता पर आग्रह है। भारत के विभिन्न भागों और दुनिया के सम्पर्क से, विशेषतः पश्चिम के सम्पर्क से वैज्ञानिक और बुद्धिवादी धारा तमिल में बराबर विकसित हो रही है।"

आधुनिक तेलुगु साहित्य ने काव्य में नये भाव-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की। श्री के० रामकोटीश्वर राव के अनुसार "इस युग के कवियों के मुख्य विषय प्रेम और प्रकृति थे। परन्तु राष्ट्रीयता, विशेषतः विदेशी राज्य के विरुद्ध संघर्ष के दिनों में, उनकी भावनात्मक मनोघटना एक महत्वपूर्ण तत्व थी।" फिर "१९३५ के बाद तेलुगु कविता में वामपक्षी विचारों की ओर झुकाव हुआ। श्रीरंगम् श्रीनिवास राव (श्री श्री) ने रोमांटिक आन्दोलन के विरुद्ध विद्रोह शुरू किया, जिसका आरंभ राय प्रोलु सुब्बाराव से हुआ था। श्रीनिवास राव अपनी कविता में लिखते हैं कि अब ऐसी नई दुनिया बन रही है जिसमें पसीने और मेहनत का फल यह होना चाहिए कि किसानों और मजदूरों के अधिकार उन्हें पूरी तरह प्राप्त हो जायँ।" यह नई चेतना तेलुगु साहित्य में निरन्तर विकसित हो रही है।

गांधीजी के प्रदेश गुजरात में साहित्य पर राष्ट्रीयता का प्रभाव पड़ना ही था। अंग्रेजों के दमन से गुजराती साहित्यकार क्षुब्ध हुए; उन्होंने जनता के प्रतिरोध तथा विदेश की साम्राज्य-विरोधी घटनाओं—जैसे रूसी क्रान्ति—से प्रेरणा और साहस ग्रहण किया। श्री मनमुखलाल झवेरी ने लिखा है, "गांधीजी, होमरूल आन्दोलन और जलियाँवाला बाग तथा देश के बाहर प्रथम महायुद्ध, उसके परिणाम और रूस की क्रान्ति इत्यादि घटनाओं ने गुजरात के भावजीवन के अन्तरतम को छू लिया। केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता ही नहीं परन्तु धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक सभी क्षेत्रों में सारे गुजरात की आत्मा स्वतन्त्रता की भावना से भर उठी। गुजरात नवीन जीवन से स्पन्दित हो उठा।" राष्ट्रीयता की भावना व्यक्त करने में कवियों ने पहल की। "उनकी कविता का मुख्य स्वर स्वतन्त्रता था।" साथ ही गुजराती साहित्यकार ने अपने समाज के अन्तर्विरोधों को भी देखा। "आर्थिक विषमता के कारण समाज की जो असह्य स्थिति थी, वह उसे खटकती थी।" गांधीजी से प्रेरणा पाकर "धनिक वर्ग की ओर से उनकी दृष्टि हटकर गरीब और अशिक्षित देहाती जनता की ओर मुड़ गई।"

महाराष्ट्र में सामाजिक सुधारों से सन्तोष करने वाला दल राष्ट्रीयता की लहर के सामने टिक न सका। श्री मंगेश विट्ठल राजाध्यक्ष ने लिखा है कि "बीसवीं शती के दूसरे दशक के उत्तरार्ध की निराशा, मजदूर-आन्दोलन का उत्थान और इससे भी अधिक १९३०-१९३१ में गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय संघर्ष ने ये अल्प-तुष्टि की दीवारें जड़ से हिला दीं।" इसके बाद अनेक लेखकों ने "साहित्य को सार्वत्रिक ह्रासोन्मुखता से बचाने का यत्न किया।" रवि-किरण-मंडल के कवियों का "प्रयत्न था कि कविता को सामान्य जीवन के निकट लाया जाय।" इसी प्रकार "१९३६ के करीब मलयालम कविता ने नया मोड़ लिया।" श्री सी० कुञ्जन राजा के अनुसार "वामपक्षी राजनीति" से प्रभावित "इस धारा ने जो कविता निर्मित की वह बहुत उच्च नहीं थी, परन्तु कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में उनकी सफलता निःसन्देह बहुत है। परन्तु यह मानना चाहिए कि प्रायः सभी प्रमुख लेखकों पर इस 'वाद' का प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसे एक नया दृष्टिकोण दिया विशेषतः

वल्लत्तोल और शंकर कुरुप्प पर 'प्रगतिवादी' विचारों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।" मलयालम में प्रगतिशील साहित्य अपने प्रदेश की राष्ट्रीय और जनवादी परंपरा से विच्छिन्न हो कर विकसित नहीं हुआ वरन् उससे उसने घनिष्ठ नाता जोड़ा। इस विषय में श्री कुञ्जन राजा के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। "यद्यपि यह सही तौर पर कहा जा सकता है कि गए २० वर्षों में ऐसा कोई भी कवि नहीं है, जिसे कि 'प्रगतिवादी' विचारों ने अनजाने रूप से ही क्यों न हो, प्रभावित न किया हो। फिर भी मलयालम कविता का मूल प्रवाह उसकी प्रमुख धारा से अलग नहीं हुआ। तरुण पीढ़ी के तीन प्रसिद्ध कवियों के नाम हम दे सकते हैं। वैलोप्पल्ली श्रीधरा मेनन, वेण्णिकुलम् गोपाल कुरुप्प और पालाई नारायणन नायर। ये मलयालम-कविता की सच्ची परम्परा में हैं, यद्यपि वे प्रगतिशील विचारों से अधिक प्रभावित हैं।" केरल में आज जो नवीन जन-जागरण दिखाई दे रहा है, उसके लिये बहुत कुछ श्रेय वहाँ के लेखकों को देना उचित होगा।

सुदूर उत्तर में "विगत ढाई दशकों की कश्मीरी कविता में कश्मीर के सामाजिक राजनीतिक जागरण का प्रतिविम्ब बहुत अच्छी तरह दिखाई देने लगा। इस कविता में सामन्ती जुल्मों के नीचे दबी हुई जनता की आजादी के लिए महान् संघर्ष का भी चित्र मिलता है।" महजूर ने कश्मीरी कविता में युगान्तर उत्पन्न किया। श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प' के अनुसार "उनकी देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रीय कविता ने कश्मीरी कविता को नया स्वर ही नहीं, किन्तु एक नया दृष्टिकोण भी दिया।" नये कवियों में "जनवादी विषयों के प्रति" विशेष आग्रह देखा जाता है। "विगत कुछ वर्षों में लोक साहित्य की विधाओं के प्रति विशेष प्रेम प्रदर्शित करने वाली एक और जो लोकप्रिय धारा प्रवाहित हुई उससे फसल के सामूहिक गान, पालने और लोरी के गीत तथा मजदूरों के गाने इत्यादि का स्वर और भी तेजी से गूँजा। रोशन ने कश्मीर की चित्रोपम ऋतुओं पर कई सुन्दर कविताएँ और कल्पना चित्र लिखे हैं, इन चित्रों में जन साधारण अपने सब तरह के काम करते हुए शांति और समृद्धि की ओर मजबूती से कदम उठाते हैं। प्रेमी ने भी मजदूरों की जिन्दगी के कई पहलू अपनी कविता में आँके हैं। विशेष आनन्ददायक तो वे गीत हैं,

जिनमें कि उन किसानों के चित्र हैं, जो खेती पर गोड़ाई, बुआई तथा निराई करते हैं, और जो घास-फूस उखाड़ कर फेंकते हैं, जो फसल काटते हैं; जो केसर चुनते हैं।" कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारतीय साहित्य की धारा जन-साधारण के जीवन के चित्रण की ओर बढ़ रही है। यह प्रवाह पसन्द हो चाहे नापसन्द, उसके अस्तित्व से इन्कार करना असंभव है।

पंजाबी कवि मोहनसिंह के बारे में श्री खुशवन्तसिंह ने लिखा है, "उनकी बाद की रचनाएँ विशेषतया 'कुछ सच', जो कि देश के विभाजन के बाद प्रकाशित हुईं; ऐसी हैं कि उनमें वामपक्ष की ओर जबर्दस्त झुकाव है। इनमें राजनैतिक भावनाओं को काव्य रूप से भी अधिक महत्व दिया गया है और यह बीमारी ऐसे बहुत-से नौजवान लेखकों को लग गई है जो कि अपने आपको 'प्रगतिवादी' कहते हैं।" लेखक के अनुसार मोहनसिंह में मार्क्सवाद के प्रति पहले जैसा उत्साह नहीं है, "अब उनमें दलितों का नेतृत्व करने की इच्छा और कर्म के लिए प्रेरणा के रूप में ही यह मार्क्सवाद बाकी है।" किसी भी मार्क्सवादी लेखक को इस स्थिति से असन्तोष न होना चाहिये, विशेषकर इसलिये कि दलितों का नेतृत्व करने की इच्छा के बावजूद इसी रफ़्तार से लिखने पर "वे हमारी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि जरूर बन जायँगे।" तथास्तु। वर्तमान पंजाबी के वे श्रेष्ठ कवि हैं, इसमें तो अभी भी सन्देह नहीं है। भारत के सिंधीभाषियो का अपना प्रदेश छूट गया। वे विभिन्न नगरों में फैले हुए हैं।

सिन्धी भाषा के शिक्षण आदि की समुचित व्यवस्था नहीं है। फिर भी "१९४७-५७ के दशक के साहित्य के बारे में दो बातें प्रधान हैं, एक तो हरेक लेखक में अपनी भाषा और साहित्य विशेषतः (शाह) के बारे में गहरा प्रेम है और मनुष्य और वस्तुओं के प्रति यथार्थवादी 'प्रगति वादी' दृष्टिकोण है।" श्री अजवाणी के उपर्युक्त वाक्य से सिन्धी लेखकों के साहस और आत्म-विश्वास का पता चलता है। इसके लिये वे हमारे आदर और बधाई के पात्र हैं। हमें विश्वास है कि सिन्धी भाषा के शिक्षण की उचित व्यवस्था होने पर इस रोचक भाषा का साहित्य और भी तेजी से उन्नति करेगा।

बँगला जैसी समृद्ध भाषा के साहित्य से हिन्दी-भाषी अपेक्षाकृत

परिचित हैं। काजी अब्दुल वदूद ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में एक मार्के की बात लिखी है, "अब उनका हिन्दू या भारतीय राष्ट्रवाद सीमित न रह-कर स्वदेशी आन्दोलन के निकट सम्पर्क में आने के बाद व्यापक बन गया।" इस प्रकार रहस्यवादी कवि भी राष्ट्रीयता से प्रभावित हुए और उनका दृष्टि-कोण अधिक व्यापक बन गया। वामपन्थी लेखकों में वदूद ने मानिक बन्द्यो-पाध्याय, अमरेन्द्र घोष, समरेश बसु, गुलाम कुद्दूस, गोपाल हालदार, सुकान्त भट्टाचार्य आदि का उल्लेख किया है। इनमें से अनेक के लिये श्री वदूद ने लिखा है कि वे वामपन्थी से अधिक मानवतावादी दिखाई देते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। मार्क्सवादी विचारधारा मानवतावाद की धारा है, ऐसी धारा जो मुनाफे के लिये व्यक्तिगत संपत्ति को आधार नहीं मानती वरन् शोषणमुक्त समाज में सभी को विकास की सुविधाएँ देने का लक्ष्य सामने रखती है।

राष्ट्रीयता और मार्क्सवाद का प्रभाव हिन्दी के समान उर्दू पर भी पड़ा है। दोनों एक ही प्रदेश की सामान्य भाषा की दो साहित्यिक शैलियाँ हैं। श्री ख्वाजा अहमद फारुकी के अनुसार प्रगतिशील आन्दोलन में पहले कट्टर-पन था, फिर वह "उर्दू-साहित्य को एक नई प्रेरणा, संजीवन और स्वतंत्र चेतना दे गया।" उर्दू के प्रगतिशील कवियों में "एक चिरंतन सप्राणता और सशक्त यथार्थवाद है।" "गरीबी, गुलामी और शोषण के जमाने को एक उत्कट भावपूर्ण अभिव्यंजना" उर्दू की प्रगतिशील कविता में ही मिलती है।

राष्ट्रीय चेतना का प्रसार, उसका विकसित होकर व्यापक जनतांत्रिक रूप लेना, समाजवादी उद्देश्य के प्रति लेखकों का उन्मुख होना—यह रूपरेखा भारत की प्रायः हर भाषा की है। अंग्रेजी तो प्रगतिशील विश्वभाषा है ही; उसमें राष्ट्रीय और समाजवादी चेतना के उद्भव की बात ही क्या करना, संस्कृत में भी जिसका सम्बन्ध रूढ़िवाद से विशेष माना जाता है—साहित्यकार "राजनैतिक आन्दोलनों से प्रभावित हुए और इस युग के संस्कृत लेखन में नवयुग का प्रभाव स्पष्ट है। वस्तुतः इस नयी भावना से अनुप्राणित साहित्य ही समकालीन संस्कृत का सबसे बड़ा भाग है।"

राष्टीय आन्दोलन का यह प्रभाव देख कर अपने साहित्यकारों पर गर्व होता है। उन्होंने साहित्य-सेवा के साथ देशसेवा भी की। हर भाषा और साहित्य में इस नयी चेतना की लहरों ने प्रवेश करके हमारी संस्कृति को समृद्ध किया और राष्ट्रीय एकता को दृढ़ किया। स्थायी भावों के गढ़ संस्कृत साहित्य में भी वर्तमान युग में "नई भावना" से अनुप्राणित साहित्य उस भाषा के वाङ्मय का सबसे बड़ा भाग बन गया। इस अखिल-भारतीय, देशी-विदेशी, जीवित-अजीवित भाषाओं की परिस्थितियों से भिन्न किसी भाषा की दशा है तो वह हिन्दी की। श्री स० ही० वात्स्यायन ने अज्ञेय के बारे में क्या लिखा और शमशेरबहादुरसिंह का नाम लिया या नहीं लिया, इससे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव को स्वीकार किया या नहीं किया। श्री वात्स्यायन के अनुसार हिन्दी ने पहले महायुद्ध के बाद आधुनिक काल में प्रवेश किया। इस आधुनिक काल का जो भी अर्थ हो, लगता है इस आधुनिकता की विशेषताओं में राष्ट्रीयता की गणना नहीं की जा सकती। पहले विद्वान् लेखक ने अन्य देशों पर दृष्टि डालकर सूचित किया है कि आलोचकों ने वहाँ सम्भ्रान्ति युग और चिन्ता के युग की चर्चा की है (भ्रान्तियुग क्यों नहीं? और चिन्ता के साथ नदी के द्वीप का युग भी हो सकता था! नहीं, उचित नाम है कुण्ठा का युग! सुनिये—"इतना ही नहीं दोनों महायुद्धों के काल को हिन्दी के सन्दर्भ में एक और भी नाम दिया जा सकता है—यदि इससे भ्रम उत्पन्न होने की आशंका न होती [! ! !]—कुण्ठा युग।" भ्रम उत्पन्न न हो, इसलिए सम्भ्रान्ति युग के प्रेमी ने कुण्ठित कंठ से दो महायुद्धों के बीच के हिन्दी साहित्य को—प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य को—कुण्ठा के युग का साहित्य कहा है। कहना चाहिये, युग कुंठा का है, साहित्य अकुण्ठित रहा, इसलिये वह युग का प्रतिनिधित्व न कर पाया। "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रचनात्मक साहित्य को आज कदाचित् बहुत उच्च-कोटि का नहीं समझा जायगा।" भारतेन्दु जी अकुण्ठित निकल गये। वैसे भी बेचारे सम्भ्रान्ति युग के पहले ही अवतरित हो गये थे।

छायावाद "रोमांटिकवाद और वेदांतवाद का समन्वय था।" इसीलिये

उसमें भी कुंठा, चिन्ता और सम्भ्रान्ति की उचित अभिव्यक्ति नहीं हुई। छायावाद और प्रगतिवाद में कौन ज्यादा गुस्ताख है, यह कहना कठिन है। दोनों में व्यक्तिपूजा की भरमार है। "अतएव हिन्दी में यह स्वाभाविक ही है कि छायावाद और प्रगतिवाद की नायकपूजा का स्थान एक वैज्ञानिक मानववाद ले ले।" हैं निकम्मे दोनों। कुंठा के बदले नायकों का (नायिकाओं का भी नहीं!) चित्रण करते हैं। हिन्दी में "आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त स्वीकार और आत्मसात कर लिया गया है।" यह वैज्ञानिक सिद्धान्त जो भी हो, उसकी स्वीकृति का अर्थ है व्यक्तित्व की खोज! और खोज का फल है कुंठा! जहाँ तक प्रगतिशील लेखकों का सम्बन्ध है, "प्रगतिवादी पक्ष के अनेक लेखकों ने मानवजाति के अपमान और उत्पीड़न के जो लोमहर्षक वर्णन किये उनमें मूलतः उसी प्रकार की अस्वस्थ मनोवैज्ञानिक भावना का पर्याप्त अंश था जो कि पश्चिम के उत्तरकालीन रोमांटिकवादी (डिकेडेंट) में लक्षित होता था।"

इस प्रकार स० ही० वात्स्यायनजी ने न तो राष्ट्रीय चेतना की भूमिका को स्वीकार किया है, न समाजवादी विचारधारा के प्रभाव को। अपने "लोमहर्षक" निबन्ध में उन्होंने अस्वस्थ मनोवैज्ञानिक भावना की ओर संकेत करके एक महान् चमत्कार अवश्य उत्पन्न किया है। मानो अस्वस्थ मनोवैज्ञानिक भावनाओं के लिये अज्ञेय-साहित्य के घेरे से बाहर जाना भी आवश्यक हो! इसके बाद उनका एक बहुत सुन्दर वाक्य है—पता नहीं अंग्रेजी से उन्होंने स्वयं अनुवाद किया है या किसी दूसरे ने—इस प्रकार : "मार्क्सवाद की क्रमशः लंबी होती हुई जो छाया पश्चिमी रोमांटिकवाद पर पड़ी थी, और जिसके कारण (उदाहरणतया) वर्ड्सवर्थ और शेली, बायरन और स्विनबर्न सभी के रोमांटिक होते हुए भी प्रथम दोनों और अन्तिम दोनों में एक मौलिक अन्तर आ गया था, उसका या उसी ढंग का प्रभाव हिन्दी में भी लक्षित हुआ।"

मार्क्सवाद की छाया पश्चिमी रोमांटिकवाद पर पड़ी। इन रोमांटिक कवियों में पहला जोड़ा वर्ड्सवर्थ और शेली का, दूसरा जोड़ा बायरन और स्विनबर्न का। दोनों में मौलिक अन्तर है। कारण? मार्क्सवाद की लंबी होती

हुई छाया ! शायद यह छाया वर्ड्सवर्थ के समय छोटी थी, बायरन के समय तक लंबी हो गई। जिस समय मार्क्स का जन्म हुआ था (१८१८), उस समय तक अपने कवि-जीवन का श्रेष्ठ भाग बिताकर कविवर वर्ड्सवर्थ ४८ वर्ष के हो चुके थे। जिस समय शेली की मृत्यु हुई (१८२२), उस समय मार्क्स केवल चार वर्ष के थे और जब लार्ड बायरन स्वर्ग सिधारे (१८२४), उस समय मार्क्स चार से बढ़कर छह वर्ष के ही हुए थे। लेकिन प्रतिभाशाली पुरुष थे; उस उम्र में भी अंग्रेजी कवियों को प्रभावित कर डाला हो तो क्या आश्चर्य !

मार्क्स ने तीस वर्ष की अवस्था में एङ्गेल्स के साथ १८४८ में अपनी ऐतिहासिक पुस्तक "कम्युनिस्ट घोषणापत्र" प्रकाशित की थी। उसमें उन्होंने यूरोप के उन दकियानूसी राजनीतिज्ञों का जिक्र किया था जिन्हें कम्युनिज्म का भूत सताता था। सम्भ्रान्तियुग के कलाकार श्री स० ही० वात्स्यायन "अज्ञेय" इस भूत से आज भारतभूमि में बुरी तरह पीड़ित हैं। इसीलिये उन्हें इंगलैण्ड के रोमांटिक कवि भी मार्क्सवाद की लंबी छाया की लपेट में आते दिखाई देते हैं। फिर हिन्दी में प्रगतिवाद "एक कट्टर सिद्धान्तवादी कम्युनिस्ट आन्दोलन" बन गया हो, तो आश्चर्य क्या !

"आज का भारतीय साहित्य" में पहली बार इतने बड़े पैमाने पर आधुनिक भारतीय साहित्य का विहंगावलोकन किया गया है। यह विहंगावलोकन काफी शिक्षाप्रद है। दरबारों की नायिकाभेदी-चमत्कारवादी परंपरा अब नष्ट हो गई है। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के साथ आगे बढ़ने वाले हमारे महान् साहित्यकारों ने भारत की विभिन्न भाषाओं में व्यापक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। उसी परंपरा को जनता के हित में विकसित करने वाली प्रगतिशील विचारधारा भी अखिल भारतीय पैमाने पर दृढ़मूल हो चुकी है। आन्दोलन के असंगठित होने पर भी युग की माँग के अनुसार समाजवादी उद्देश्य से अनुप्राणित साहित्य तेजी से बढ़ रहा है। "आज का भारतीय साहित्य" में एकाध लेख विशेष मनोरंजक हैं। उनमें भारतीय साहित्य ही नहीं, विदेशी साहित्य के बारे में भी अभिनव तथ्य उद्घाटित किये गये हैं। इस मनोरंजक अनुसन्धान का कारण भारतीय राष्ट्रीयता से

पराङ्मुख होना है, काँग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम के झंडे की सिकुड़ती हुई छाया में हिन्दी साहित्य के प्रकाश को समेटने का विफल प्रयास है। इस पुस्तक को पढ़कर भारतीय राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की शक्ति में हमारी आस्था दृढ़ होती है और यह पता चल जाता है कि साहित्य की प्रमुख जन-हितैषी धारा का विरोध करने वाले सज्जन कितने एकाकी हैं। उनके व्यक्तित्व की खोज का यथार्थ जीवन से अब कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

आस्था : फाँसी के तख्ते के साये में

प्रसिद्ध पत्रकार और सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने उद्योग से क्रान्तिकारियों और शहीदों के सम्बन्ध में काफी सामग्री प्रकाशित कराई है। बालमुकुन्द गुप्त की ग्रंथावली और संस्मरणों से लेकर स्वामी केशवानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ तक उन्होंने हिन्दी साहित्य और भारतीय राजनीति से सम्बन्धित सामग्री के सम्पादन और प्रकाशन के लिये जो परिश्रम किया है, वह उनके "विशाल भारत" के सम्पादन कार्य से कम गौरवशाली नहीं है। उनके समय में "विशाल भारत" एक उत्कृष्ट पत्र था और द्विवेदी जी की "सरस्वती" प्रेमचन्द और स्व० कृष्णबिहारी मिश्र की "माधुरी" और निराला की "सुधा" (यानी जब निरालाजी उसके संपादकीय विभाग में काम करते थे, यद्यपि उस पर सम्पादक रूप में उनका नाम न जाता था) के बाद "विशाल भारत" का ही नाम आता था। फिर भी साहित्य, विशेष रूप से काव्य, से कुछ अरुचि होने के कारण चतुर्वेदी जी कुछ भ्रामक प्रचार के निमित्त बने, यद्यपि उनका आशय स्वच्छ था और अपने कार्य के परिणाम को समझने में उनकी बुद्धि असमर्थ थी। राजनीति में भी वे सिद्धान्त रूप से अराजकतावादी थे किंतु व्यवहार में इस गलत दर्शन से सदा बचते थे और बचते-बचते कभी-कभी अराजकतावाद को भी छू आते थे।

किन्तु साठ वर्ष के बाद उनकी कर्मठता देखकर हम दंग रह जाते हैं। वह पहले से अधिक उदार, संयत, स्पष्टवादी, निर्भीक और कर्मठ बन गये हैं। उन्हें सहज प्रसन्न मुद्रा में देखकर मन को स्फूर्ति मिलती है और ईश्वर से यह प्रार्थना करने की इच्छा होती है कि ऐसा ही बुढ़ापा सब को दे। कहने का तात्पर्य यह कि प्रौढ़ावस्था में कुछ विकार रहे भी हों तो शहीद-संस्मरण-साहित्य की भागीरथी में स्नान करके अब वे एकदम निर्विकार और स्वच्छ रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं और उनके इस रूप को हम प्रणाम करते हैं।

चतुर्वेदी जी को एक भय अक्सर सताया करता है जिसे वे जब तब बातचीत और पत्रों में ही नहीं, सार्वजनिक भाषणों में भी प्रकट कर देते है। भय यह है कि साम्यवादी शासन स्थापित होने पर उन्हें जेल न भेज दिया जाय। साम्यवादी शासन स्थापित होगा—इस बात पर उन्हें साम्य-वादियों से भी अधिक आस्था है। इसीलिये रह-रह कर जेल का भय सताता है। वैसे चौबेजी को अराजकतावाद के लिये जेल न भेजा जाय तो भी इस-लिये उन्हें अवश्य जेल भेजना चाहिये कि उन्होंने जिन साहित्यकारों की जीवनी और पत्र प्रकाशित करने के वादे किये थे, वे पूरे नहीं किये और शायद जेल में ही उन्हें बातें कम और काम ज्यादा करने की फुर्सत मिल सकेगी। जो भी हो, इस कार्य के लिये—जेल के अन्दर या बाहर—उन्हें यदि एक सेवक की आवश्यकता हो तो इन पंक्तियों का लेखक हाज़िर है।

शहीद-संस्मरण-साहित्य में यहाँ उल्लेखनीय "विशाल भारत" का शहीद अङ्क (मई १९५६) है। इसके सम्पादक श्रीराम शर्मा जी हैं किन्तु इस अङ्क के प्रकाशन में चतुर्वेदी जी का भी हाथ रहा है। उसमें उनके लेख भी हैं। इसके बाद स्वामो केशवानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ है जिसके वह प्रधान संपा-दक हैं। इसका मूल्य पन्द्रह रुपये है और प्राप्ति-स्थान ग्रामोत्थान विद्यापीठ, संगरिया, राजस्थान है। इसमें केशवानन्दजी से सम्बन्धित सामग्री के अलावा क्रान्तिकारियों की जीवनियाँ, संस्मरण आदि भी हैं। तीसरी महत्त्वपूर्ण कृति अमर शहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' की आत्मकथा है। इसके सम्पादक भी चतुर्वेदी जी हैं; प्रकाशक हैं आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। यह पुस्तक पहले भी छप चुकी थी किन्तु उसका पुनर्मुद्रण आवश्यक था। इस संस्करण में "हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ आत्मकथा" पर चतुर्वेदीजी का सम्पादकीय वक्तव्य है। श्री भगवानदास माहौर लिखित भूमिका है; अन्त में मन्मथनाथ गुप्त का एक वक्तव्य और बिस्मिल की माता जी से सम्बन्धित श्री शिववर्मा का संस्मरणात्मक "मेरी डायरी का एक पृष्ठ" है।

इन सब में "विशाल भारत" का "शहीद अङ्क" अपेक्षाकृत कमजोर है। सामग्री बिखरी हुई है; उसमें वह आन्तरिक एकता नहीं है जो चाँद के फाँसी-अङ्क में थी। इसका एक कारण है। शहीदों के संस्मरण सजीव और

प्रेरणादायक ढंग से तभी लिखे जा सकते हैं जब लेखक के सामने उनकी शहादत का ऐतिहासिक महत्व साफ हो और भविष्य का रास्ता भी साफ-साफ दिखाई देता हो। इसके अभाव में जीवनी-लेखन या संस्मरण श्रद्धांजलि अधिक बन जाते हैं, सजीव इतिहास कम रहते हैं। सामग्री-चयन में १८५७ के शहीदों की चर्चा बहुत ही कम है। अंग्रेजों के शासनकाल में शहादत पाने वाले कय्यूर के साम्यवादी वीरों और स्वाधीन भारत में शहीद होने वाले अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं का उल्लेख नहीं है। इससे देश के राजनीतिक इतिहास का सही चित्र सामने नहीं आता। फिर भी विशाल-भारत के इस अङ्क में जो सामग्री सुलभ कर दी गई है, हिन्दी पाठक उसके लिये कृतज्ञ होंगे, उसे पढ़कर उन्हें देश के इतिहास पर ही नहीं, वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति और साहित्य पर भी बहुत कुछ सोचने-समझने की प्रेरणा मिलेगी।

शहीद अङ्क में उल्लेखनीय देशवासियों के नाम अश्फाकउल्ला का अन्तिम पत्र है। जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

स्वामी केशवानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ के "स्वाधीनता खंड" में स्वाधीनता-आन्दोलन का अधिक विस्तृत और संतुलित चित्र मिलता है। इसमें सन् सत्तावन के स्वाधीनता संग्राम को उचित महत्व दिया गया है। बीसवीं सदी में देश की स्वाधीनता के लिये अनेक दलों और विचारधाराओं के लोगों ने प्रयत्न किया। इस पुस्तक में ठीक ही लिखा है : "भारत की अंग्रेज सरकार को अपने सामने अब खतरे दिखाई देने लगे। आतङ्कवादियों द्वारा सशस्त्र विप्लव की झलक तो उसके सामने साँडर्स हत्याकांड से आ ही गई थी। उधर कम्युनिस्टों ने भी खुला संगठन खड़ा कर लिया और इधर कांग्रेस ने आन्दोलन की धमकी दे दी। अपने बचाव के लिये सरकारें चाहे वे मृत्यु के निकट ही क्यों न हों—जो करती आ रही हैं वही भारत की अंग्रेज सरकार ने भी किया। २० मार्च सन् १९२९ को सरकार ने श्री डांगे, शौकत उस्मानी, मुजफ्फर अहमद आदि कम्यूनिस्टों को बम्बई और बंगाल की मजदूर हड़तालों में भाग लेने के अपराध में गिरफ्तार करा लिया।" अंग्रेजों का दाँव यह था कि मज़दूर, आन्दोलन के नेताओं को पकड़ कर जेल में डाल दिया जाय।

उसके बाद वह सत्याग्रह-आन्दोलन को सुविधा से कुचल सकेगी। भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त ने असेम्बली में जो बम फेका था, वह इसी दमन के विरुद्ध था। केशवानन्द-स्मारक ग्रंथ के लेखक के शब्दों में, "इसके बाद मज़दूर-आन्दोलन को दबाने के लिये ट्रेड डिस्प्यूट बिल और सत्याग्रह तथा आतंकवाद को कुचलने के लिये पब्लिक सेफ्टी बिल नाम के दो बिल सरकार ने केन्द्रीय असेम्बली में पेश किये। इन बिलों के समाचार से सारे ही देश में बेचैनी की एक लहर फैल गई। सभी ओर से इन्हें वापस लेने की आवाजें आईं। किन्तु सरकार ने जनता की भावनाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया। ट्रेड डिस्प्यूट बिल पास हो गया। पब्लिक सेफ्टी बिल पर बहस समाप्त हो चुकी थी। असेम्बली के अध्यक्ष श्री विट्ठलभाई पटेल अपनी रूलिंग देने वाले थे कि जोर का धमाका हुआ और असेम्बली भवन धुआँ से भर गया।"

असेम्बली में बम फेंकने का उद्देश्य किसी को मारना नहीं था; उसका उद्देश्य था अंग्रेज सरकार के दमन के विरुद्ध जनता के रोष को प्रकट करना। यह दमन भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारियों, डाँगे जैसे मजदूर नेताओं और काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं—सभी को कुचलने के लिए था। भगतसिंह के कार्य का प्रभाव देश की समग्र राजनीति पर पड़ा। "उनके इन दुस्साहसिक कार्य ने जागृति की और मर मिटने की भारत के नौजवानों में जो लहर पैदा की वह शब्दों में साकार नहीं की जा सकती।" उनके बयान से पता चलता है कि जहाँ एक ओर क्रान्तिकारी अंग्रेजी शासन को खत्म करना चाहते थे, वहाँ वे स्वाधीन भारत का निर्माण भी एक नए ढंग से करना चाहते थे जिसमें पूँजीवादी और सामन्ती शोषण खत्म हो गया हो। इस बयान में उन्होंने अंग्रेजी राज के हिंसक रूप की व्याख्या करते हुए कहा था, "यह लोक नेताओं की बातों को, भारतीय जनता की माँगों की शैतानियत के साथ अवहेलना करती है। श्रमिकों और भूखे नंगों के साथ इसकी कोई सहानुभूति नहीं है। भावनाओं को व्यक्त करने वालों का गला घोंटने में इसे हिचक नहीं, तब हमने निश्चय किया कि देश में से इस सरकार को समाप्त किया जाये और एक ऐसी सरकार की स्थापना की जाय जो शोषण पर आधारित न हो, जिसमें सबको ऊँचा उठने का समान अवसर मिले। इसके लिये विप्लव की अथवा क्रांति की आव-

श्यकता को हमने महसूस किया।" जनतन्त्र दो तरह के होते हैं, एक पूँजीवादी, दूसरा समाजवादी। पूँजीवादी जनतन्त्र में कागजी अधिकार सारी जनता को प्राप्त होते हैं। किन्तु पूँजी और उत्पादन तथा वितरण के साधन सम्पत्तिशाली वर्ग के हाथ में ही रहते हैं। इसके विपरीत समाजवादी जनतन्त्र में सत्ता श्रमिकजनों के हाथ में रहती है, पूँजीवादी और सामन्ती शोषण का खात्मा कर दिया जाता है। ऐसे शोषणहीन समाज में ही सबको ऊँचे उठने का समान अवसर मिल सकता है। स्वाधीन भारत में ऐसे ही शोषणहीन समाज का निर्माण हो, इसी आदर्श के लिये "हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी" के नेता भगतसिंह और उनके अन्य साथी शहीद हुए थे।

ग्रन्थ के "यश की धरोहर" नामक अंश में, जो अलग से भी प्रकाशित हुआ है, श्री भगवानदास माहौर ने शहीद राजगुरु, भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद के जो संस्मरण लिखे हैं, उनका शहीद-साहित्य में अन्यतम स्थान है। ये संस्मरण राजनीति-चर्चा या पत्रकारिता के साधारण स्तर से बहुत ऊँचे हैं। इनमें एक कलात्मक सौन्दर्य है जो उन्हें ललित साहित्य की श्रेणी में रखता है। हिन्दी भाषा में राजनीतिक या अराजनीतिक व्यक्तियों के ऐसे सजीव और मर्मस्पर्शी संस्मरण अभी तक नहीं लिखे गये। क्रांतिकारियों ने भी जो संस्मरण लिखे हैं, उनमें या तो वे आत्मकेन्द्रित हो गये हैं और आजाद या भगतसिंह से ज्यादा अपना प्रचार करने लगे हैं या ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुए भी उनके संस्मरण साहित्यिक महत्व के नहीं हो पाये। माहौरजी के लेखों का गुण यह है कि वे अपने को पृष्ठभूमि में रखते हैं और सारी शक्ति संस्मरणीय व्यक्ति का चित्र आँकने में ही खर्च करते हैं। अपने को सामने लाते भी हैं तो वैषम्य दिखा कर चरित नायक के रूप और गुण को उभारने के लिए। जैसे भगतसिंह ने इनकी शक्ल देखकर—घनी भौंहें और छोटी नाक के कारण—इन्हें डारविन की "मिसिंग लिंक" अर्थात् इन्सान और बनमानुस के बीच की कड़ी कहा था। एक बार जब माहौर जी गाना सुनाने लगे तो भगतसिंह पीठ फेर कर लेट गए और आपत्ति करने पर उन्होंने जवाब दिया, 'यदि आपका गाना सुनने के साथ आपकी शक्ल मुबारक भी देखना पड़े तो ऐसा गाना मैंने छोड़ा।"

माहौरजी के संस्मरणों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी यथार्थवादी शैली है। वे अपने भूतपूर्व साथियों का चित्रण अतिमानव के रूप में नहीं करते। उन्होंने इस ढंग से संस्मरण लिखे हैं कि श्रद्धा, प्रेम और उत्साह के साथ पाठक के मन में यह भाव भी उत्पन्न होता है कि ये वीर शहीद भारत की साधारण जनता से उत्पन्न हुए थे, उनके गुण देश की जनता के गुणों के ही उदात्त रूप थे। भगतसिंह, राजगुरु और आजाद के रेखाचित्र पढ़कर उनका बहुत ही सजीव रूप हमारे सामने आता है। खान-पान, रहन-सहन, हँसी-मज़ाक, आर्थिक कठिनाइयों से संघर्ष, मानसिक द्वन्द्व, जिन्दादिली, छेड़छाड़, संकट में धैर्य और प्रत्युत्पन्नमति यह सब छोटी-छोटी घटनाओं के चयन और चित्रण से आँखों के सामने साकार हो उठता है।

शहीद राजगुरु को खड़े-खड़े सोने में कैसी महारत थी (पड़े-पड़े सोने की तो बात ही क्या!), खाना पकाते समय कैसे उन्होंने अपनी परीक्षा लेने के लिये जलती हुई संड़सी को तीन जगह छाती पर लगा लिया, मजदूर वेश धारण करने पर किस तरह रेल में वह शिवाजी और छापेमार युद्ध की बातें करने लगे और आजाद से डाट खाई, सांडर्स को मारने के बाद भी कैसे एक क्षण के लिये उनके मन में ग्लानि हुई और उनका कोमल हृदय कह उठा, "भाई, बड़ा सुन्दर नौजवान था; उसके घर वालों को कैसा लग रहा होगा!" भगतसिंह के साथ नौकर की भूमिका अदा करने में उन्होंने किस तरह भूलें की—यह सब इतना मानवीय है, इतना रोचक है कि हजार श्रद्धाञ्जलियों की अपेक्षा इस एक रेखाचित्र से पाठक के मन में राजगुरु के प्रति अटूट श्रद्धा और अगाध आत्मीयता उत्पन्न हो जाती है। माहौरजी ने संस्मरण बहुत ही संयत शैली में लिखा है लेकिन शायद ही कोई पाठक ऐसा हो जिसकी आँखें उसे पढ़ते हुए भीग न जायँ।

भगतसिंह के बारे में लिखते हुए उन्होंने आजाद और भगतसिंह सम्बन्धी अनेक मनोरंजक घटनाओं का उल्लेख किया है। इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि देश के राजनीतिक जीवन में भगतसिंह का ऐतिहासिक महत्व यहाँ खूब उभर कर आया है। "भगतसिंह के ही माध्यम से भारत माता की जय और वन्दे मातरम् मन्त्रों के स्थान में भारतीय गुप्त सशस्त्र

क्रान्ति प्रयास ने क्रान्ति चिरंजीवी हो, इन्कलाब जिन्दाबाद, साम्राज्यवाद का नाश हो आदि नारे लगाए और जहाँ क्रांतिकारी लोग पुलिस की यंत्रणाओं और मृत्यु के भय से मुक्त होने के लिये शरीर की नश्वरता और आत्मा के नित्यत्व का निदिध्यासन, पद्मासन लगाए गीता का पाठ करते हुए नजर आते थे, वहाँ वे अब मार्क्स के केपीटल का स्वाध्याय करते नजर आये।" समाजवादी विचारधारा के प्रभाव से ही काकोरी युग के क्रांतिकारी संगठन "दि हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन" की जगह भगतसिंह और आजाद ने "दि हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी" नाम से उसी संगठन को आगे बढ़ाया।

चंद्रशेखर आजाद का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था। उनकी राजनीतिक सूझबूझ, साथियों के प्रति उनका उत्कट प्रेम, उनकी संगठन और नेतृत्व की क्षमता, हर सङ्कट के समय उनकी अविचल सहज बुद्धि का चमत्कार, माहौरजी की माता से उनका स्नेहमय पुत्रवत् व्यवहार, उनका अदम्य शौर्य और प्रखर साम्राज्यविरोधी चेतना—ये सब ऐसे अक्षय गुण हैं जिनसे समाजवादी नेता युगों तक शिक्षा और प्रेरणा पा सकते हैं। भगवान-दास जी के रेखाचित्र के बाद श्री सदाशिवराव मलकापुरकर ने चंद्रशेखर आज़ाद और उनकी माता के अन्तिम मिलन की जो कहानी लिखी है, वह अपने करुण रस में अपूर्व है। आज़ाद माँ से मिले, कई दिन रहे, सदाशिव-रावजी के साथ माँ का पकाया भोजन किया, एक दिन पुलिस का सन्देह होने पर रात को जंगल के पास एक टूटी हुई मड़िया में विश्राम किया। सदाशिवराव पिस्तौल पर हाथ रखे जागते रहे लेकिन आज़ाद निश्चिंत होकर सो गये। सड़क पर मोटरों का प्रकाश देखकर सदाशिवरावजी ने आज़ाद को जगाया तो उन्होंने कहा, "देखा जायगा। रात में कोई यहाँ आने का नहीं, सुबह देखा जायगा।" यह कहने के बाद "हज़रत फिर खुर्राटे भरने लगे।"

दूसरे दिन आजाद माँ से मिले बिना ही वहाँ से चल दिये। सदाशिव-रावजी ने लिखा है, "माताजी हमारे लिये खाना बनाये रक्खे रहीं और हमारी प्रतीक्षा करती रहीं! मुझे नहीं मालूम, आज़ाद को फिर कभी अम्मा

के हाथ का बनाया खाना नसीब भी हुआ कि नहीं और आज़ाद के लिये अम्मा की यही प्रतीक्षा क्या चिर प्रतीक्षा रही ? २१ वर्ष के बाद मुझे तो फिर उसी कुटिया में माताजी की स्नेहसिक्त रोटियाँ मिलीं। और इसे सौभाग्य कहूँ कि दुर्भाग्य कि माता जी की अन्तिम पिंडोदक क्रिया भी मेरे हाथों से ही सम्पन्न हुई।"

देश की स्वाधीनता के लिए कितना कष्ट नहीं सहा है इन वीर शहीदों ने। और क्या उनकी शहादत से कम महत्व है उनकी वीर माताओं के त्याग और बलिदान का जिनका जीवन—जब तक पुत्र जिये—चिंता और संघर्ष का जीवन रहा और जब पुत्र नहीं रहे, तब जिनका शोक किसी भी मृत्युशोक से बढ़ कर था ? ये सब बलिदान, यह सब त्याग, यह दारुण व्यथा और कष्ट देश की जनता को सुखी और स्वाधीन देखने के लिए ही सहे गये थे। क्रांतिकारियों से सम्बन्धित उस साहित्य का सबसे बड़ा मूल्य यह है कि हम उनके आदर्शों को भूलें नहीं, यह न भूलें कि देश से निर्धनता और शोषण अभी मिटा नहीं है; हम शहीदों और उनकी माताओं के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि तभी अर्पित करेंगे जब हम शोषण और गरीबी को मिटाकर नये समाजवादी भारत का निर्माण करेंगे।

श्री शिव वर्मा ने शहीद बिस्मिल की माता जी से मुलाकात का हाल लिखा है। गोरखपुर जेल में उन्हीं के साथ वह बिस्मिल से मिलने गए थे। याद आने पर "उनके ज्योतिहीन नेत्रों में पानी भर आया।" बिस्मिल की शहादत के बाद पुलिस के डर के मारे लोगों ने उनके घर आना छोड़ दिया था। उनका दूसरा लड़का—बिस्मिल का भाई—रमेश बीमार हो गया। "दवा इलाज के अभाव में बीमारी जड़ पकड़ती गई। घर का सब कुछ बिक जाने पर भी रमेश का इलाज न हो पाया। पथ्य और उपचार के अभाव में तपेदिक के शिकार बनकर एक दिन वह माँ को निपूती छोड़ कर चला गया। पिता को कोरी हमदर्दी दिखाने वालों से चिढ़ हो गई। वे बेहद चिड़चिड़े हो गये। घर का सब कुछ तो बिक ही चुका था। अस्तु, फ़ाकों से तंग आकर एक दिन वे भी चले गये, माँ को संसार में अनाथ और अकेली छोड़ कर !"

सचमुच इस माता का कष्ट बिस्मिल की शहादत से किसी तरह कम

महत्वपूर्ण न था। अन्तिम समय जब वह पुत्र से मिलने जेल गईं तब बिस्मिल उन्हें देखकर रोने लगे। माता ने कहा—"मैं तो समझती थी कि मेरा बेटा बहादुर है, जिसके नाम से अँग्रेजी सरकार भी काँपती है। मुझे नहीं पता था कि वह मौत से डरता है। तुम्हें यदि रोकर ही मरना था तो व्यर्थ इस काम में आये।'

इस साहस का जवाब नहीं। सामन्ती वीरता की वे तमाम कहानियाँ, जिन पर कवियों ने जमीन-आसमान एक कर दिया, इस शूरता के सामने हेच साबित होती हैं। यह माँ इसलिए महान् नहीं हैं कि वह शहीद रामप्रसाद बिस्मिल की माँ हैं वरन् बिस्मिल महान् हैं, इसलिये कि वे ऐसी माँ के बेटे हैं।

और बिस्मिल मौत के डर से न रोये थे। शायद वे माँ का भविष्य देख रहे थे। अपने क्रांतिकारी जीवन में उन्हें मानव-जीवन का काफी कटु अनुभव हुआ था।

गोरखपुर जेल में फाँसी पर झूलने के तीन दिन पहले उन्होंने यह आत्म-कथा लिखी थी। चम्बल नदी के किनारे उनके पितामह का जीवन, दुर्भिक्ष का प्रकोप, उनकी दादी का अनाज पीस कर पेट पालना, पिता का कचहरी में स्टाम्प बेचना, बचपन की पढ़ाई, आर्य कुमार सभा का काम, स्वामी सोमदेव से सम्पर्क, लोकमान्य का स्वागत, पं० गेंदालाल दीक्षित का रेखा-चित्र, फिर क्रांतिकारी जीवन का विश्लेषण—यह सब उन्होंने इतने तटस्थ और संयत ढंग से लिखा है मानों उन्होंने मृत्यु को जीत लिया हो। एक जगह उन्होंने अपने गुरु स्वामी सोमदेव के बारे में लिखा है कि जब उन्होंने योग की कुछ क्रियाएँ बताने की इच्छा की, तब वह (सोमदेवजी) इतने कमजोर हो गये थे कि ज़रा-सा परिश्रम करने पर बेहोश हो जाते थे। भले ही उन्होंने हठयोग की क्रियाएँ न सीखी हों लेकिन जहाँ तक चित्तवृत्तियों के निरोध का सम्बन्ध है, बिस्मिल की आत्मकथा पर सौ योगियों की समाधि निछावर है।

समूची आत्मकथा में उनका ध्यान अपने से अधिक दूसरों पर केन्द्रित है। देशवासी क्या करें जिससे उन्हें स्वाधीनता प्राप्त हो, सारा विवेचन इसी

समस्या को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया गया है। इस आत्मकथा में भारतीय जीवन या अपने परिवार को उन्होंने मोहक रंगों से सजा कर पेश नहीं किया। उनका समूचा विवरण और खुद अपने जीवन का संघर्ष इस बात की ओर संकेत करता है कि विदेशी साम्राज्यवाद के अलावा हमारा एक शत्रु और है। वह है हमारा रूढ़िवाद, हमारे अन्धविश्वास, हमारे कुसंस्कार। जब उनका जन्म हुआ तब गंडे, तावीज़ और कवचों से उनकी शरीर-रक्षा का प्रयत्न किया गया। पिता को चरस पीने की आदत पड़ गई थी। बहुत दिनों बाद बिस्मिल के समझाने पर उन्होंने चरस पीना छोड़ा। जिस कुल में उन्होंने जन्म लिया था, उसमें कन्याएँ जन्मते ही मार डाली जाती थीं। "माता जी ने इसका विरोध किया और कन्याओं की रक्षा की। मेरे कुल में यह पहला ही समय था कि कन्याओं का पोषण हुआ।" भारतीय संस्कृति में जहाँ वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन, एलोरा, अजन्ता आदि हैं, वहाँ व्यवहार-क्षेत्र में इस तरह के जघन्य कुसंस्कार भी हैं जिन्हें हम भुला नहीं सकते। बिस्मिल की माता जी क्रान्तिकारी थीं जो उन्होंने इस कन्या-वध का सफलतापूर्वक विरोध किया। यही नहीं, "माताजी के प्रयत्नों से तीनों बहनों को अच्छी शिक्षा दी गई।" इसके सिवा माताजी ने खुद भी पढ़ने का अभ्यास किया था।

बचपन में बिस्मिल ने पिता से बहुत मार खाई थी। एक बार "उन्होंने मुझे बन्दूक के लोहे के गज से इतना पीटा कि गज टेढ़ा पड़ गया।" जब वह आर्यसमाजी हुए तब पिता ने कहा, "आर्य समाज से त्याग पत्र न दोगे तो मैं रात में सोते समय मार दूँगा। सिद्धान्तवादी बिस्मिल ने घर छोड़ दिया। उनके पिता जो लोहे के गज से भी सख्त थे, झुके। बिस्मिल फिर घर आये। आर्य कुमार सभा में वह काम करते रहे लेकिन यहाँ भी उन्हें दूसरे प्रकार के संघर्ष का सामना करना पड़ा। "आर्यसमाज के सदस्यों ने कुमार-सभा के प्रयत्न को देखकर उस पर अपना शासन जमाना चाहा, किन्तु कुमार किसी का अनुचित शासन कब मानने वाले थे। आर्य समाज के मन्दिर में ताला डाल दिया गया कि कुमार सभा वाले आर्यसमाज मन्दिर में अधिवेशन न करें।" उन्होंने शाहजहाँपुर की सेवा-समिति में काम किया। पिता डाटते थे; माता प्रोत्साहन देती थीं। लखनऊ में जब नरमदली नेताओं ने लोक-

मान्य तिलक का जलूस निकालने से इन्कार किया, तब वह एक अन्य विद्यार्थी के साथ मोटर के सामने लेट गये। अन्त में जलूस निकाला गया और लोगों ने हाथ से उनकी गाड़ी खींची।

बिस्मिल ने खेती की। किसानों में रहे। जुलाहों से उन्होंने कपड़ा बुनना भी सीखा। इस प्रकार उन्हें देश की गरीब जनता के जीवन का अध्ययन करने का काफी मौका मिला। "कैथेराइन", "स्वदेशी रंग" आदि पुस्तकें लिखने के अलावा उन्होंने पत्रिकाओं में "राम" और "अज्ञात" नाम से लेख लिखकर जनता में राजनीतिक प्रचार किया। क्रान्तिकारी जीवन में उन्हें सदा कार्यकर्त्ताओं की कठिनाइयों का ध्यान रहता था। नवयुवकों की भावुकता और नेतागिरी की इच्छा रखने वाले लोगों की उन्होंने कड़ी आलोचना की है। जब वह पकड़े गये तब पुलिस ने सुझाया कि "यदि मैं बंगाल का सम्बन्ध बताकर कुछ बोलशेविक सम्बन्ध के विषय में अपना बयान दे दूँ" तो उनकी सजा कम हो जायगी, उन्हें इंगलैंड भेज दिया जायगा और पन्द्रह हज़ार रुपये पारितोषिक के दिये जायँगे। अँग्रेज सरकार इस तरह हिन्दुस्तान में रूस के एजेण्ट तलाश करती थी!

पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण अंश उसका अन्तिम भाग है जिसमें उन्होंने क्रान्तिकारियों की राजनीति की आलोचना की है और भविष्य के लिये कार्य-क्रम बनाया है। अपने उदात्त देश-प्रेम के कारण उन्होंने वीरपूजा के लिए अपनी आदर्श मूर्ति नहीं गढ़ी। उन्होंने तीव्र आत्मनिरीक्षण द्वारा पिछले जीवन की आलोचना की और जिस मार्ग पर वह स्वयं चले थे, उसे गलत कहते हुए जनता के संगठन द्वारा क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने का सही मार्ग देश के सामने रखा। उन्होंने सबसे पहले कार्यकर्ताओं का ऐसा संगठन बनाने पर जोर दिया जो हर तरह की कठिनाइयों में अटूट बना रहे। "राज-नैतिक क्रान्ति के लिए सर्वप्रथम क्रान्तिकारियों का संगठन ऐसा होना चाहिए कि अनेक विघ्न तथा बाधाओं के उपस्थित होने पर भी संगठन में किसी प्रकार त्रुटि न आये।" इस तरह की पार्टी के बिना कोई भी क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। जो बात लेनिन ने कुछ वर्ष पहले कही थी, उसी को रामप्रसाद बिस्मिल ने अपने अनुभव से सम्भवतः मार्क्स को पढ़े बिना सीखा था। दूसरी

बात उन्होंने यह सीखी कि क्रान्ति के लिये जनता को शिक्षित करना आवश्यक है। "देशवासी इतने शिक्षित हों कि वे वर्तमान सरकार की नीति को समझ कर अपने हानि-लाभ को जानने में समर्थ हो सकें।" दूसरे शब्दों में क्रान्ति की वास्तविक शक्ति जनता है; क्रान्तिकारी उसका नेतृत्व भर कर सकते हैं। इस तरह के नेतृत्व के लिये क्रन्तिकारियों और जनता में दृढ़ सम्पर्क होना चाहिये। "क्रान्तिकारी दल क्या है? वह क्या करना चाहता है? क्यों करना चाहता है? इन सारी बातों को जनता की अधिक संख्या समझ सके, क्रान्तिकारियों के साथ जनता की पूर्ण सहानुभूति हो, तब कहीं क्रान्तिकारी दल को देश में पैर रखने का स्थान मिल सकता है।"

बिस्मिल ने राज्यसत्ता के वर्ग-आधार का सही विश्लेषण किया। उनके लिये सरकार वर्गों के परे न्याय की संरक्षक न थी। "प्रत्येक सरकार के सहायक अमीर और जमींदार होते हैं।" राज्यसत्ता अमीरों द्वारा गरीबों पर हुकूमत करने का साधन है। जनता की क्रांतिकारी पार्टी के अभाव में क्रान्ति हो जाने पर भी उसका फल धनीवर्ग को ही मिलता है। उनके सामने स्पष्ट था कि यूरोप और अमरीका में जिस प्रजातन्त्र का ढोल पीटा जाता है, उसमें सत्ता दरअसल अमीरों के हाथ में ही है। उन्होंने लिखा, "यदि फ्रांस तथा अमेरिका की भाँति क्रान्ति द्वारा राजतन्त्र को पलट कर प्रजातन्त्र स्थापित भी कर लिया जाय तो बड़े-बड़े धनी पुरुष अपने धनबल से सब प्रकारों से अधिकारों को दबा बैठते हैं। कार्यकारिणी समितियों में बड़े-बड़े अधिकार धनियों को प्राप्त हो जाते हैं। देश के शासन में धनियों का मत ही उच्च आदर पाता है। धन-बल से देश के समाचार-पत्रों, कल कारखानों तथा खानों पर उनका ही अधिकार हो जाता है।" यह है पूँजीवादी जनतन्त्र की वास्तविकता।

जब रूस में जारशाही के विरुद्ध क्रान्ति हुई, तब वहाँ भी धनी वर्ग ने सत्ता अपने हाथ में कर ली। लेकिन वहाँ लेनिन के नेतृत्व में क्रान्तिकारियों का संगठन मौजूद था। उसने पूँजीपतियों से सत्ता छीन कर समाजवादी प्रजातन्त्र स्थापित किया। बिस्मिल ने लिखा है, "रूसी क्रान्ति के पश्चात् यही हुआ था। रूस के क्रान्तिकारी इस बात को पहले से ही जानते थे।

अतएव उन्होंने राज्यसत्ता के विरुद्ध युद्ध करके राजतन्त्र की समाप्ति की। इसके बाद जैसे ही धनी तथा बुद्धिजीवियों ने रोड़ा अटकाना चाहा कि उसी समय उनसे भी युद्ध करके उन्होंने वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना की।" इस तरह अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल ने कांग्रेस द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य घोषित किये जाने के पहले पूर्ण स्वाधीनता ही नहीं, भारत के लिये समाजवादी प्रजातन्त्र का उद्देश्य भी सामने रखा। इस प्रकार वह उस समय के राजनीतिक विचारकों में सबसे दूरदर्शी और प्रगतिशील राजनीतिक सिद्ध होते हैं।

इस आदर्श की प्राप्ति के लिये उन्होंने नवयुवकों को नया रास्ता दिखाया। उन्होंने उनसे अपील की कि वे पुराना रास्ता छोड़कर "जनता की प्रवृत्ति को देशसेवा की ओर लगाने का प्रयत्न करें, और श्रमजीवी तथा कृषकों का संगठन करके उनको जमींदारों तथा रईसों के अत्याचारों से बचायें। भारतवर्ष के रईस तथा जमींदार सरकार के पक्षपाती हैं। मध्यश्रेणी के लोग किसी न किसी प्रकार इन्हीं तीनों के आश्रित हैं।" इस तरह उन्होंने मजदूरों और किसानों की अपने वर्गहितों की लड़ाई को आजादी की लड़ाई का हिस्सा माना। यदि किसान को यह आश्वासन हो कि वह जमींदार के अत्याचार से मुक्त होगा, तो वह आज़ादी के लिये और भी तत्परता से लड़ेगा। उन्होंने "ग्रामीण संगठन करके कृषकों की दशा सुधार कर" उनके मन से भाग्य-निर्भरता हटाकर उन्हें उद्योगी बनाने पर जोर दिया। मज़दूरों के लिये उन्होंने लिखा, "कल, कारखाने, रेलवे, जहाज़ तथा खानों में जहाँ कहीं श्रमजीवी हों, उनकी दशा को सुधारने के लिये श्रमजीवियों के संघ की स्थापना की जाय, ताकि उनको अपनी अवस्था का ज्ञान हो सके और कारखानों के मालिक मनमाने अत्याचार न कर सकें।" इसके साथ उन्होंने प्रभावशाली शब्दों में अछूतों और स्त्रियों की दशा सुधारने पर जोर दिया। इस तरह उन्होंने देश के सामने एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम रखा जिसका महत्व आज भी किसी प्रकार कम नहीं हुआ है। उन्होंने कार्यकर्ताओं को वह कार्यनीति भी बताई जिससे वह किसानों को संगठित कर सकें। उन्होंने रामायण और महाभारत की कथा सुनाने का सुझाव

दिया, "कथा कहने के अवसर पर बीच-बीच में चाहे कितनी राजनीति का समावेश कर जाय।" रात्रि-पाठशालाएँ खोल कर निर्धन और अछूत जातियों के बच्चों को पढ़ायें। श्रमजीवी-संघ स्थापित करें और रात्रि पाठ-शालाएँ खोल कर उन्हें तथा उनके बच्चों को पढ़ायें। इस तरह रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा जनता में राजनीतिक प्रचार और उसे संगठित करने की नीति उन्होंने निर्धारित की जिस पर भारत के अनेक प्रदेशों में साम्यवादी कार्य-कर्त्ताओं ने अमल किया है। पूँजीवादी नेता यह कहते नहीं थकते कि साम्यवादियों में देशप्रेम नहीं है, उनकी विचारधारा का स्रोत विदेशों में है, इत्यादि। रामप्रसाद बिस्मिल की विचारधारा का स्रोत भारत की इसी धरती में था या रूस में? यदि पूँजीवादी नेता उनकी शहादत से कुछ सीख सकते हों तो पूँजीवादी शोषण को खत्म क्यों नहीं करते? यदि ये नेता वास्तव में देशभक्त हैं तो उनके राज में धनी और भी अमीर, और निर्धन और भी गरीब, क्यों बनते जाते हैं? या साम्यवादियों के विरुद्ध उनका प्रचार पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करने का एक साधन मात्र है?

रामप्रसाद ने अपना लक्ष्य स्पष्ट घोषित करते हुए लिखा था, "नव-युवकों को मेरा अंतिम सन्देश यही है कि वे रिवौल्वर या पिस्तौल को अपने पास रखने की इच्छा को त्याग कर सच्चे देशभक्त बनें। पूर्ण स्वाधीनता उनका ध्येय हो और वे वास्तविक साम्यवादी बनने का प्रयत्न करते रहें।"

रामप्रसाद बिस्मिल के शिष्य और सहयोगी अशफाकउल्ला खाँ थे। एक मुसलमान से आर्यसमाजी का प्रेम देखकर लोग चकित रह जाते थे। उनके लिये बिस्मिल ने लिखा है, "बहुधा मैंने तुमने एक थाली में भोजन किए। मेरे हृदय से यह विचार ही जाता रहा कि हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद है।"

देश के नाम अशफाकउल्ला का अन्तिम संदेश "विशाल भारत" के शहीद अङ्क में प्रकाशित है। इसमें उन्होंने हिन्दू मुसलमान सम्प्रदायवादियों की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने पूछा है, "क्या गुलाम कौम का कोई मज़हब होता है?" उन्होंने कम्युनिस्टों से विदेशी पोशाक वगैरह छोड़ कर देश की जनता में घुल मिल कर उसकी सेवा करने की अपील की है। अपने

लिये लिखा है, "मेरा दिल हमेशा गरीब किसानों के लिए और दुखिया मज-दूरों के लिए दुखी रहा है।" साम्यवाद के उद्देश्य को अपना उद्देश्य घोषित करते हुए उन्होंने लिखा, "मेरे दिल में तुम्हारी इज़्ज़त है और मैं मरते हुए भी तुम्हारे सियासी मकसद से बिल्कुल मुत्तफ़िक हूँ—मैं हिन्दुस्तान की ऐसी आजादी का ख्वाहिशमन्द था जिसमें गरीब खुश और आराम से रहते और बराबर सब होते—खुदा मेरे बाद वह दिन जल्द लायें, जब कि छतर मंज़िल लखनऊ में अब्दुल्ला मिस्त्री लोको वर्कशाप और धनिया चमार किसान भी मिस्टर खलीकुज्जमा और जगतनारायण व राजा महमूदाबाद के बराबर कुर्सी पर बैठे नज़र पड़ें।"

बिस्मिल और अशफाक ने भारत के भावी निर्माण के बारे में ये शब्द लिखे थे। इन शब्दों में वह पवित्र धरोहर है जिसकी रक्षा करना हर देश-भक्त का कर्तव्य है। पूँजी की रक्षा के लिए दमन या झूठे प्रचार द्वारा जतना के संगठन और आन्दोलन को कुचला नहीं जा सकता। जिस उद्देश्य की घोषणा करते हुए बिस्मिल, अशफाक और भगतसिंह शहीद हुए, वह उद्देश्य इस देश की धरती पर चरितार्थ होकर रहेगा।